

ग्रन्थानुक्रम



१	समर्पण	पृष्ठ ३
२	प्रकाशकीय वक्तव्य	
	(प्रथम सस्करण) (श्री जुगलकिशोर मुन्तार)	४-६
३	„ (द्वितीय सस्करण)	७
४	ग्रन्थसकेतसूची	८-१२
५	प्राक्कथन (प० वशीधरजी व्याकरणाचार्य)	१-१०
६	सम्पादकीय	११-१७
७.	„ (द्वितीय सस्करण)	१८-१९
८	प्रस्तावनागत विषयावली	२०-२२
९	प्रस्तावना	१-१०१
१०	न्यायदीपिका की विषय-सूची	१-३
११	न्यायदीपिका (मूलसटिप्पण)	१-१३२
१२	न्यायदीपिका का हिन्दी अनुवाद	१३५-२३०
१३.	परिशिष्ट	२३१-२४८
१	न्यायदीपिका में आए हुए अवतरणवाक्योंकी सूची	२३१
२	न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थों की सूची	३३२
३	न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थकारों की सूची	२३३
४.	न्यायदीपिका में आये हुए न्यायवाक्य	२६३
५.	न्यायदीपिकागत विशेष नामों तथा शब्दों की सूची	२३४
६	न्यायदीपिकागत दार्शनिक एवं लाक्षणिक शब्दोंकी सूची	२३५
७	‘असाधारणधर्मवचन’ लक्षण	२३८
८	न्यायदीपिका के तुलनात्मक टिप्पण	२३९-२४

समर्पण :

दशम प्रतिमाधारी विद्वद्वरेण्य

गुरुवर्य पूज्य न्यायाचार्य

पण्डित गरेश प्रसाद

जी वर्णी के पवित्र

कर-कमलों में

स प्र मो द

समर्पित ।

दरबारीलाल

प्रकाशकीय वक्तव्य

(प्रथम संस्करण)

आजसे कोई ४६ वर्ष पहले सन् १८६६ में 'न्यायदीपिका' का मूल-रूपमें प्रथम प्रकाशन ५० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे (कोल्हापुर) के द्वारा हुआ था । उसी वक्त इस सुन्दर ग्रन्थका मुझे प्रथम-परिचय मिला था और इसके सहारे ही मैंने न्यायशास्त्रमें प्रवेश किया था । इसके बाद 'परीक्षामुग्ग' आदि बीसियों न्यायग्रन्थोंको पढ़ने-देखनेका अवसर मिला और वे बड़े ही महत्वके भी मालूम हुए, परन्तु सरलता और सहजबोध गम्यताकी दृष्टिसे हृदयमें 'न्यायदीपिका' को प्रथम स्थान प्राप्त रहा और यह जान पड़ा कि न्यायशास्त्रका अभ्यास प्रारम्भ करनेवाले जैनोंके लिये यह प्रथम-पठनीय और अच्छे कामकी चीज है । और इसलिये ग्रन्थकारमहोदयने ग्रन्थकी आदिमें 'बाल-प्रबुद्धये' पदके द्वारा ग्रन्थका जो लक्ष्य 'बालकोको न्याय-शास्त्रमें प्रवीण करना' व्यक्त किया है वह यथार्थ है और उसे पूरा करनेमें वे सफल हुए हैं ।

न्याय वास्तवमें एक विद्या है, विज्ञान है — साइंस है — अथवा यो कहिये कि एक कसौटी है जिससे वस्तु-तत्त्वको जाना जाता है, परखा जाता है और खरे-खोटेके मिश्रण को पहचाना जाता है । विद्या यदि दूषित होजाय, विज्ञानमें भ्रम छा जाय और कसौटी पर मैल चढ़ जाय तो जिस प्रकार ये चीजें अपना ठीक काम नहीं दे सकती उसी प्रकार न्याय भी दूषित भ्रम-पूर्ण तथा मलिन होने पर वस्तुतत्त्वके यथार्थनिर्णय में सहायक नहीं हो सकता । श्रीअकलङ्कदेवसे पहले अन्धकार (अज्ञान) के माहात्म्य और कलियुगके प्रतापसे कुछ ऐसे तार्किक विद्वानों द्वारा जो प्रायः गुण-द्वेषी थे, न्यायशास्त्र बहुत कुछ मलिन किया जा चुका था, अकलङ्कदेवने सम्यग्-ज्ञानरूप-वचन जलोसे (न्यायविनिश्चयादि ग्रन्थों द्वारा) जैसे जैसे धो-धाकर उसे निर्मल किया था, जैसाकि न्यायविनिश्चय के निम्न वाक्यसे प्रकट है—

बालाना हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः

माहात्म्यात्तमस स्वय कलिबलात्प्रायः गुण-द्वेषिभिः ।

न्यायोऽय मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते

सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमल तत्रानुकम्पापरैः ॥२॥

अकलङ्कदेव द्वारा पुन प्रतिष्ठित इस निर्मल न्यायको विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र जैसे महान् आचार्योंने अपनी अपनी कृतियों तथा टीकाग्रन्थों द्वारा प्रोत्तेजन दिया था और उसके प्रचारको बढ़ाया था; परन्तु दुर्भाग्य अथवा दुर्दैवसे देशमें कुछ ऐसा समय उपस्थित हुआ कि इन गूढ़ तथा गम्भीर ग्रन्थोंका पठन-पाठन ही उठ गया, ग्रन्थप्रतियोंका मिलना दुर्लभ हो गया और न्यायशास्त्रके विषयमें एक प्रकारका अन्धकार सा छा गया । अभिनव धर्मभूषणजीने अपने समय (विक्रमकी १५वीं शताब्दी) में इसे महसूस किया और इसलिये उस अन्धकारको कुछ अशोभे दूर करनेकी शुभ भावनासे प्रेरित होकर ही वे इस दीपगाथा अथवा टोर्च (torch) की सृष्टि करनेमें प्रवृत्त हुए हैं और इसलिये इसका 'न्यायदीपिका' यह नाम बहुत ही सार्थक जान पड़ता है ।

ग्रन्थके इस वर्तमान प्रकाशनसे पहले चार संस्करण और निकल चुके हैं, जिनमेंसे प्रथम संस्करण वही है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है । सम्पादकीय कथनानुसार यह प्रथम संस्करण दूसरे संस्करणोंकी अपेक्षा शुद्ध है, जबकि होना यह चाहिये था कि पूर्व संस्करणोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर संस्करण अधिक शुद्ध प्रकाशित होते । परन्तु मामला उलटा रहा । अस्तु, मुद्रित प्रतियोंकी ये अशुद्धियाँ अक्सर खटका करती थी और एक अच्छे शुद्ध तथा उपयोगी संस्करणकी जरूरत बराबर बनी हुई थी ।

अप्रैल सन् १९४२ में, जिसे तीन वर्ष हो चुके, न्यायाचार्य प० दरवारीलालजी कोठियाकी योजना वीरसेवामन्दिरमें हुई और उससे कोई १॥ वर्ष बाद मुझे यह बतलाया गया कि आप न्यायदीपिका ग्रंथ पर अच्छा परिश्रम कर रहे हैं, उसके कितने ही अशुद्ध पाठोंका आपने संशोधन किया है; शेषका संशोधन करना चाहते हैं, विषयके स्पष्टीकरणार्थ

संस्कृत टिप्पण लिख रहे हैं जो समाप्तिके करीब हैं और माथमे हिन्दी अनुवाद भी लिख रहे हैं। अतः ऐसे उपयोगी ग्रन्थको वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालामें प्रकाशित करनेका विचार स्थिर हुआ। उस समय इस ग्रन्थ का कुल तखमीना १२ फार्म (१६२ पेज) के लगभग था और आज यह २४ फार्म (३८४ पेज) के रूपमें पाठकोंके सामने उपस्थित है। इत तरह वारणामें ग्रन्थका आकार प्रायः दुगुना हो गया है। इसका प्रधान कारण तय्यार ग्रन्थमें वादको कितना ही मशोघन, परिवर्तन तथा परिवर्धन किया जाना, तुलनात्मक टिप्पण-जैसे कुछ विशिष्ट परिशिष्टोंका साथमें लगाया जाना और प्रस्तावनाका आशासे अधिक लम्बा हो जाना है इन सबसे जहाँ ग्रन्थका विस्तार बढ़ा है वहाँ उसकी उपयोगितामें भी वृद्धि हुई है।

इस ग्रन्थकी तैयारीमें कोठियाजीको बहुत कुछ परिश्रम उठाना पड़ा है, छपाईका काम अपनी देखरेखमें इच्छानुकूल शुद्धतापूर्वक शीघ्र करानेके लिये देहली रहना पड़ा है और प्रूफरीडिंगका सारा भार अकेले ही वहन करना पड़ा है। इस सब काममें वीरसेवा-मन्दिर-सम्बन्धी प्रायः ८-९ महीनेका अधिकांश समय ही उनका नहीं लगा बल्कि बहुतसा निजी समय भी खर्च हुआ है और तब कही जाकर यह ग्रन्थ इस रूपमें प्रस्तुत हो सका है। मुझे यह देखकर सन्तोष है कि कोठियाजीको इस ग्रन्थरत्नके प्रति जैसा कुछ सहज अनुराग और आकर्षण था उसके अनुरूप ही वे ग्रन्थ के इस संस्करणको प्रस्तुत करनेमें समर्थ होसके हैं, और इसपर उन्होंने स्वयं ही अपने 'सम्पादकीय' में बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की है। अपनी इस कृतिके लिये आप अवश्य समाजके धन्यवादपात्र हैं।

अन्तमें कुछ अनिवार्य कारणवश ग्रन्थके प्रकाशनमें जो विलम्ब हुआ है उसके लिये मैं पाठकोसे क्षमा चाहता हूँ। आशा है वे प्रस्तुत संस्करण की उपयोगिताको देखते हुए उसे क्षमा करेंगे।

देहली
१८ मई १९४५ }

जुगलकिशोर मुस्तार
संस्थापक 'वीरसेवामन्दिर'

द्वितीय संस्करण

वीर सेवामन्दिर से प्रकाशित 'न्यायदीपिका' का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया था । और कई स्थानों से उसकी मांग आ रही थी । बम्बई परीक्षालय के पठनक्रम में होने से उसका अभाव विशेष खटक रहा था । इस कारण उसका पुन प्रकाशन करना पड़ा । प्रथम संस्करण कितना लोकप्रिय हुआ और समाज में उसकी क्या कुछ मांग बढ़ी, इससे उसकी लोकप्रियता का सबूत मिल जाता है । सम्पादन-संशोधन उसका अनुवाद, प्रस्तावना, संस्कृत टिप्पण और शब्दकोष वगैरह के उपयोगी परिशिष्टों से वह केवल छात्रों के ही उपयोग की वस्तु नहीं रही किन्तु विद्वानों के भी उपयोग में आने वाली कृति है । वीरसेवामन्दिर के विद्वान् प० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री और परमानन्द शास्त्री दोनों ने मिलकर प्रूफ आदि का संशोधन कर इस संस्करण को शुद्ध और सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है, इसके लिए दोनों ही विद्वान् धन्यवाद के पात्र हैं । आशा है पाठकगण इसे अपनाएँगे ।

प्रेमचन्द्र जैन

सं० मंत्री, वीरसेवामन्दिर

संकेत-सूची^१

— ० —

अकलकप्र० } अकलक० }	अकलकग्रन्थत्रय	(सिंधी ग्रन्थमाला, कलकत्ता)
अध्यात्मक०	अध्यात्मकमलमार्तण्ड	(वीरसेवामन्दिर, सरमावा)
अमरको०	अमरकोष	(निर्णयसागर, बम्बई)
अष्टग०	अष्टशती	"
अष्टस०	अष्टसहस्री	"
आ० प०	आराप्रति पत्र	(जैनसिद्धान्त भवन, आरा)
आप्तप० } आप्तपरी० }	आप्तपरीक्षा	(जैनसिद्धान्त० कलकत्ता)
आप्तमी०	आप्तमीमासा	"
आप्तमी० वृ०	आप्तमीमासावृत्ति	"
काव्यमी०	काव्यमीमासा	"
चरकस०	चरकसहिता	(निर्णयसागर, बम्बई)
जैनतर्कभा०	जैनतर्कभाषा	(सिंधी ग्रन्थमाला, कलकत्ता)
जैनशिलालेखस०	जैनशिलालेखसग्रह	(मा० ग्रन्थमाला, बम्बई)
जैमिनि०	जैमिनिसूत्र	(निर्णयसागर, बम्बई)
जैनेन्द्रव्या०	जैनेन्द्रव्याकरण	(
तर्कदी०	तर्कदीपिका	(छन्नूलाल ज्ञानचन्द्र, बनारस)
तर्कस०	तर्कसग्रह	"
तर्कसग्रहपदकृ०	तर्कसग्रहपदकृत्य	"
तत्त्ववैशा०	तत्त्ववैशारदी	(चौखम्बा, काशी)
तत्त्वस०	तत्त्वसग्रह	(गायकवाड़, बड़ौदा)

१ जिन ग्रन्थों या पत्रादिकोंके प्रस्तावनादिमें पूरे नाम दे दिये गये हैं उनको यहाँ संकेतसूचीमें छोड़ दिया है ।

—सम्पादक

तत्त्वार्थवा०	तत्त्वार्थवार्त्तिक	(जैनसिद्धान्त०, कलकत्ता)
तत्त्वार्थवृ०श्रु०	तत्त्वार्थवृत्ति श्रुतसागरी	(लिखित, वीरसेवामन्दिर)
तत्त्वार्थश्लो० तत्त्वार्थश्लोकवा० त० श्लो	} तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक	(निर्णयसागर, बम्बई)
तत्त्वार्थश्लो० भा०		
तत्त्वार्थमू० त० सू०	} तत्त्वार्थसूत्र	(प्रथमगुच्छक, काशी)
तत्त्वार्थाधि० भा०		
तात्पर्यपरिशु०	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य	(अर्हन्तप्रभाकर, पूना)
तिलो० प०	तात्पर्यपरिशुद्धि	...
दिनकरी	तिलोपपणत्ति	(जीवराजग्रन्थ०, शोलापुर)
द्रव्यस०	सिद्धान्तमुक्तावलीटीका	(निर्णयसागर, बम्बई)
न्यायकलि०	द्रव्यसग्रह	...
न्यायकु० न्यायकुमु०	न्यायकलिका	(गङ्गानाथ भा)
न्यायकुमु० न्याकु०	न्यायकुमुदचन्द्र	(माणिकचन्द्रग्रन्थमाला, बम्बई)
न्यायकुसु प्रकाश०	न्यायकुसुमाञ्जलि	(चौखम्बा, काशी)
न्यायदी०	न्यायकुसुमाञ्जलिप्र० टीका	„
न्यायप्र०	न्यायदीपिका	(प्रस्तुत सस्करण)
न्यावि०	न्यायप्रवेश	(गायकवाड, बडौदा)
न्यावि०टी०	न्यायविन्दु	(चौखम्बा काशी)
न्यायमं०	न्यायविन्दु टीका	„
न्यायवा०	न्यायमजरी	„
न्यायवा०तात्प०	न्यायवार्त्तिक	„
न्यायवा तात्प टी	} न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका	„
न्यायवा ता०		

न्यायवि०	न्यायविनिश्चय	(अकलङ्कग्रन्थत्रय)
न्यायवि वि लि	} न्यायविनिश्चयविवरण	(वीरसेवामग्निर, सरसावा)
न्यायवि वि लि		
न्यायसू०	न्यायसूत्र	(चौखम्बा, काशी)
न्यायाव०टी०टि०	न्यायावतारटीकाटिप्पणी	(श्वेताम्बरकान्फेस, बम्बई)
पत्रपरी०	पत्रपरीक्षा	(जैनसिद्धान्त०, कलकत्ता)
परीक्षामु०	परीक्षामु०	(प० घनश्यामदासजी का)
पात० महाभा०	पातञ्जलिमहाभाष्य	(चौखम्बा, काशी)
प्रमाणनय०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार	(यशोविजयग्र०, काशी)
प्रमाणनि०	प्रमाणनिर्णय	(माणिकचन्द्र ग्रन्थ०, बम्बई)
प्रमाणमी०	प्रमाणमीमांसा	(सिद्धीग्रन्थमाला, कलकत्ता)
प्रमाणमी० भा०	प्रमाणमीमांसाभाषाटिप्पण	„
प्रमाणस०	प्रमाणसंग्रह	(अकलङ्कग्रन्थत्रय)
प्रमाणस० स्वो०	प्रमाणसंग्रह स्वोपज्ञवृत्ति	„
प्रमाल०	} प्रमालक्षण	
प्रमालक्ष०		
प्रमेयक०	प्रमेयकमलमार्तण्ड	(प० महेन्द्रकुमारजी, काशी)
प्रमेयर०	प्रमेयरत्नमाला	(प० फूलचन्द्रजी, काशी)
प्रवचनसा०	प्रवचनसार	(रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई)
प्रशस्तपादभा०	प्रशस्तपादभाष्य	(चौखम्बा, काशी)
प्रकरणप०	} प्रकरणपञ्जिका	(चौखम्बा, काशी)
प्रकरणपञ्जि०		
प्रमाणप०	} प्रमाणपरीक्षा	(जैनसिद्धान्तप्र०, कलकत्ता)
प्रमाणपरी०		
प्र० प०		
प्रमाणम०	प्रमाणमञ्जरी	
प्रमाणवा०	प्रमाणवार्त्तिक	(राहुलजी सम्पादित)

प्रमाणसं०	प्रमाणसमुच्चय	(मैसूर यूनिवर्सिटी)
मनोरथन०	मनोरथनन्दिनी	(प्रमाणमीमामामे उपयुक्त)
सी० श्लो०	मीमांसाश्लोकवार्त्तिक	(चौखम्बा, काशी)
युक्त्यनुशा० टी०	युक्त्यनुशासनटीका	(मा० ग्रन्थमाला, बम्बई)
योगसू०	योगसूत्र	(चौखम्बा, काशी)
राजवा०	राजवार्त्तिक	(जैनसिद्धान्त०, कलकत्ता)
लघीय०	लघीयस्त्रय	(अकलकग्रन्थत्रय)
लघी०		
लघीय० तात्पर्य०	लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति	(मा० ग्रन्थमाला, बम्बई)
लघी०स्वो वि	लघीयस्त्रय स्वोपज्ञविवृति	(अकलकग्रन्थत्रय)
लघुसर्वज्ञ०	लघुसर्वज्ञसिद्धि	(मा० ग्रन्थमाला, बम्बई)
वाक्यप०	वाक्यपदीय	(चौखम्बा, काशी)
वैशेषिक सूत्रोप०	वैशेषिक सूत्रोपस्कार	,,
वैशेषि उप		
वैशे. सूत्रोप		
वैशेषिकसू०	वैशेषिकसूत्र	,,
शब्दश०	शब्दशक्तिप्रकाशिका	
शावरभा०	शावरभाष्य	(आनन्दाश्रम, पूना)
शास्त्रदी०	शास्त्रदीपिका	(त्रिद्याविलास प्रेस, काशी)
षड्दर्श०	षड्दर्शनसमुच्चय	(चौखम्बा, काशी)
सर्वदर्श०	सर्वदर्शनसंग्रह	(भाण्डारकर०, पूना)
सर्वार्थ०	सर्वार्थसिद्धि	(सोलापुर)
सर्वार्थसि०		
साहि०द०	साहित्यदर्पण	
साख्य माठरवृ.	साख्यकारिका माठरवृत्ति	(चौखम्बा, काशी)
सिद्धिविनि. टी.	सिद्धिविनिश्चयटीका	(सरसावा)
सिद्धान्तमु०	सिद्धान्तमुक्तावली	(निर्णयसागर, बम्बई)
सि० मु०		

स्याद्वादर०	}	स्याद्वादरत्नाकर	(आर्हतप्रभाकर., पूना)
स्या. रत्ना			
स्वयम्भू०		स्वयम्भूस्तोत्र	(प्रथमगुच्छक, काशी)
हेतुवि०		हेतुविन्दु	(बडौदा सस्करण)
आ A		आरा	प० पक्ति
का		कारिका	प्र० प्रति
गा		गाथा	प्र० प्र० प्रथमभाग प्रस्तावना
दे.		देहली	प्रस्ता० प्रस्तावना
टि		टिप्पण	B बनारस
प		पत्र	शि० शिलालेख
पृ		पृष्ठ	सम्पा० सम्पादक

अपनी ओर से निक्षिप्त पाठ—

पृ १२० प० १० [यथा], पृ ६७ प ५ [शिशपा]



प्राक्-कथन

व्याकरणके अनुसार दर्शन शब्द 'दृश्यते=निर्णयते वस्तुतत्त्वमने-
नेति दर्शनम् अथवा 'दृश्यते निर्णयत इद वस्तुतत्त्वमिति दर्शनम्'
इन दोनों व्युत्पत्तियोंके आधारपर दृग् धातुसे निष्पन्न होता है। पहली
व्युत्पत्तिके आधारपर दर्शन शब्द तर्क-वितर्क, मन्थन या परीक्षास्वरूप उस
विचारधाराका नाम है जो तत्त्वोंके निर्णयमें प्रयोजक हुआ करती है।
दूसरी व्युत्पत्तिके आधारपर दर्शन शब्दका अर्थ उल्लिखित विचारधाराके
द्वारा निर्णीत तत्त्वोंकी स्वीकारता होता है। इस प्रकार दर्शन शब्द
दार्शनिक जगत्में इन दोनों प्रकारके अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है अर्थात्
भिन्न-भिन्न मतोंकी जो तत्त्वसम्बन्धी मान्यताये हैं उनको और जिन तार्किक
मुद्दोंके आधारपर उन मान्यताओंका समर्थन होता है उन तार्किक
मुद्दोंको दर्शनशास्त्रके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

सबसे पहिले दर्शनोको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—
भारतीय दर्शन और अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन। जिनका प्रादुर्भाव
भारतवर्षमें हुआ है वे भारतीय और जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षके बाहर
पाश्चात्य देशोंमें हुआ है वे अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन माने गये हैं।
भारतीय दर्शन भी दो भागोंमें विभक्त हो जाते हैं—वैदिक दर्शन और
अवैदिक दर्शन। वैदिक परम्पराके अन्दर जिनका प्रादुर्भाव हुआ है तथा
जो वेदपरम्पराके पोषक दर्शन हैं वे वैदिक दर्शन माने जाते हैं और
वैदिक परम्परासे भिन्न जिनकी स्वतन्त्र परम्परा है तथा जो वैदिक
परम्पराके विरोधी दर्शन हैं उनका समावेश अवैदिक दर्शनोंमें होता है।
इस सामान्य नियमके आधारपर वैदिक दर्शनोमें मुख्यतः सांख्य, वेदान्त,
मीमांसा, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन आते हैं और जैन, बौद्ध तथा
चार्वाक दर्शन, अवैदिक दर्शन ठहरते हैं।

वैदिक और अवैदिक दर्शनोको दार्शनिक मध्यकालीन युगमें क्रमसे आस्तिक और नास्तिक नामोंसे भी पुकारा जाने लगा था, परन्तु मालूम पड़ता है कि इनका यह नामकरण साम्प्रायिक व्यामोहके कारण वेद-परम्पराके समर्थन और विरोधके आधारपर प्रशंसा और निन्दाके रूपमें किया गया है। कारण, यदि प्राणियोंके जन्मान्तररूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिके न माननेरूप अर्थमें नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो जैन और बौद्ध दोनों अवैदिक दर्शन नास्तिक दर्शनोकी कोटिसे निकल कर आस्तिक दर्शनोकी कोटिमें आ जायेंगे क्योंकि ये दोनों दर्शन परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिकी मान्यताको स्वीकार करते हैं। और यदि जगत्का कर्ता अनादिनिधन ईश्वरको न माननेरूप अर्थमें नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो साख्य और मीमांसा दर्शनोको भी आस्तिक दर्शनोकी कोटिमें निकालकर नास्तिक दर्शनोकी कोटिमें पटक देना पड़ेगा, क्योंकि ये दोनों दर्शन अनादिनिधन ईश्वरको जगत्का कर्ता माननेसे इन्कार करते हैं। 'नास्तिको वेदनिन्दक' इत्यादि वाक्य भी हमें यह बतलाते हैं कि वेदपरम्पराको न माननेवालो या उसका विरोध करने-वालोके वारेमें ही नास्तिक शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रायः सभी सम्प्रदायोंमें अपनी परम्पराके माननेवालोको आस्तिक और अपनेसे भिन्न दूसरे सम्प्रदायकी परम्पराके माननेवालोको नास्तिक कहा गया है। जैनसम्प्रदायमें जैनपरम्पराके माननेवालोको सम्यग्दृष्टि और जैनैतर परम्पराके माननेवालोको मिथ्यादृष्टि कहनेका रिवाज प्रचलित है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शनोका जो आस्तिक और नास्तिक दर्शनोके रूपमें विभाग किया जाता है वह निरर्थक एवं अनुचित है।

उल्लिखित सभी भारतीय दर्शनोमेंसे एक दो दर्शनोको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनोका साहित्य काफी विगलताको लिये हुए पाया जाता है। जैनदर्शनका साहित्य भी काफी विगल और महान है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों दर्शनकारोंने समानरूपसे जैनदर्शनके साहित्यकी समृद्धिमें

काफी हाथ बढ़ाया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोमें परस्पर जो मतभेद पाया जाता है वह दार्शनिक नहीं, आगमिक है। इसलिये इन दोनोंके दर्शन साहित्यकी समृद्धिके द्वारावाहिक प्रयासमें कोई अन्तर नहीं आया है।

दर्शनशास्त्रका मुख्य उद्देश्य वस्तु-स्वरूप व्यवस्थापन ही माना गया है। जैनदर्शनमें वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक (अनेकवर्मात्मक) निर्णीत किया गया है। इसलिये जैनदर्शनका मुख्य सिद्धान्त अनेकान्तवाद (अनेकान्तकी मान्यता) है। अनेकान्तका अर्थ है—परस्पर विरोधी दो तत्त्वोंका एकत्र समन्वय। तात्पर्य यह है कि जहाँ दूसरे दर्शनमें वस्तुको सिर्फ सत् या असत्, सिर्फ सामान्य या विशेष, सिर्फ नित्य या अनित्य, सिर्फ एक या अनेक और सिर्फ भिन्न या अभिन्न स्वीकार किया गया है वहाँ जैन दर्शनमें वस्तुको सत् और असत्, सामान्य और विशेष, नित्य और अनित्य, एक और अनेक तथा भिन्न और अभिन्न स्वीकार किया गया है और जैनदर्शनकी यह सत्-असत्, सामान्य विशेष, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और भिन्न-अभिन्नरूप वस्तुविषयक मान्यता परस्पर विरोधी दो तत्त्वोंका एकत्र समन्वय को सूचित करती है।

वस्तुकी इस अनेक वर्मात्मकताके निर्णयमें साधक प्रमाण होता है। इसलिये दूसरे दर्शनकी तरह जैनदर्शनमें भी प्रमाण-मान्यताको स्थान दिया गया है। लेकिन दूसरे दर्शनमें जहाँ कारकसाकल्यादिको प्रमाण माना गया है वहाँ जैनदर्शनमें सम्यग्ज्ञान (अपने और अपूर्व अर्थके निर्णायक ज्ञान) को ही प्रमाण माना गया है क्योंकि ज्ञप्ति-क्रियाके प्रति जो करण हो उसीका जैनदर्शनमें प्रमाण नामसे उल्लेख किया गया है। ज्ञप्तिक्रियाके प्रति करण उक्त प्रकारका ज्ञान ही हो सकता है, कारकसाकल्यादि नहीं, कारण कि क्रियाके प्रति अत्यन्त अर्थात् अव्यवहितरूपमें साधक कारणको ही व्याकरणशास्त्रमें करणसज्ञा दी गयी है और

अव्यवहितरूपमे ज्ञप्तिक्रियाका साधक उक्त प्रकारका ज्ञान ही है । कारक-साकल्यादि ज्ञप्तिक्रियाके साधक होते हुए भी उसके अव्यवहितरूपमे साधक नहीं है इसलिए उन्हें प्रमाण कहना अनुचित है ।

प्रमाण-मान्यताको स्थान देनेवाले दर्शनोमे कोई दर्शन सिर्फ प्रत्यक्ष-प्रमाणको, कोई प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान चार प्रमाणोको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति पाँच प्रमाणोको और कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोको मानते हैं । कोई दर्शन एक सम्भव नामके प्रमाणको भी अपनी प्रमाणमान्यतामे स्थान देते हैं । परन्तु जैनदर्शनमे प्रमाणकी इन भिन्न-भिन्न सख्याओको यथायोग्य निरर्थक, पुनरुक्त और अपूर्ण बतलाते हुए मूलमे प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद प्रमाणके स्वीकार किये गये हैं । प्रत्यक्षके अतीन्द्रिय और इन्द्रिय-जन्य ये दो भेद मानकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमे अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानका समावेश किया गया है तथा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षसे स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु और कर्ण इन पाँच इन्द्रियो और मनका साहाय्य होनेके कारण स्पर्शनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, चक्षुइन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कर्णेन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष ये छह भेद स्वीकार किये गये हैं । अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके भेद अवधिज्ञान और मन पर्यय-ज्ञानको जैनदर्शनमे देशप्रत्यक्ष सज्ञा दी गई है । कारण कि इन दोनों ज्ञानोका विषय सीमित माना गया है और केवलज्ञानको सकलप्रत्यक्ष नाम दिया गया है क्योंकि इसका विषय असीमित माना गया है अर्थात् जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने त्रिकालवर्ती विवर्तो सहित इसकी विषयकोटिमे एक साथ समा जाते हैं । सर्वज्ञमे केवलज्ञान नामक इसी सकलप्रत्यक्षका सद्भाव स्वीकार किया गया है । अतीन्द्रिय प्रत्यक्षको परमार्थ-प्रत्यक्ष और इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहा

जाता है। इसका सबब यह है कि सभी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान यद्यपि आत्मोत्थ हैं क्योंकि ज्ञानको आत्माका स्वभाव वा गुण माना गया है। परन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रियोकी सहायताके बिना ही स्वतन्त्ररूपसे आत्मामे उद्भूत हुआ करते हैं इसलिये इन्हें परमार्थ सज्ञा दी गई है और इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष आत्मोत्थ होते हुए भी उत्पत्तिमे इन्द्रियाधीन हैं इसलिये वास्तवमे इन्हें प्रत्यक्ष कहना अनुचित ही है। अतः लोकव्यवहारकी दृष्टिसे ही इनको प्रत्यक्ष कहा जाता है। वास्तवमे तो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोको भी परोक्ष ही कहना उचित है। फिर जब कि ये प्रत्यक्ष पराधीन हैं तो इन्हें परोक्ष प्रमाणोमे ही अन्तर्भूत क्यों नहीं किया गया है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जिस ज्ञानमे ज्ञेय पदार्थका इन्द्रियोके साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान हो उस ज्ञानको साव्यवहारिक प्रत्यक्षमे अन्तर्भूत किया गया है और जिस ज्ञानमे ज्ञेय पदार्थका इन्द्रियोके साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान न हो। परम्परया सम्बन्ध कायम होता हो उस ज्ञानको परोक्ष प्रमाणमे अन्तर्भूत किया गया है। उक्त छहो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षो (साव्यवहारिक प्रत्यक्षो) मे प्रत्येककी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार-चार अवस्थाएँ स्वीकार की गयी हैं। अवग्रह—ज्ञानकी उस दुर्बल अवस्थाका नाम है जो अनन्तरकालमे निमित्त मिलनेपर विरुद्ध नानाकोटि विषयक सशयका रूप धारण कर लेती है और जिसमे एक अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि भी शामिल रहती है। सशयके बाद अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि विषयक अनिर्णीत भावनारूप ज्ञानका नाम ईहा माना गया है। और ईहाके बाद अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि विषयक निर्णीत ज्ञानका नाम अवाय है। यही ज्ञान यदि कालान्तरमे होनेवाली स्मृतिका कारण बन जाता है तो इसे धारणा नाम दे दिया जाता है। जैसे कही जाते हुए हमारा दूर स्थित पुरुषको सामने पाकर उसके बारेमे “यह पुरुष है” इस प्रकारका ज्ञान अवग्रह है। इस ज्ञानकी दुर्बलता इसीसे जानी जा सकती है कि यही ज्ञान अनन्तरकालमे निमित्त मिल जानेपर

वह पुरुष है या ठूठ” इस प्रकारके सशयका रूप धारण कर लिया करता है । यह सशय अपने अनन्तरकालमें निमित्त विशेषके आधारपर ‘मालूम पड़ता है कि यह पुरुष ही है’ अथवा ‘उसे पुरुष ही होना चाहिये’ इत्यादि प्रकारसे ईहा ज्ञानका रूप धारण कर लिया करता है और यह ईहाज्ञान ही अपने अनन्तर समयमें निमित्तविशेषके बलपर ‘वह पुरुष ही है’ इस प्रकारके अवायज्ञानरूप परिणत हो जाया करता है । यही ज्ञान नष्ट होनेसे पहले कालान्तरमें होनेवाला ‘अमुक समय स्थानपर मैंने पुरुषको देखा था’ इस प्रकारकी स्मृतिमें कारणभूत जो अपना सस्कार मस्तिष्कपर छोड़ जाता है उसीका नाम धारणाज्ञान जैनदर्शनमें माना गया है । इस प्रकार एक ही इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष (साव्यवहारिक प्रत्यक्ष) भिन्न २ समयमें भिन्न २ निमित्तोंके आधारपर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार रूपोंको धारण कर लिया करता है और ये चार रूप प्रत्येक इन्द्रिय और मनसे होनेवाले प्रत्यक्षज्ञानमें सम्भव हुआ करते हैं । जैनदर्शनमें प्रत्यक्ष प्रमाणका स्पष्टीकरण इसी ढंगसे किया गया है ।

जैनदर्शनमें परोक्षप्रमाणके पाँच भेद स्वीकार किये गये हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम । इनमेंसे धारणामूलक स्वतन्त्र ज्ञानविशेषका नाम स्मृति है । स्मृति और प्रत्यक्षमूलक वर्तमान और भूत पदार्थोंके एकत्व अथवा सादृश्यको ग्रहण करनेवाला प्रत्यभिज्ञान कहलाता है, प्रत्यभिज्ञानमूलक दो पदार्थोंके अविनाभाव सम्बन्धरूप व्याप्तिका ग्राहक तर्क होता है और तर्कमूलक साधनसे साध्यका ज्ञान अनुमान माना गया है । इसी तरह आगमज्ञान भी अनुमानमूलक ही होता है अर्थात् ‘अमुक शब्दका अमुक अर्थ होता है’ ऐसा निर्णय हो जानेके बाद ही श्रोता किसी शब्दको सुनकर उसके अर्थका ज्ञान कर सकता है । इस कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि साव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है और परोक्ष प्रमाण साव्यवहारिक प्रत्यक्षजन्य है । वस, साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणमें इतना ही अन्तर है ।

जैनदर्शनमे शब्दजन्य अर्थज्ञानको आगम प्रमाण माननेके साथ-साथ उस शब्दको भी आगम प्रमाणमे सग्रहीत किया गया है और इस प्रकार जैनदर्शनमे आगम प्रमाणके दो भेद मान लिये गये हैं । एक स्वार्थप्रमाण और दूसरा परार्थप्रमाण । पूर्वोक्त सभी प्रमाण ज्ञानरूप होनेके कारण स्वार्थप्रमाणरूप ही है । परन्तु एक आगम प्रमाण ही ऐसा है जिसे स्वार्थ-प्रमाण और परार्थप्रमाण उभयरूप स्वीकार किया गया है । शब्दजन्य अर्थज्ञान ज्ञानरूप होनेके कारण स्वार्थप्रमाणरूप है । लेकिन शब्दमे चूकि ज्ञानरूपताका अभाव है इसलिये वह परार्थप्रमाणरूप माना गया है ।

यह परार्थप्रमाणरूप शब्द वाक्य और महावाक्यके भेदसे दो प्रकारका है । इनमेसे दो या दोसे अधिक पदोंके समूहको वाक्य कहते हैं और दो या दो से अधिक वाक्योंके समूहको महावाक्य कहते हैं, दो या दो से अधिक महावाक्योंके समूहको भी महावाक्यके ही अन्तर्गत समझना चाहिये । इससे यह मिथ्य होता है कि परार्थप्रमाण एक खण्ड वस्तु है और वाक्य तथा महावाक्यरूप परार्थप्रमाणके जो खण्ड हैं उन्हे जैनदर्शनमे नयसज्ञा प्रदान की गई है । इस प्रकार जैनदर्शनमे वस्तुस्वरूपके व्यवस्थापनमे प्रमाणकी तरह नयोको भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । परार्थप्रमाण और उसके अग्रभूत नयोका लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिए—

“वक्ताके उद्दिष्ट अर्थका पूर्णरूपेण प्रतिपादक वाक्य और महावाक्य प्रमाण कहा जाता है और वक्ताके उद्दिष्ट अर्थके अशका प्रतिपादक पद, वाक्य और महावाक्यको नयसज्ञा दी गयी है ।”

इस प्रकार ये दोनों परार्थप्रमाण और उसके अग्रभूत नय वचनरूप है और चूकि वस्तुनिष्ठ सत्त्व और असत्त्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि परस्पर विरोधी दो तत्त्व अथवा तद्विशिष्ट वस्तु ही इनका वाच्य है इसलिये इसके आधारपर जैन दर्शनका सप्तभगीवाद कायम होता है । अर्थात्

उक्त सत्त्व और असत्त्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि युगलधर्मों और एतद्धर्मविशिष्ट वस्तुके प्रतिपादनमे उक्त परार्थप्रमाण और उसके अशभूत नय सातरूप धारण कर लिया करते हैं ।

प्रमाणवचनके सातरूप निम्न प्रकार हैं—सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मोंमेंसे सत्त्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका पहला-रूप है । असत्त्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका दूसरा रूप है । सत्त्व और असत्त्व उभयधर्ममुखेन क्रमशः वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका तीसरा रूप है । सत्त्व और असत्त्व उभयधर्ममुखेन युगपत् (एकसाथ) वस्तुका प्रतिपादन करना असम्भव है इसलिये अवक्तव्य नामका चौथा रूप प्रमाणवचनका निष्पन्न होता है । उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ सत्त्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है इस तरहसे प्रमाणवचनका पाँचवाँ रूप निष्पन्न होता है । इसीप्रकार उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ असत्त्वमुखेन भी वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है इस तरहसे प्रमाणवचनका छठा रूप बन जाता है । और उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ उभयधर्ममुखेन क्रमशः वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है इस तरहसे प्रमाणवचनका सातवाँ रूप बन जाता है । जैनदर्शनमे इसको प्रमाणसप्तभगी नाम दिया गया है ।

नयवचनके सात रूप निम्न प्रकार हैं—वस्तुके सत्त्व और असत्त्व इन तो धर्मोंमेंसे सत्त्व धर्मका प्रतिपादन करना नयवचनका पहला रूप है । असत्त्व धर्मका प्रतिपादन करना नयवचनका दूसरा रूप है । उभय धर्मोंका क्रमशः प्रतिपादन करना नयवचनका तीसरा रूप है और चूँकि उभयधर्मोंका युगपत् प्रतिपादन करना असम्भव है इसलिये इस तरहसे अवक्तव्य नामका चौथा रूप नयवचनका निष्पन्न होता है । नयवचनके पाचवें, छठे और सातवें रूपोंको प्रमाणवचनके पाचवें, छठे और सातवें

रूपोंके समान समझ लेना चाहिए। जैनदर्शनमें नयवचनके इन सात रूपोंको नयसप्तभगी नाम दिया गया है।

इन दोनों प्रकारकी सप्तभगियोंमें इतना ध्यान रखनेकी जरूरत है कि जब सत्त्व—धर्मसुखेन वस्तुका अथवा वस्तुके सत्त्वधर्मका प्रतिपादन किया जाता है तो उस समय वस्तुकी असत्त्वधर्मविशिष्टताको अथवा वस्तुके असत्त्वधर्मको अविविक्षित मान लिया जाता है और यही बात असत्त्वधर्ममुनेन वस्तुका अथवा वस्तु के असत्त्वधर्मका प्रतिपादन करते समय वस्तुकी नत्त्वधर्मविशिष्टता अथवा वस्तुके सत्त्वधर्मके बारेमें समझना चाहिए। इस प्रकार उभयधर्मोंकी विवक्षा (मुख्यता) और अविवक्षा (गोणता)के स्पष्टीकरणके लिए स्याद्वाद अर्थात् स्यात्की मान्यताको भी जैनदर्शनमें स्थान दिया गया है। स्याद्वादका अर्थ है—किसी भी धर्मके द्वारा वस्तुका अथवा वस्तुके किसीभी धर्मका प्रतिपादन करते वक्त उसके अनुकूल किसीभी निमित्त, किसीभी दृष्टिकोण या किसी भी उद्देश्य को लक्ष्य में रखना। और इस तरह से वस्तुकी विरुद्धधर्मविशिष्टता अथवा वस्तुमें विरुद्ध धर्मका अस्तित्व अक्षुण्य रक्खा जा सकता है। यदि उक्त प्रकारके स्याद्वादको नहीं अपनाया जायगा तो वस्तुकी विरुद्धधर्मविशिष्टताका अथवा वस्तुमें विरोधी धर्मका अभाव मानना अनिवार्य हो जायगा और इस तरहसे अनेकान्तवादका भी जीवन समाप्त हो जायगा।

इस प्रकार अनेकान्तवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, सप्तभगीवाद और स्याद्वाद ये जैनदर्शनके अनूठे सिद्धान्त हैं। इनमेंसे एक प्रमाणवादको छोड़कर बाकीके चार सिद्धान्तोंको तो जैनदर्शनकी अपनी ही निधि कहा जा सकता है और ये चारो सिद्धान्त जैनदर्शनकी अपूर्वता एवं महत्ताके अतीव परिचायक हैं। प्रमाणवादको यद्यपि दूसरे दर्शनोंमें स्थान प्राप्त है परन्तु जिस व्यवस्थित ढंग और पूर्णताके साथ जैनदर्शनमें प्रमाणका विवेचन पाया जाता है वह दूसरे दर्शनोंमें नहीं मिल सकता है। मेरे इस कथनकी स्वाभाविकताको जैनदर्शनके प्रमाणविवेचनके साथ दूसरे दर्शनों-

के प्रमाणविवेचनका तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्वान् सहज ही मे समझ सकते हैं ।

एक बात जो जैनदर्शनकी यहाँ पर कहनेके लिए रह गई है वह है सर्वज्ञतावादकी, अर्थात् जैनदर्शनमे सर्वज्ञतावादको भी स्थान दिया गया है और इसका सबब यह है कि आगमप्रमाणका भेद जो परार्थप्रमाण अर्थात् वचन है उसकी प्रमाणता बिना सर्वज्ञताके सभव नहीं है । कारण कि प्रत्येक दर्शनमे आप्तका वचन ही प्रमाण माना गया है तथा आप्त अवचक पुरुष ही हो सकता है और पूर्ण अवचकताकी प्राप्तिके लिए व्यक्तिमे सर्वज्ञताका सद्भाव अत्यन्त आवश्यक माना गया है ।

जैनदर्शनमे इन अनेकान्त, प्रमाण, नय, सप्तभगी, स्यात् और सर्वज्ञताकी मान्यताओको गभीर और विस्तृत विवेचनके द्वारा एक निष्कर्षपर पहुँचा दिया गया है । न्यायदीपिकामे श्रीमदभिनव धर्मभूषणयतिने इन्ही विषयोका सरल और सक्षिप्त ढंगसे विवेचन किया है और श्री ५० दरबारीलाल कोठिया ने इसे टिप्पणी और हिन्दी अनुवादसे सुसंस्कृत बनाकर सर्वसाधारणके लिए उपादेय बना दिया है । प्रस्तावना, परिशिष्ट आदि प्रकरणों द्वारा इसकी उपादेयता और भी बढ़ गई है । आपने न्यायदीपिका के कठिन स्थलों का भी परिश्रमके साथ स्पष्टीकरण किया है । हम आशा करते हैं कि श्री ५० दरबारीलाल कोठिया की इस कृति का विद्वत्समाजमे ममादर होगा । इत्यलम् ।

ता० ३१-३-४५

बीना-इटावा

}

वंशीधर जैन

(व्याकरणाचार्य, न्यायतीर्थ, न्यायशास्त्री
साहित्यशास्त्री)

सम्पादकीय

सम्पादन का विचार और प्रवृत्ति—

सन् १९३७की बात है। मैं उस समय वीरविद्यालय पपौरा (टीकम-गढ़ CI) में अध्यापनकार्य में प्रवृत्त हुआ था। वहाँ मुझे न्यायदीपिका को अपनी दृष्टिसे पढ़ानेका प्रथम अवसर मिला। जो छात्र उसे पढ़ चुके थे उन्होंने भी पुनः पढ़ी। यद्यपि मैं न्यायदीपिका की सरलता, विशदता आदि विशेषताओं से पहलेसे ही प्रभावित एवं आकृष्ट था। इसीसे मैंने एक बार उसके एक प्रधान विषय 'असाधारणधर्मवचन' लक्षण पर 'लक्षण का लक्षण' शीर्षक के साथ 'जैनदर्शन' में लेख लिखा था। पर पपौरा में उसका सूक्ष्मता से पठन-पाठनका विशेष अवसर मिलनेसे मेरी इच्छा उसे गृह्य और छात्रोपयोगी बनाने की ओर भी बढ़ी। पढ़ाते समय ऐसी सुन्दर कृतिमें अशुद्धियाँ बहुत खटकती थी। मैंने उस समय उन्हें यथासम्भव दूर करनेका प्रयत्न किया। साथ में अपने विद्यार्थियोंके लिए न्यायदीपिका की एक 'प्रश्नांततरावली' भी तैयार की।

जब मैं सन् १९४० के जुलाईमें वहाँ से ऋषभब्रह्मचर्याश्रम चौरासी मथुरा में आया और वहाँ दो वर्ष रहा उस समय भी मेरी न्यायदीपिका विषयक प्रवृत्ति कुछ चलती रही। यहाँ मुझे आश्रमके सरस्वती भवनमें एक लिखित प्रतिभी मिल गई जो मेरी प्रवृत्तिमें सहायक हुई। मैंने सोचा कि न्यायदीपिका का सशोधन तो अपेक्षित है ही, साथ में तर्कसंग्रह पर न्यायबोधिनी या तर्कदीपिका जैसी व्याख्या-संस्कृतका टिप्पण और हिन्दी अनुवाद भी कई दृष्टियोंसे अपेक्षित है। इस विचारके अनुसार उसका संस्कृत टिप्पण और अनुवाद लिखना आरम्भ किया और कुछ लिखा भी गया। किन्तु सशोधनमें सहायक अनेक प्रतियोंका होना आदि साधना-भावसे वह कार्य आगे नहीं बढ़ सका। और अरसे तक बन्द पड़ा रहा।

इधर जब मैं सन् १९४३ के अप्रैलमे वीरसेवामन्दिरमे आया तो दूसरे साहित्यिक कार्योंमे प्रवृत्त रहनेसे एक वर्ष तक तो उसमे कुछ भी योग नहीं दे पाया। इसके बाद उसे पुन प्रारम्भ किया और सस्थाके कार्यसे बचे समयमे उसे बढ़ाता गया। मान्यवर मुस्तार सा० ने इसे मालूम करके प्रसन्नता प्रकट करते हुए उसे वीरसेवामन्दिर ग्रन्थमालामे प्रकाशित करनेका विचार प्रदर्शित किया। मैंने उन्हें अपनी सहमति दे दी। और तबसे (लगभग ८, ९ माहसे) अधिकांशत इसीमे अपना पूरा योग दिया। कई रात्रियोंके तो एक-एक दो-दो भी बज गये। इस तरह जिस महत्त्वपूर्ण एवं सुन्दर कृति के प्रति मेरा आरम्भसे सहज अनुराग और आकर्षण रहा है उसे उसके अनुरूपमे प्रस्तुत करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।

संशोधन को कठिनाइया—

साहित्यिक एवं ग्रन्थसम्पादक जानते हैं कि मुद्रित और अमुद्रित दोनों ही तरहकी प्रतियोंमे कैसी और कितनी अशुद्धियाँ रहती हैं। और उनके संशोधनमे उन्हें कितना श्रम और शक्ति लगानी पड़ती है। कितने ही ऐसे स्थल आते हैं जहाँ पाठ त्रुटित रहते हैं और जिनके मिलानेमे दिमाग थककर हैरान हो जाता है। इसी बातका कुछ अनुभव मुझे भी प्रस्तुत न्यायदीपिकाके सम्पादनमे हुआ है। यद्यपि न्यायदीपिकाके अनेक मस्करण हो चुके और एक लम्बे अरसेसे उसका पठन-पाठन है पर उसमे जो त्रुटित पाठ और अशुद्धियाँ चली आ रही हैं उनका सुधार नहीं हो सका। यहाँ मैं सिर्फ कुछ त्रुटित पाठों को बता देना चाहता हूँ जिससे पाठकोंको मेरा कथन असत्य प्रतीत नहीं होगा—

मुद्रित प्रतियों के छूटे हुए पाठ

- पृ० ३६ प० ४ 'सर्वतो वैशद्यात्पारमार्थिक प्रत्यक्ष' (का० प्र०)
 पृ० ६३ प० ४ 'अग्न्यभावे च धूमानुपलम्भे' (सभी प्रतियोंमे)
 पृ० ६४ प० ५ 'सर्वोपसहारवतीमपि'

पृ० ७० प० १ 'अनभिप्रेतस्य साध्यत्वेऽतिप्रसङ्गात्' (सभी प्रतियोमे)

पृ० १०८ प० ७ 'अदृष्टान्तवचन तु' "

अमुद्रित प्रतियो के छूटे हुए पाठ

आरा प्र० प० १४ 'अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्ययगोचरत्व विकल्पप्रसिद्धत्व । तद्व्यविपयत्व प्रमाणविकल्पप्रसिद्धत्वम् ।'

प० प्रति प० ६ 'सहकृताञ्जात रुपिद्रव्यमात्रविषयमवविज्ञान । मन पर्ययज्ञानावरणवीर्यन्तिरायक्षयोपशम ॥'

स्वूल एव सूक्ष्म अशुद्धियाँ तो बहुत हैं जो दूसरे सस्करणोको प्रस्तुत मस्करणके साथ मिलाकर पढनेसे ज्ञात हो सकती हैं । हमने इन अशुद्धियोको दूर करने तथा छूटे हुए पाठो को दूसरी ज्यादा शुद्ध प्रतियोके आधार से मयोजित करनेका यथासाध्य पूरा यत्न किया है । फिर भी सम्भव है कि दृष्टिदोष या प्रमादजन्य कुछ अशुद्धियाँ अभी भी रही हो ।
संशोधनमें उपयुक्त प्रतियों का परिचय—

प्रस्तुत सस्करणमे हमने जिन मुद्रित और अमुद्रित प्रतियोका उपयोग किया है उनका यहाँ क्रमशः परिचय दिया जाता है —

प्रथम संस्करण—आजसे कोई ४६ वर्ष पूर्व सन् १८६६ मे कलापा भरमापा निटवेने मुद्रित कराया था । यह सस्करण अब प्रायः अलभ्य है । इसकी एक प्रति मुस्तारसाहबके पुस्तकभण्डारमे सुरक्षित है । दूसरे मुद्रितोकी अपेक्षा यह शुद्ध है ।

द्वितीय संस्करण—वीर निर्वाण स २४३६ मे प खूवचन्दजी शास्त्री द्वारा सम्पादित और उनकी हिन्दीटीका सहित जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय द्वारा वम्बईमे प्रकट हुआ है । इसके मूल और टीका दोनोंमे स्वलन है ।

तृतीय सस्करण—वीर निर्वाण स० २४४१, ई० सन् १९५५ मे भारतीय जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था काशीकी सनातनी जैनग्रन्थमालाकी ओरसे प्रकाशित हुआ है । इसमे भी अशुद्धियाँ पाई जाती हैं ।

चतुर्थ संस्करण—वीर निर्वाण स० २४६४, ई० सन् १९३८ मे श्रीकुवार्ड पाठ्य-पुस्तकमाला कारजाकी ओरसे मुद्रित हुआ। इसमें अशुद्धियाँ कुछ ज्यादा पाई जाती हैं।

यही चार संस्करण अब तक मुद्रित हुए हैं। इनकी मुद्रितार्थ सुसजा रखी है। शेष अमुद्रित—हस्तलिखित-प्रतियोका परिचय इस प्रकार है—

द—यह देहलीके नये मन्दिरकी प्रति है। इसमें २३ पत्र हैं और प्रत्येक पत्रमें प्रायः २६-२९ पंक्ति हैं। उपयुक्त प्रतियोमे सबसे अधिक प्राचीन और शुद्ध प्रति यही है। यह वि० स० १७४६ के आश्विनमासके कृष्णपक्षकी नवमी तिथिमें प० जीतसागरके द्वारा लिखी गई है। इस प्रतिमें वह अन्तिम श्लोकभी है। जो आरा प्रतिके अलावा दूसरी प्रतियोमे नहीं पाया जाता है। ग्रन्थकी श्लोकसंख्या सूचक 'अथस० १००० हजार १' यह शब्दभी लिखे हैं। इस प्रतिकी हमने देहली अर्थसूचक द सज्ञा रखी है। यह प्रति हमें वावू पन्नालालजी अग्रवालकी कृपासे प्राप्त हुई।

आ—यह आराके जैनमिह्रात भवनकी प्रति है जो वहाँ न० २२/२ पर दर्ज है। इसमें २७॥ पत्र हैं। प्रतिमें लेखनादिका काल नहीं है। 'मद्गुरो' इत्यादि अन्तिम श्लोकभी इस प्रतिमें मौजूद हैं। पृ० २ और पृ० २ पर कुछ टिप्पणके वाक्य भी दिये हुए हैं। यह प्रति मित्रवर प० नेमीचन्द्रजी शास्त्री ज्योतिषाचार्य द्वारा प्राप्त हुई। इसकी आरा अर्थ-सूचक आ सज्ञा रखी है।

म—यह मथुराके ऋषभब्रह्मचर्याश्रम चौरासीकी प्रति है। इसमें १३॥ पत्र हैं। वि० स० १९५२ में जयपुर निवासी मुन्नालाल अग्रवाल के द्वारा लिखी गई है। इसमें प्रारम्भके दो तीन पत्रोंपर कुछ टिप्पण भी है। आगे नहीं हैं। यह प्रति मेरे मित्र प० राजवरलालजी व्याकरणा-चार्य द्वारा प्राप्त हुई। इस प्रतिका नाम मथुराबोधक म रखी है।

१ 'मवत् १७४६ वर्षे आश्विनमासे कृष्णपक्षे नवम्या तिथी बुध-वासरे लिखित श्रीकुसुमपुरे प० श्री जीतमागरेण।'—पत्र २३।

प—यह प परमानन्दजीकी प्रति है। जो १६॥ पत्रो मे समाप्त है। वि स १९५७ मे सीताराम शास्त्रीकी लिखी हुई है। इसकी प सज्ञा रक्खी है।

ये चारो प्रतियाँ प्रायः पुष्ट कागजपर हैं और अच्छी दगामे हैं।

प्रस्तुत संस्करणकी आवश्यकता और विशेषताएँ

पहिले संस्करण अधिकांश स्वलिखित और अशुद्ध थे तथा न्यायदीपिका की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। बंगाल संस्कृत एसोसिएशन कलकत्ताकी जैनन्यायप्रथमा परीक्षामे वह बहुत समयसे निहित है। इधर माणिकचन्द्र परीक्षालय और महासभाके परीक्षालयमे भी विशारदपरीक्षा मे सन्निविष्ट है। ऐसी हालतमे न्यायदीपिका जैसी सुन्दर रचनाके अनुरूप उसका शुद्ध एवं सर्वोपयोगी संस्करण निकालनेकी अतीव आवश्यकता थी। उसीकी पूर्तिका यह प्रस्तुत प्रयत्न है। मैं नहीं कह सकता कि कहाँ तक इसमे सफल हुआ हूँ फिर भी मुझे इतना विश्वास है कि इसमें अनेकोको लाभ पहुँचेगा और जैन पाठशालाओंके अध्यापकोके लिये बड़ी सहायक होगी। क्योंकि इसमे कई विशेषताएँ हैं।

पहली विशेषता तो यह है कि मूलग्रन्थको शुद्ध किया गया है। प्राप्त सभी प्रतियोंके आधारसे अशुद्धियोंको दूर करके सबसे अधिक शुद्ध पाठको मूलमे रखा है और दूसरी प्रतियों के पाठान्तरोको नीचे द्वितीय फुटनोटमे जहाँ आवश्यक मालूम हुआ दे दिया है। जिससे पाठकोको शुद्ध अशुद्धि जात हो सके। देहलीकी प्रतिको हमने सबसे ज्यादा प्रमाणभूत और शुद्ध समझा है। इसलिये उसे आदर्श मानकर मुख्यतया उसके ही पाठोको प्रथम स्थान दिया है। इसलिये मूलग्रन्थको अधिकसे अधिक शुद्ध बनानेका यथेष्ट प्रयत्न किया गया है। अवतरणवाक्योंके स्थानको भी ढूँढकर [] ऐसे ब्रैकेटमे दे दिया है अथवा खाली छोड़ दिया है।

दूसरी विशेषता यह है कि न्यायदीपिकाके कठिन स्थलोका खुलासा करनेवाले विवरणात्मक एवं सकलनात्मक 'प्रकाशाख्य' संस्कृतटिप्पणीकी साथमे योजना की गई है जो विद्वानो और छात्रो के लिये खास उपयोगी सिद्ध होगा

तीसरी विशेषता अनुवादकी है। अनुवाद को मूलानुगामी और सुन्दर बनानेकी पूरी चेष्टा की है। इससे न्यायदीपिकाके विषयको हिन्दीभाषा-भाषी भी समझ सकेंगे और उससे यथेष्ट लाभ उठा सकेंगे।

चौथी विशेषता परिशिष्टोकी है जो तुलनात्मक अध्ययन करनेवालों के लिये और सर्वके लिये उपयोगी है। सब कुल परिशिष्ट हैं जिनमें न्याय-दीपिकागत अवतरणवाक्यो, ग्रन्थो, ग्रन्थकारो आदिका सकलन किया गया है।

पाँचवी विशेषता प्रस्तावना की है जो इस संस्करणकी महत्वपूर्ण और सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है। इसमें ग्रन्थकार २२ विषयोका तुलनात्मक एवं विकासक्रमसे विवेचन करने तथा फुटनोटोंमें ग्रन्थान्तरोके प्रमाणोंको देनेके साथ ग्रन्थमें उल्लिखित ग्रन्थो और ग्रन्थकारो तथा अभिनय धर्मभूषणका ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक परिचय विस्तृतरूपमें कराया गया है। जो सभी के लिये विशेष उपयोगी है। प्राक्कथन आदि की भी इसमें सुन्दर योजना हो गई है। इस तरह यह संस्करण कई विशेषताओंसे पूर्ण हुआ है।

आभार—

अन्तमें मुझे अपने विशिष्ट कर्तव्यका पालन करना और शेष है। वह है आभार प्रकाशनका। मुझे इसमें जिन महानुभावोंसे कुछ भी सहायता मिली है मैं कृतज्ञतापूर्वक उन सबका नामोल्लेख सहित आभार प्रकट करता हूँ—

गुरुवर्य श्रीमान् प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने मेरे पत्रादिका उत्तर देकर पाठान्तर देने आदिके विषयमें अपना मूल्यवान् परामर्श दिया। गुरुवर्य और सहाध्यायी माननीय प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य-ने प्रश्नोका उत्तर देकर मुझे अनुगृहीत किया। गुरुवर्य श्रद्धेय प० सुख-लालजी प्रज्ञानयनका मैं पहलेसे ही अनुगृहीत था और अब उनकी सम्पादनदिशा तथा विचारणा से मैंने बहुत लाभ लिया। माननीय प०

वशीधरजी व्याकरणाचार्यने सस्कृत टिप्पणको सुनकर आवश्यक सुझाव देने तथा मेरी प्रार्थना एव लगातार प्रेरणासे प्राक्कथन लिख देनेकी कृपा की और जिन अनेकान्तादि विषयोपर मैं प्रकाश डालनेसे रह गया था उनपर आपने सक्षेपमे प्रकाश डालकर मुझे सहायता पहुँचाई है। मान्यवर मुख्तारसा० की धीर प्रेरणा और सत्परामर्श तो मुझे मिलते ही रहे। प्रियमित्र प० अमृतलालजी जैनदर्शनाचार्यने भी मुझे सुझाव दिये। सहयोगी मित्र प० परमानन्दजी शास्त्रीने अभिनवो और धर्मभूषणोका सकलन करके मुझे दिया। बा० पन्नालालजी अग्रवालने हिन्दीकी विषय-सूची बनानेमे सहायता की बा० मोतीलालजी और ला० जुगलकिशोरजीने 'मिडियावल जैनिज्म'के अंग्रेजी लेखका हिन्दीभाव समझाया। उपान्तमे मैं अपनी पत्नी सौ० चमेलीदेवीका भी नामोल्लेख कर देना उचित समझता हूँ जिसने आरम्भमे ही परिशिष्टादि तैयार करके मुझे सहायता की। मैं इन सभी सहायको तथा पूर्वोल्लिखित प्रतिदाताओका आभार मानता हूँ। यदि इनकी मूल्यवान् सहायताएँ न मिली होती तो प्रस्तुत सस्करणमे जो विशेषताएँ आई है वे शायद न आ पाती। भविष्य मे भी उनसे इसी प्रकारकी सहायता देते रहनेकी आशा करता हूँ।

अन्तमे जिन अपने सहायकोका नाम भूल रहा हूँ उनका और जिन ग्रथकारो, सम्पादको, लेखको आदिके ग्रथो आदिसे सहायता ली गई है, उनका भी आभार प्रकाशित करता हूँ। इति शम्।

ता० ६-४-४५
वीर सेवामन्दिर, सरसावा
हाल देहली।

} सम्पादक
दरबारीलाल जैन, कोठिया
न्यायाचार्य, न्यायतीर्थ, जैनदर्शनशास्त्री

सम्पादकीय

(द्वितीय सस्करण)

सन् १९४५ मे वीर सेवामन्दिर मे न्यायदीपिका का प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ था और अब तेईस वर्ष बाद उसका दूसरा सस्करण उसके द्वाग ही प्रकट हो रहा है, यह प्रसन्नता की बात है प्रथम सस्करण कई वर्ष पूर्व ही अप्राप्य हो गया था और उसके पुन प्रकाशन की प्रेरणा हो रही थी। अत इस द्वितीयसस्करण के प्रकाशन से अभ्यासियो और जिज्ञामुओ की ग्रन्थ की अनुपलब्धि के कारण उत्पन्न कठिनाई एव ज्ञान-बाधा निश्चय ही दूर हो जायेगी।

वीर सेवामन्दिर का यह प्रकाशन अधिक लोकप्रिय ब्यो हुआ, यह तो इस ग्रन्थ के अध्येता स्वय जान सकते है। किन्तु यहाँ जो उल्लेखनीय है वह यह कि इसकी प्रस्तावना, सशोधन, टिप्पण और परिशिष्टो से उन्हे भी लाभ हुआ है जो कालेजो और विश्वविद्यालयो मे दर्शन-विभाग के अध्यक्ष या प्राध्यापक हैं और जिन्हे जैन तर्कशास्त्र पर लेक्चर (व्याख्यान) देने पडते हैं। जयपुर मे सन् १९३५ मे अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का अधिवेशन हुआ था। इसमे मैं भी हिन्दू-विश्वविद्यालय की ओर से सम्मिलित हुआ था। एक गोष्ठी के अध्यक्ष थे डा० राजेन्द्रप्रसाद कानपुर। सभी के परिचय के साथ मेरा भी परिचय दिया गया। गोष्ठी के बाद डा० राजेन्द्रप्रसाद बोले—‘न्याय-दीपिका का सम्पादन आपने ही किया है?’ मेरे ‘हाँ’ कहने पर उसकी प्रशंसा करने लगे और सम्पादन के सम्बन्ध मे जो कल्पनाए कर रखी थी उन्हे भी प्रकट किया। इस उल्लेख से इतना ही अभिप्रेय है कि वीरसेवामन्दिर का यह सस्करण जैनाभ्यासियो के अतिरिक्त जैनैतर

अध्येताओं को भी उपयोगी और लाभप्रद सिद्ध हुआ है । इस दृष्टि से ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण आवश्यक था ।

इसके पुनः प्रकाशन से पूर्व वीरसेवामन्दिर के विद्वान् पण्डित परमानन्द जी शास्त्री ने इसे मेरे पास पुनरावलोकन के लिए भेज दिया था, पर मैं अपने शोध-कार्यमें व्यस्त रहनेसे उसे आपाततः न देख सका । परन्तु हाँ, वीरसेवामन्दिर के ही वरिष्ठ विद्वान् पण्डित बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री ने अवश्य उसे परिश्रम पूर्वक देखा है और मूल तथा अनुवाद के प्रूफ-शोधन भी करने की कृपा की है । इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ । साथ ही वीरसेवामन्दिर के सचालको तथा पण्डित परमानन्द जी शास्त्री का भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने इसका पुनः प्रकाशन करके और प्रस्तावना आदि का प्रूफरीडिंग करके अध्येताओं को लाभान्वित किया है ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

२६ जून १९६८

दरबारीलाल जैन, कोठिया
(न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य एम ए)

प्रस्तावनागत विषयावली

— ० —

विषय

पृष्ठ

१ न्यायदीपिका और अभिनव धर्मभूषण

१ न्यायदीपिका	१
(क) जैनन्यायसाहित्य मे न्यायदीपिकाका स्थान और महत्व	१
(ख) नामकरण	२
(ग) भाषा	३
(घ) रचना-शैली	३
(ङ) विषय-परिचय	
१ मङ्गलाचरण	६
२ शास्त्रकी त्रिविध प्रवृत्ति	६
३ लक्षण का लक्षण	१०
४ प्रमाण का सामान्य लक्षण	१२
५ धारावाहिक ज्ञान	१७
६ प्रामाण्य-विचार	२०
७ प्रमाण के भेद	२१
८ प्रत्यक्ष का लक्षण	२७
९ अर्थ और आलोक की कारणता	२८
१० सन्निकर्ष	३२
११ साव्यवहारिक प्रत्यक्ष	३२
१२ मुख्य प्रत्यक्ष	३३

विषय	पृष्ठ
१३ सर्वज्ञता	३३
१४ परोक्ष	३७
१५ स्मृति	३६
१६ प्रत्यभिज्ञान	४०
१७ तर्क	४२
१८ अनुमान	४४
१९ अवयवमान्यता	४६
२० हेतुलक्षण	४८
२१ हेतु-भेद	५८
२२ हेत्वाभास	६१

न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

१ न्यायविन्दु	६६
२ दिग्भाग	६७
३ शालिकानाथ	६६
४ उदयन	६६
५ वामन	७०
६ तत्त्वार्थसूत्र	७१
७ आप्तमीमांसा	७२
८ महाभाष्य	७३
९ जैनेन्द्रव्याकरण	७६
१० आप्तमीमांसाविवरण	७७
११ राजवार्त्तिक और भाष्य	७८
१२ न्यायविनिश्चय	७६
१३ परीक्षामुख	८०

विषय	पृष्ठ
१४ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और भाष्य	८१
१५ प्रमाणपरीक्षा	८२
१६ पत्र-परीक्षा	८३
१७ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड	८३
१८ प्रमाणनिर्णय	८४
१९ कारुण्यकलिका	८४
२० स्वामी समन्तभद्र	७४
२१ भट्टाकलङ्कदेव	८६
२२ कुमारनन्दि भट्टारक	८७
२३ माणिक्यनन्दि	८७
२४ त्यागद्विद्यापति	८८

अभिनव धर्मभूषण

१ प्रासङ्गिक	८६
२ गन्यकार और उनके अभिनव तथा यति विशेषण	८६
३ धर्मभूषण नामके दूसरे विद्वान्	९१
४ गन्यकार धर्मभूषण और उनकी गुरुपरम्परा	९२
५ नमन-विचार	९६
६ व्यक्तित्व और कार्य	१००
७ उपसंहार	१०१

प्रस्तावना

— ❀ —

न्यायदीपिका और अभिनव धर्मभूषण

किसी ग्रन्थ की प्रस्तावना या भूमिका लिखनेका उद्देश्य यह होता है कि उस ग्रन्थ और ग्रन्थकार एव प्रासङ्गिक अन्याय विषयोंके सम्बन्धमे ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला जाय, जिससे दूसरे अनेक सम्भ्रान्त पाठकों को उस विषय की यथेष्ट जानकारी सहजमे प्राप्त हो सके ।

आज हम जिस ग्रन्थरत्नकी प्रस्तावना प्रस्तुत कर रहे हैं वह 'न्याय-दीपिका' है । यद्यपि न्यायदीपिका के कई संस्करण निकल चुके हैं और प्रायः सभी जैन शिक्षा-संस्थाओं मे उसका अरसे से पठन-पाठन के रूपमे विशेष समादर है । किन्तु अभी तक हम ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नामादि सामान्य परिचय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते हैं—उनका ऐतिहासिक एव प्रामाणिक अविकल परिचय अब तक सुप्राप्त नहीं है । अतः न्यायदीपिका और अभिनव धर्मभूषणका यथासम्भव सप्रमाण पूरा परिचय कराना ही प्रस्तुत प्रस्तावनाका मुख्य लक्ष्य है । पहले न्यायदीपिका के विषयमे विचार किया जाता है ।

१. न्याय-दीपिका

(क) जैन न्यायसाहित्य मे न्यायदीपिका का स्थान और महत्त्व—

श्री अभिनव धर्मभूषण यतिकी प्रस्तुत 'न्यायदीपिका' संक्षिप्त एव अत्यन्त सुविशद और महत्वपूर्ण कृति है । इसे जैनन्यायकी प्रथमकोटिकी भी रचना कही जाय तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि जैनन्यायके अभ्या-

सियोंके लिए मस्कृत भाषामे निबद्ध सुवोध और मम्बद्ध न्यायतत्त्वका सरलता मे विगद विवेचन करनेवाली प्राय यह अकेली रचना है, जो पाठकके हृदयपर अपना सहज प्रभाव अङ्कित करती है। ईमाकी मतरहवी गताब्दिमे हुए और 'जैनतर्कभाषा' आदि प्रांठ रचनाओंके रचयिता श्वेताम्बरीय विद्वान् उपाध्याय यशोविजय जैसे बहुश्रुत भी इसके प्रभावने प्रभावित हुए हैं। उन्होंने अपनी दार्शनिक रचना जैनतर्कभाषामे न्याय-दीपिकाके अनेक स्थलोको ज्योका त्यो आनुपूर्वीके साथ अपना लिया है'। वस्तुतः न्यायदीपिकामे जिम खूबी के साथ मक्षेपमे प्रमाण और नयका सुस्पष्ट वर्णन किया गया है वह अपनी खास विशेषता रखता है। और इसलिए यह सक्षिप्त कृति भी न्यायस्वरूप जिज्ञासुओंके लिये बड़े महत्त्व और आकर्षणकी प्रिय वस्तु बन गई है। अतः न्यायदीपिकाके सम्बन्धमे इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह जैनन्यायके प्रथमश्रेणीमे रखे जानेवाले ग्रन्थोंमे स्थान पाने के सर्वथा योग्य है।

(ख) नामकरण—

उपलब्ध ऐतिह्यसामग्री और चिन्तनपरसे मालूम होता है कि दर्शन-शास्त्रके रचनायुगमे दार्शनिक ग्रन्थ, चाहे वे जैनेतर हो या जैन हो, प्राय 'न्याय' शब्दके साथ रचे जाते थे। जैसे न्यायदर्शनमे न्यायसूत्र न्याय-वार्तिक, न्यायमजरी, न्यायकलिका, न्यायसार, न्यायकुसुमाञ्जलि और न्यायलीलावती आदि, बौद्धदर्शनमे न्याय-प्रवेश, न्याय-मुख, न्याय-विन्दु आदि और जैनदर्शनमें न्यायावतार, न्यायविनिश्चय, न्यायकुमुदचन्द्र आदि पाये जाते हैं। पार्यसारथिकी शास्त्रदीपिका जैसे दीपिकान्त ग्रन्थोंके भी रचे जानेकी उस समय पद्धति रही है। सम्भवतः अभिनव धर्मभूषणने इन ग्रन्थोंको दृष्टिमे रखकर ही अपनी प्रस्तुत कृतिका नाम 'न्यायदीपिका' रक्खा

जान पड़ता है। और यह अन्वर्थ भी है, क्योंकि इसमें प्रमाणनयात्मक न्याय का प्रकाशन किया गया है। अतः न्यायदीपिकाका नामकरण भी अपना वैशिष्ट्य स्थापित करता है और वह उसके अनुरूप है।

(ग) भाषा—

यद्यपि न्यायग्रन्थोंकी भाषा अधिकांशतः दुरूह और गम्भीर होती है, जटिलताके कारण उनमें साधारणबुद्धियोंका प्रवेश सम्भव नहीं होता। पर न्यायदीपिकाकारकी यह कृति न दुरूह है और न गम्भीर एवं जटिल है। प्रत्युत इसकी भाषा अत्यन्त प्रसन्न, सरल और विना किसी कठिनाई के अर्थबोध करानेवाली है। यह बात भी नहीं कि ग्रन्थकार वैसी रचना कर नहीं सकते थे, किन्तु उनका विशुद्ध लक्ष्य अकलङ्कादि रचित उन गम्भीर और दुरवगाह न्यायविनिश्चय आदि न्याय-ग्रन्थोंमें मन्दजनोकोभी प्रवेश करानेका था। इस बातको स्वयं धर्मभूषणजीने ही बड़े स्पष्ट और प्राञ्जल शब्दोंमें—मङ्गलाचरण पद्य तथा प्रकरणारम्भके प्रस्तावना वाक्यों में कहा है^१। भाषाके मौष्ठ्यसे समूचे ग्रन्थकी रचना भी प्रगस्त एवं हृद्य हो गई है।

(घ) रचना-शैली—

भारतीय न्याय-ग्रन्थोंकी ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उनकी रचना हमें तीन प्रकारकी उपलब्ध होती है—१ सूत्रात्मक, २ व्याख्यात्मक और ३ प्रकरणात्मक। जो ग्रन्थ संक्षेपमें गूढ अल्पाक्षर और सिद्धान्ततः मूलके प्रतिपादक है वे सूत्रात्मक हैं। जैसे—वैशेषिकदर्शनसूत्र, न्यायसूत्र, परीक्षा-मुखसूत्र आदि। और जो किसी गद्य पद्य या दोनोरूप मूलका व्याख्यान (विवरण, टीका, वृत्ति) रूप है वे व्याख्यात्मक ग्रन्थ हैं। जैसे—प्रशस्त-

पादभाष्य, न्यायभाष्य, प्रमेयकमलमातृण्ड आदि । तथा जो किसी मूलके व्याख्या-ग्रन्थ न होकर अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषय का स्वतंत्रभावने वर्णन करते हैं और प्रसङ्गानुसार दूसरे विषयों का भी कथन करते हैं वे प्रकरणात्मक ग्रन्थ हैं । जैसे — प्रमाण-समुच्चय, न्यायविन्दु, प्रमाणसंग्रह, आप्तपरीक्षा आदि । ईश्वरकृष्णकी सात्यकारिका और विघ्ननाथ पञ्चाननकी कारिकावली आदि कारिकात्मक ग्रन्थ भी दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय, सिद्धसेनके न्यायावतार और अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रय आदिकी तरह प्रायः प्रकरण ग्रन्थ ही हैं, क्योंकि वे भी अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषयका स्वतंत्रभावसे वर्णन करते हैं और प्रसङ्गोपात्त दूसरे विषयोंका भी कथन करते हैं । अभिनव धर्मभूषणकी प्रस्तुत न्यायदीपिका प्रकरणात्मक रचना है । इसमें ग्रन्थकर्त्ता ने अपने अंगीकृत वर्णनीय विषय प्रमाण और नयका स्वतन्त्रतासे वर्णन किया है, वह किसी गद्य या पद्यरूप मूलकी व्याख्या नहीं है । ग्रन्थकार ने इसे स्वयं भी प्रकरणात्मक ग्रन्थ माना है^१ । इस प्रकार के ग्रन्थ रचनेकी प्रेरणा उन्हें विद्यानन्दकी 'प्रमाण-परीक्षा', वादिराजके 'प्रमाण-निर्णय' आदि प्रकरण-ग्रन्थोंसे मिली जान पड़ती है ।

ग्रन्थके प्रमाण-लक्षण-प्रकाश, प्रत्यक्ष-प्रकाश और परोक्ष-प्रकाश ये तीन प्रकाश करके उनमें विषय-विभाजन उसी प्रकारका किया गया है जिस प्रकार प्रमाण-निर्णयके तीन निर्णयो (प्रमाण-लक्षण-निर्णय, प्रत्यक्ष-निर्णय और परोक्ष-निर्णय) में हैं । प्रमाणनिर्णयसे प्रस्तुत ग्रन्थ में इतनी विशेषता है कि आगमके विवेचन का इसमें अलग प्रकाश नहीं रक्खा गया है जब कि प्रमाणनिर्णयमें आगमनिर्णय भी है । इसका कारण यह है कि वादिराजाचार्यने परोक्षके अनुमान और आगम ये दो भेद किये हैं तथा अनुमानके भी गौण और मुख्य अनुमान ये दो भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क-को गौण अनुमान प्रतिपादित किया है और इन तीनों के वर्णन को तो

परोक्ष-निर्णय तथा परोक्षके ही दूसरे भेद आगमके वर्णन को आगमनिर्णय नाम दिया है^१ । आ० धर्मभूषणने आगम जब परोक्ष है तब उसे परोक्ष-प्रकाश मे ही सम्मिलित कर लिया है—उमके वर्णन को उन्होने स्वतन्त्र प्रकाश का रूप नहीं दिया । तीनों प्रकाशोंमे स्थूलरूपसे विषय-वर्णन इस प्रकार है —

पहले प्रमाणसामान्यलक्षण-प्रकाशमे, प्रथमत उद्देशादि तीनके द्वारा ग्रन्थ-प्रवृत्तिका निर्देश, उन तीनों के लक्षण, प्रमाणसामान्य का लक्षण, सशय, विपर्यय, अनध्यवसायका लक्षण, इन्द्रियादिको को प्रमाण न हो सकनेका वर्णन, स्वत परत प्रामाण्यका निरूपण और बौद्ध, भाट्ट, प्राभा-कर तथा नैयायिकोंके प्रमाण सामान्यलक्षणोंकी आलोचना करके जैनमत-सम्मत सविकल्पक अग्रहीतग्राही 'सम्यग्ज्ञानत्व' को ही प्रमाणसामान्य का निर्दोष लक्षण स्थिर किया गया है ।

दूसरे प्रत्यक्ष-प्रकाशमे स्वकीय प्रत्यक्षकालक्षण, बौद्ध और नैयायिकों-के निर्विकल्पक तथा सन्निकर्ष प्रत्यक्षलक्षणों की समालोचना, अर्थ और आलोकमे ज्ञानके प्रति कारणताका निराश, विषयकी प्रतिनियामिका योग्य-ताका उपादान, तदुत्पत्ति और तदाकारता का निराकरण, प्रत्यक्षके भेद-प्रभेदोंका निरूपण, अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका समर्थन और सर्वज्ञसिद्धि आदि-का विवेचन किया गया है ।

तीसरे परोक्ष-प्रकाशमे, परोक्षका लक्षण, उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाँच भेदोंका विशद वर्णन, प्रत्यभिज्ञानके एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदिका प्रमाणांतररूपसे उपपादन करके उनका प्रत्यभिज्ञानमे ही अन्तर्भाव होनेका सयुक्तिक समर्थन, साध्य-का लक्षण, साधनका 'अन्यथानुपपन्नत्व' लक्षण, त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्यका निराकरण, अनुमानके स्वार्थ और परार्थ दो भेदोंका कथन, हेतु-भेदों के

उदाहरण, हेत्वाभासोका वर्णन, उदाहरण, उदाहरणाभास, उपनय, उपनया-भाम, निगमन, निगमनाभास आदि अनुमान के परिवार का अच्छा कथन किया गया है। अन्तमे आगम और नयका वर्णन करते हुए अनेकान्त तथा सप्तभगीका भी संक्षेप में प्रतिपादन किया गया है। इस तरह यह न्यायदीपिकामें वर्णित विषयोका स्थूल एवं बाह्य परिचय है। अब उसके आम्यन्तर प्रमेय-भागपर भी थोड़ासा तुलनात्मक विवेचन कर देना हम उपयुक्त समझते हैं। ताकि न्यायदीपिका के पाठको के लिए उसमें चर्चित ज्ञातव्य विषयो का एकत्र यथासम्भव परिचय मिल सके।

(घ) विषय-परिचय—

१ मङ्गलाचरण—

मङ्गलाचरणके सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य अश तो हिन्दी अनुवाद के प्रारम्भ में कहा जा चुका है। यहाँ उसके शेष भाग पर कुछ विचार किया जाता है।

यद्यपि भारतीय वाङ्मयमें प्रायः सभी दर्शनकारोंने मङ्गलाचरणको अपनाया है और अपने अपने दृष्टिकोणसे उसका प्रयोजन एवं हेतु बताते हुए समर्थन किया है। पर जैनदर्शनमें जितना विस्तृत, विगद और सूक्ष्म चिन्तन किया गया है उतना प्रायः अन्यत्र नहीं मिलता। तिलोय-पण्णत्ति^१ में^२ यतिवृषभाचार्यने और 'धवला' में^३ श्री वीरनसस्वामी ने मङ्गलका बहुत ही सागोपाग और व्यापक वर्णन किया है। उन्होंने धातु, निक्षेप, नय, एकार्य, निरुक्ति और अनुयोग के द्वारा मङ्गल का निरूपण करनेका निर्देश करके उक्त छहों के द्वारा उसका व्याख्यान किया है। 'मणि' धातुसे 'अलच्' प्रत्यय करनेपर मङ्गल शब्द निष्पन्न होता है। निक्षेपकी अपेक्षा कथन करते हुए लिखा है कि तद्व्यतिरिक्त द्रव्य मङ्गलके दो

भेद है—कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमङ्गल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमङ्गल ।
 उनमें पुण्यप्रकृति-तीर्थकर नामकर्म कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमङ्गल है,
 क्योंकि वह लोककल्याणरूप माङ्गल्यका कारण है । नोकर्मतद्व्यतिरिक्त
 द्रव्यमङ्गल-के दो भेद हैं—लौकिक और लोकोत्तर । उनमें लौकिक—
 लोक प्रसिद्ध मङ्गल तीन प्रकारका है—सचित्त, अचित्त और मिश्र ।
 इनमें सिद्धार्थ^१ अर्थात् पीले सरसो, जलसे भरा हुआ पूर्ण कलश, वन्दन-
 माला, छत्र, श्वेतवर्ण और दर्पण आदि अचित्त मङ्गल है । और बाल-
 कन्या तथा श्रेष्ठ जातिका घोड़ा आदि सचित्त मङ्गल हैं । अलङ्कार
 सहित कन्या आदि मिश्र मङ्गल है । लोकोत्तर-अलौकिक मङ्गलके भी
 तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र । अरहन्त आदिका अनादि
 अनन्त स्वरूप जीव-द्रव्य सचित्त लोकोत्तर मङ्गल है । कृत्रिम, अकृत्रिम
 चैत्यालय आदि अचित्त लोकोत्तर मङ्गल हैं । उक्त दोनों सचित्त और
 अचित्त मंगलोको मिश्र मङ्गल कहा है । आगे मङ्गलके प्रतिबोधक
 पर्यायनामोको^२ बतलाकर मङ्गलकी निश्क्ति^३ बताई गई है । जो पापरूप
 मलको गलावे—विनाश करे और पुण्य-मुखको लावे प्राप्त करावे उसे
 मङ्गल कहते हैं । आगे चलकर मङ्गलका प्रयोजन बतलाते हुए कहा

१ सिद्धत्य-पुण्ण-कुभो वदणमाला य मगल छत्त ।

सेदो वण्णो आदसणो य कण्णा य जच्चस्सो ॥—धवला १-१-१ पृ २७

२ देखो धवला १-१-१, पृ ३१ । तिलो० प० गा० १-८ ।

३ 'मल गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशोवयति विध्वसयति इति
 मगलम् ।' • 'अथवा, मग सुख तल्लाति आदत्त इति वा मङ्गलम् ।'
 धवला० १-१-१, पृ० ३२-३३ ।

'गालयदि विणासयदे घादेदि दहेहि हति सोधयदे ।

विद्धसेदि मलाइ जम्हा तम्हा य मगल भणिद ॥'—तिलो० प० १-६ ।

'अहवा मग सोक्ख लादि हु गेण्हेदि मगल तम्हा ।

एदेण कज्जसिद्धि मगइ गच्छेदि गथकत्तारो ॥—तिलो० प० १-१५ ।

गया है' कि शास्त्रके आदि, मध्य और अन्तमे जिनेन्द्रका गुणस्तवनरूप मङ्गलका कथन करनेसे समस्त विघ्न उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सूर्योदयसे समस्त अन्वकार । इनके साथ ही तीनो स्थानोमे मङ्गल करनेका पृथक् पृथक् फल भी निर्दिष्ट किया है और लिखा है^१ कि शास्त्र के आदिमे मङ्गल करनेमे शिष्य सरलतासे शास्त्रके पारगामी बनते हैं । मध्यमे मङ्गल करनेसे निर्विघ्न विद्या प्राप्ति होती है और अन्तमे मङ्गल करनेसे विद्या-फलकी प्राप्ति होती है । इस प्रकार जैनपरम्पराके दिगम्बर साहित्यमे^२ शास्त्रमे मङ्गल करनेका सुस्पष्ट उपदेश मिलता है । श्वेताम्बर आगम साहित्यमे भी मङ्गलका विधान पाया जाता है । दशवैकालिक-निर्युक्ति (गा० २) मे त्रिविध मंगल करनेका निर्देश है । विशेषावश्यकभाष्य (गा० १२-१४) मे मंगलके प्रयोजनोमे विघ्नविनाश और महाविद्याकी प्राप्तको बतलाते हुए आदि मंगलका निर्विघ्नरूपसे शास्त्रका पारगत होना, मध्यमंगलका निर्विघ्नतया शास्त्र-समाप्ति की कामना और अन्त्यमंगलका शिष्य-प्रशिष्यो-मे शास्त्र-परम्पराका चालू रहना प्रयोजन बतलाया गया है । बृहत्कल्प-भाष्य (गा० २०) मे मंगलके विघ्नविनाशके साथ शिष्यमे शास्त्रके प्रति श्रद्धाका होना आदि अनेक प्रयोजन गिनाये गये हैं । हिन्दी अनुवादके प्रारम्भमे यह कहा ही

१ 'मत्थादि-मज्झ अवसाणएमु जिणतोत्तमगलुच्चारो ।

णासइ णिस्सेसाइ विग्घाड रवि व्व तिमिराइ ॥'—ति० प० १-३१ ।

२ 'पढमे मंगलवयणे मिस्सा सत्यस्स पारगा होति ।

मज्झिम्मे णीविग्घ विज्जा विज्जा फल चरिमे ॥

—तिलो० प० १-२६ । धवला १-१-१, पृ० ४० ।

३ यद्यपि 'कपायपाहुड' और 'चूणिमूत्र' के प्रारम्भमे मंगल नहीं किया है तथाहि वहाँ मंगल न करने का कारण यह है कि उन्हें स्वयं मंगल रूप मान लिया गया है ।

जा चुका है कि हरिभद्र और विद्यानन्द आदि तार्किकोंने अपने तर्क-ग्रन्थों में भी मगल करने का समर्थन और उसके विविध प्रयोजन बतलाये हैं ।

उपर्युक्त यह मगल मानसिक, वाचिक और कायिकके भेद से तीन प्रकार का है । वाचिक मगल भी निबद्ध और अनिवद्धरूप से दो तरह का है^१ । जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा श्लोकादिककी रचनारूपसे इष्ट-देवता-नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है वह वाचिक निबद्ध मगल है और जो श्लोकादिककी रचना के बिना ही जिनेन्द्र-गुण-स्तवन किया जाता है वह अनिवद्ध मगल है ।

प्रकृत न्यायदीपिकामें अभिनव धर्मभूषणने भी अपनी पूव परम्पराका अनुसरण किया है और मगलाचरणको निबद्ध किया है ।

२ शास्त्रकी त्रिविध प्रवृत्ति—

शास्त्रकी त्रिविध (उद्देश, लक्षण-निर्देश और परीक्षारूप) प्रवृत्ति-का कथन सबसे पहले वात्स्यायनके 'न्याय भाष्य' में दृष्टिगोचर होता है^२ । प्रशस्तपादभाष्यकी टीका 'कन्दली' में श्रीधरने उस त्रिविध प्रवृत्तिमें उद्देश और लक्षणरूप द्विविध प्रवृत्तिको माना है और परीक्षाको अनियत कहकर निकाल दिया है^३ । इसका कारण यह है कि श्रीधरने जिस प्रशस्तपाद भाष्यपर अपनी कदली टीका लिखी है वह भाष्य और उस भाष्यका आवारभूत वैशेषिकदर्शनसूत्र पदार्थों के उद्देश और लक्षणरूप है, उनमें परीक्षा नहीं है। पर वात्स्यायनने जिस न्यायसूत्रपर अपना न्यायभाष्य लिखा है उसके सभी सूत्र उद्देश, लक्षण और परीक्षात्मक हैं । इसलिये वात्स्या-

१ देखो, धवला १-१-१, पृ० ४१ और आप्तपरीक्षा पृ० ३ ।

२ न्यायभाष्य पृ० १७, न्यायदीपिका परिशिष्ट पृ० २३६ । 'पदार्थव्युत्पादनप्रवृत्तस्य शास्त्रस्य उभयथा प्रवृत्ति—उद्देशो लक्षणञ्च । परीक्षा-यास्तु न नियम ।—कन्दली पृ० २६ ।

यनने त्रिविध प्रवृत्ति और श्रीधर ने द्विविध प्रवृत्ति को स्थान दिया है । शास्त्र-प्रवृत्तिके चौथे भेदरूपसे विभाग को भी माननेका एक पक्ष रहा है जिसका उल्लेख सर्वप्रथम उद्योतकर^१ और जयन्तभट्टने^२ किया है और उसे उद्देशमे ही शामिल कर लेनेका विधान किया है । आ० प्रभाचन्द्र^३ और हेमचन्द्र^४ भी यही कहते हैं । इस तरह वात्स्यायनके द्वारा प्रदर्शित त्रिविध प्रवृत्ति का ही पक्ष स्थिर रहता है । न्यायदीपिकामे प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्र के द्वारा अनुसृत यही त्रिविध प्रवृत्ति का पक्ष अपनाया गया है ।

३ लक्षणका लक्षण—

दार्शनिक परम्परामे सर्वप्रथम स्पष्ट तौरपर वात्स्यायनने लक्षणका लक्षण निर्दिष्ट किया है और कहा है कि जो वस्तु का स्वरूप-व्यवच्छेदक धर्म है वह लक्षण है^५ । न्यायवार्तिकके कर्त्ता उद्योतकरका भी यही मत है^६ । न्यायमजरीकार जयन्तभट्ट सिर्फ 'व्यवच्छेदक' के स्थान मे 'व्यवस्था-

१ 'उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधाया शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवतीति । तस्मा-
दुद्दिष्टविभागो युक्तः, न, उद्दिष्टविभागस्योद्देश एवान्तर्भावात् ।' न्यायवा०
पृ० २७, २८ । २ ननु च विभागलक्षणा चतुर्थ्यपि प्रवृत्तिरस्त्येव ।
उद्देशरूपानपायात् उद्देश एव असौ । सामान्यसज्ञया कीर्तनमुद्देशः,
प्रकारभेदमज्ञया कीर्तन विभाग इति'—न्यायम० पृ० १२ । ३ देखो,
न्यायकुमुद पृ २१ । ४ प्रमाणमी० पृ २ । ५ 'उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको
धर्मो लक्षणम्—न्यायभा० पृ १७ । ६ लक्षणस्येतरव्यवच्छेदहेतुत्वात् ।
लक्षण खलु लक्ष्य समानासमानजातीयेभ्यो व्यवच्छिन्नति'—न्यायवा०
पृ० २८, 'पर्यायशब्दा कथं लक्षणम् ? व्यवच्छेदहेतुत्वात् । सर्वं हि लक्ष-
णमितरव्यवच्छेदकमेतैश्च पर्यायशब्दैर्नान्य पदार्थोऽभिधीयत इत्यसाधार-
णत्वाल्लक्षणम्—न्यायवा० पृ० ७६, 'इतरेतरविशेषक लक्षणमुच्यते'—
न्यायवा० पृ० १०८ ।

पक' शब्दको रखकर वात्स्यायनका ही अनुसरण करते हैं^१। कन्दलीकार श्रीधर भी वात्स्यायनके 'तत्त्व' शब्दके स्थानमें 'स्वपरजातीय' और 'व्यवच्छेदक' की जगह 'व्यावर्त्तक' शब्दका प्रयोग करके करीब करीब उन्हींके लक्षणके लक्षणको मान्य रखते हैं^२। तर्कदीपिकाकार उक्त कथनोसे फलित हुये असाधारण धर्मको लक्षणका लक्षण मानते हैं^३ अकलङ्कदेव स्वतन्त्र ही लक्षणका लक्षण प्रणयन करते हैं और वे उसमें 'धर्म' या 'असाधारण धर्म' शब्दका निवेश नहीं करते। पर व्यावृत्तिपरक लक्षण मानना उन्हें इष्ट है^४। इससे लक्षणके लक्षणकी मान्यताये दो फलित होती हैं। एक तो लक्षणके लक्षणमें असाधारण धर्म का प्रवेश स्वीकार करनेवाली और दूसरी स्वीकार न करनेवाली। पहली मान्यता मुख्यतया न्याय वैशेषिकोंकी है और जिमें जैन-परम्परामें भी क्वचित् स्वीकार किया गया है। दूसरी मान्यता अकलङ्क-प्रतिष्ठित है और उसे आचार्य विद्यानन्द^५ तथा न्यायदीपिकाकार आदिने अपनाई है। न्यायदीपिकाकारने तो सप्रमाण इसे ही पुष्ट किया है और पहली मान्यताकी आलोचना करके उसमें द्वेष भी दिखाये हैं। ग्रन्थकारका कहना है कि यद्यपि किसी वस्तुका असाधारण—विशेष धर्म उस वस्तुका इतर पदार्थोसे व्यावर्त्तक होता है, परन्तु उसे लक्षणकोटिमें प्रविष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि दण्डादि जो कि असाधारणधर्म नहीं हैं फिर भी पुरुष के व्यावर्त्तक होते हैं और 'भावलेयत्व' आदि गवादिको के असाधारणधर्म तो हैं, पर व्यावर्त्तक नहीं

१ 'उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्'—न्यायम० पृ० ११

२ 'उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्त्तको धर्मो लक्षणम्'—कन्दली० पृ० २६।

३ 'एतद्द्वेषणत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्। यथा गो सास्नादिमत्त्वम्। स एवासाधारणधर्म इत्युच्यते'—तर्कदीपिका पृ० १४। ४ 'परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्व लक्ष्यते तल्लक्षणम्'—तत्त्वार्थवा० पृ० ५२। ५ देखो, परिशिष्ट पृ० २४०। ६ देखो, परिशिष्ट पृ० २४०।

हैं। इसलिए इनका मात्रही लक्षण करना ठीक है कि जो व्यावर्तक है—मिली हुई वस्तुओंमेंसे किसी एकको जुदा कराना है वह लक्षण है। चाहे वह साधारण धर्म हो या चाहे असाधारण धर्म हो या धर्म भी न हो। यदि वह लक्ष्यकी लक्ष्यतरंगने व्यावृत्ति करता है तो लक्षण है और यदि नहीं करता है तो वह लक्षण नहीं है इस तरह अकलङ्क-प्रतिष्ठित लक्षण-के लक्षण को ही न्यायदीपिका में अनुप्राणित किया गया है

प्रमाणका सामान्यलक्षण—

दार्शनिक परम्परामें सर्वप्रथम कणादने प्रमाणका सामान्य लक्षण निर्दिष्ट किया है। उन्होंने निर्दोष ज्ञानको विद्या—प्रमाण कहा है^१। न्याय-दर्शनके प्रवर्तक गौतमके न्यायसूत्रमें तो प्रमाणसामान्यका लक्षण उपलब्ध नहीं होता। पर उनके टीकाकार वात्स्यायनने अवश्य 'प्रमाण' शब्दसे फलित होनेवाले उपलब्धिसाधन (प्रमाकरण)को प्रमाणसामान्यका लक्षण सूचित किया है^२। उद्योतकर^३, जयन्तभट्ट^४ आदि नैयायिकों ने वात्स्यायन के द्वारा सूचित किये इस उपलब्धिसाधनरूप प्रमाकरणको ही प्रमाण का सामान्य लक्षण स्वीकृत किया है। यद्यपि न्यायकुमुदाञ्जलिकार^५ उद्यनने यथार्थानुभवको प्रमाण कहा है तथापि वह उन्हे प्रमाकरणरूपही इष्ट है। इनका जटुर जान पड़ता है कि उनपर अनुभूतिको प्रमाण मानने वाले प्रमाकर और उनके अनुयायी विद्वानोंका प्रभाव है। क्योंकि उद्यनके

१ अदुष्ट विद्या' वैशेषिकसू० ६-२-१२। २ 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोधव्यम्। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः।' न्यायभा० पृ० १८। ३ 'उपलब्धिहेतु प्रमाण' 'यदुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणः।'—न्यायवा० पृ० ५। ४ 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थाभिधायिन प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते।' न्यायमं० पृ० २५। ५ 'यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते।'—न्यायकु० ४-१।

पहले न्याय वैशेषिक परम्परामे प्रमाणसामान्यलक्षणमे 'अनुभव पदका प्रवेग प्राय उपलब्ध नहीं होता । उनके बादमे तो अनेक नैयायिकोंने^१ अनुभव ही प्रमाणसामान्यका लक्षण बतलाया है ।

मीमांसक परम्परामे मुख्यतया दो सम्प्रदाय पाये जाते हैं—१ भाट्ट और २ प्रभाकर । कुमारिल भट्टके अनुगामी भाट्ट और प्रभाकर गुरुके मतका अनुसरण करनेवाले प्रभाकर कहे जाते हैं । कुमारिलने प्रमाणके सामान्यलक्षणमे पाँच विशेषण दिये हैं । १ अपूर्वार्थविषयत्व २ निश्चितत्व ३ बाधवर्जितत्व ४ अदुष्टकारणारब्धत्व और ५ लोकसम्मतत्व । कुमारिल का वह लक्षण इस प्रकार है :—

तत्रापूर्वार्थविज्ञान निश्चितं बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्ध प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥

पिछले सभी भाट्टमीमांसकोंने इसी कुमारिल कर्तृक लक्षणको माना है और उसका समर्थन किया है । दूसरे दार्शनिकोंकी आलोचनाका विषय भी यही लक्षण हुआ है । प्रभाकरने^२ अनुभूति, को प्रमाण सामान्यका लक्षण कहा है ।

साख्यदर्शनमे श्रोत्रादि-इन्द्रियोकी वृत्ति (व्यापार) को प्रमाणका सामान्य लक्षण बतलाया गया है ।

बौद्धदर्शनमे^३ अज्ञातार्थके प्रकाशक ज्ञानको प्रमाणका सामान्य लक्षण बतलाया है। दिग्नागने विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसवित्तिको प्रमाण-

१ 'बुद्धिस्तु द्विविधा मता अनुभूति स्मृतिश्च स्यादनुभूश्चतुर्विधा ।'

—सिद्धान्तमु० का० ५१ ।

'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवोयथार्थ । सैवप्रमा ।' तर्कस० पृ० ६८, ६९

२ 'अनुभूतिश्च न प्रमाणम् ।' बृहती १-१-५ ।

३ 'अज्ञातार्थज्ञापक प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् ।'

—प्रमाणसमु० टी० पृ० ११

का फल कह कर उन्हें ही प्रमाण माना है' । क्योंकि बौद्धदर्शनमें प्रमाण और फल भी भिन्न नहीं हैं और जो अज्ञातार्थप्रकाश रूप ही है। धर्मकीर्तित्ते' अविसवादि' पद और लगाकर दिग्नाग के ही लक्षण को प्रायः परिष्कृत किया है । तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितने' सारूप्य और योग्यताको प्रमाण वर्णित किया है' जो एक प्रकारसे दिग्नाग और धर्मकीर्तिके प्रमाणसामान्यलक्षणका ही पर्यवसितार्थ है । इस तरह बौद्धोंके यहाँ स्वसवेदी अज्ञातार्थज्ञापक अविसवादि ज्ञानको प्रमाण कहा गया है ।

जैन परम्परामें सर्व प्रथम स्वामी समन्तभद्र' और आ० सिद्धमेनेने प्रमाणका सामान्यलक्षण निर्दिष्ट किया है और उसमें स्वपरावभासक, ज्ञान तथा बाधविवर्जित ये तीन विशेषण दिये हैं । भारतीय दार्शनिकोंमें समन्तभद्र ही प्रथम दार्शनिक हैं जिन्होंने स्पष्टतया प्रमाणके सामान्यलक्षणमें 'स्वपरावभासक' पद रखा है यद्यपि विज्ञानवादी बौद्धोंने भी ज्ञानको 'स्वरूपस्य स्वतो गते' कहकर स्वसवेदी प्रकट किया है परन्तु तार्किक रूप देकर विशेषरूपसे प्रमाणके लक्षणमें 'स्व' पदका निवेश समन्तभद्रका ही स्वोपज्ञ ज्ञान पड़ता है । क्योंकि उनके पहले वैसा प्रमाणलक्षण देखनेमें नहीं आता । समन्तभद्रने प्रमाणसामान्यका लक्षण 'युगपत्सर्वभासितत्त्वज्ञान' भी किया है जो उपर्युक्त लक्षणमें ही पर्यवमित है दर्शनशास्त्रोंके अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा प्रामिति (परिच्छित्तिविशेष) हो वह प्रमाण है' इस अर्थमें

१ "स्वसवित्ति फल चात्र तद्रूपादर्थनिश्चय । विषयाकार एवास्य प्रमाण तेन मीयते ॥"—प्रमाणसमु० १-१० । २ "प्रमाणमविसवादि ज्ञानम्" प्रमाणवा० २-१ । ३ "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते । स्ववित्तिर्वा प्रमाण तु सारूप्य योग्यतापि वा ॥"—तत्त्वसं० का १३४४ । ४ "स्वपरावभासक यथा प्रमाण भुवि बुद्धिलक्षणम्"—स्वयम्भू० का० ६३ । ५ प्रमाण स्वपराभासि ज्ञान बाधविवर्जितम् ।"—न्यायवा० का० १

प्रायः सभी दर्शनकारोंने प्रमाणको स्वीकार किया है। परन्तु वह प्रमिति किसके द्वारा होती है अर्थात् प्रमितिका करण कौन है ? इसे सवने अलग अलग बतलाया है। नैयायिक और वैशेषिकोका कहना है कि अर्थज्ञप्ति इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे होती है इसलिए सन्निकर्ष प्रमितिका करण है। मीमांसक सामान्यतया इन्द्रियको, साख्य इन्द्रियवृत्तिको और बौद्ध साख्य एव योग्यताको प्रमितिकरण बतलाते हैं। समन्तभद्र ने 'स्वपरावभासक' ज्ञानको प्रमितिका अव्यवहितकरण प्रतिपादन किया है। समन्तभद्र के उत्तरवर्ती पूज्यपादने भी स्वपरावभासक ज्ञानको ही प्रमितिकरण (प्रमाण) होनेका समर्थन किया है और सन्निकर्ष, इन्द्रिय तथा मात्र ज्ञानको प्रमिति करण (प्रमाण) माननेमें दोषोद्भावन भी किया है^१। वास्तवमें प्रमिति—प्रमाणफल जब अज्ञाननिवृत्ति है तब उसका करण अज्ञानविरोधी स्व और परका अवभास करनेवाला ज्ञान ही होना चाहिए। समन्तभद्रके द्वारा प्रतिष्ठित इस प्रमाणलक्षण 'स्वपरावभासक' को आर्थिकरूपसे अपनाते हुए भी शाब्दिकरूपसे अकलङ्कदेवने अपना आत्मार्थग्राहक व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाणलक्षण निर्मित किया है^२। तात्पर्य यह कि समन्तभद्र के 'स्व' पदकी जगह 'आत्मा' और 'पर' पदके स्थान में 'अर्थ' पद एव 'अवभासक' पदकी जगह 'व्यवसायात्मक' पदको निविष्ट किया है। तथा 'अर्थ' के विशेषणरूपसे कही 'अनधिगत' कही 'अनिश्चित' और कही 'अनिर्णीत'^३ पदको दिया है। कही ज्ञान के विशेषणरूप से

१ देखो, सर्वार्थसि० १-१०।

२ "व्यवसायात्मक ज्ञानमात्मार्थग्राहक मतम्।"—लघीय० का० ६०

३ "प्रमाणमविसर्वादि ज्ञान अनधिगतार्थाविगमलक्षणत्वात्।"

—अष्टश० का० ३६।

४ 'लिंगलिङ्गसम्बन्धज्ञान प्रमाण अनिश्चितनिश्चयात्।' अष्टश० १०१

५ "प्रकृतस्यापि न वै प्रामाण्य प्रतिपेध्य—अनिर्णीतनिर्णयिकत्वात्।"

अष्टश० का० १०१।

‘अविसर्वादि’ पदको भी रखा है । ये पद कुमारिल तथा धर्मकीर्ति से आये हुए मालूम होते हैं, क्योंकि उनके प्रमाणलक्षणोंमें वे पहुँचने ही विहित हैं । अकलङ्कदेवके उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दिने अकलङ्कदेवके ‘अन-
धिगत’ पदके स्थानमें कुमारिलोक्त ‘अपूर्वार्थ’ और आत्मा’ पदके स्थानमें ममन्तभद्रोक्त ‘स्व’ पदका निवेश करके ‘स्वापूर्वार्थ’ जैसा एक पद बना लिया है और ‘व्यवसायात्मक’ पदको ज्योका त्यों अपनाकर ‘स्वापूर्वार्थ-
व्यवसायात्मक ज्ञान’ यह प्रमाणसामान्यका लक्षण प्रकट किया है । विद्या-
नन्दने यद्यपि संक्षेपमें ‘सम्यग्ज्ञान’ को प्रमाण कहा है^१ और पीछे उसे ‘स्वार्थव्यवसायात्मक’ सिद्ध किया है^२, अकलङ्क तथा माणिक्यनन्दिकी तरह स्पष्ट तौर पर ‘अनधिगत’ या ‘अपूर्व’ विशेषण उन्होंने नहीं दिया,
तथापि सम्यग्ज्ञानको अनधिगतार्थविषयक या अपूर्वार्थविषयक मानना उन्हें अनिष्ट नहीं है उन्होंने जो अपूर्वार्थका खण्डन किया है^३ वह कुमारिलके सर्वथा ‘अपूर्वार्थ’ का खण्डन है । कथञ्चिद् अपूर्वार्थ तो उन्हें अभिप्रेत है^४ । अकलङ्कदेवकी तरह स्मृत्यादि प्रमाणोंमें अपूर्वार्थता

१ “प्रमाणमविसर्वादिज्ञानम्” अष्टश० का० ३६ । २ “स्वापूर्वार्थ-
व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम् ।”—परीक्षामु० १-१ । ३ “सम्य-
ग्ज्ञान प्रमाणम्”—प्रमाणपरी० पृष्ठ ५१ । ४ “किं पुन. सम्य-
ग्ज्ञान ? अभिधीयते—स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान सम्यग्ज्ञानत्वात् ...”
—प्रमाणप० पृ० ५३ । ५ ‘तत्स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञान मानमितीयता
लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥’—तत्स्वार्थश्लो० पृ० १७४ ।

६ “सकलदेशकालव्याप्तसाध्यासाधनसम्बद्धोहापोहलक्षणो हि तर्क-
प्रमाणयितव्य, तस्य कथाञ्चिदपूर्वार्थत्वात् ।” “नचैतद् गृहीतग्रहणाद-
प्रमाणमिति शङ्कनीयम्, तस्य कथाञ्चिदपूर्वार्थत्वात् । न हि तद्विषयभूत-
मेक द्रव्य स्मृतिप्रत्यक्षग्राह्य येन तत्र प्रवर्तमान प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राहि
मन्येत तद्गृहीतातीतवर्तमानविवर्ततादात्म्यात् द्रव्यस्य कथाञ्चिदपूर्वार्थ-

का उन्होंने स्पष्टतया समर्थन किया है। सामान्यतया प्रमाणलक्षण में अपूर्व पदको न रखनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष तो अपूर्वार्थग्राही होता ही है और अनुमानादि प्रत्यक्ष से अगृहीत धर्मांशोमें प्रवृत्त होनेसे अपूर्वार्थ-ग्राहक सिद्ध हो जाते हैं। यदि विद्यानन्द को स्मृत्यादिक अपूर्वार्थविषयक इष्ट न होते तो उनकी प्रमाणता में प्रयोजक अपूर्वार्थताको वे कदापि न बतलाते। इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्द भी प्रमाणको अपूर्वार्थग्राही मानते हैं। इस तरह समन्तभद्र और अकलङ्कदेव का प्रमाणसामान्यलक्षण ही उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंके लिए आधार हुआ है। श्रा० धर्मभूषणने न्याय-दीपिकामें विद्यानन्दके द्वारा स्वीकृत 'सम्यग्ज्ञानत्व' रूप प्रमाणके सामान्य-लक्षणको ही अपनाया है और उसे अपनी पूर्वपरम्परानुसार सविकल्पक अगृहीतग्राही एव स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है तथा धर्मकीर्ति प्रभाकर, भाट्ट और नैयायिकोंके प्रमाणसामान्यलक्षणों की आलोचना की है।

५. धारावाहिक ज्ञान—

दार्शनिक ग्रन्थोंमें धारावाहिक ज्ञानोंके प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी विस्तृत चर्चा पायी जाती है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसक उन्हें प्रमाण मानते हैं। पर उनकी प्रमाणताका समर्थन वे अलग-अलग ढंगसे करते हैं। न्याय-वैशेषिकोंका कहना है कि उनसे परिच्छित्ति होती है और लोकमें वे प्रमाण भी माने जाते हैं। अतः वे गृहीतग्राही होने पर भी

त्वेऽपि प्रत्यभिज्ञातस्य तद्विषयस्य नाप्रमाणत्व लैंगिकादेरप्यप्रमाणत्व-प्रसंगात् । तस्यापि सर्वथैवापूर्वार्थत्वासिद्धे ।"—प्रमाणप० पृ० ७० ।
 "स्मृति प्रमाणान्तरमुक्तं नचासावप्रमाणमेव सवादकत्वात् कथञ्चिद-पूर्वार्थग्राहितात्" —प्रमाणप० पृ० ६७ । "गृहीतग्रहणात्तर्कोऽप्रमाण-मिति चेन्न वै । तस्यापूर्वार्थवेदित्वादुपयोगविशेषतः ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६५ ।

१ "अनधिगतार्थगन्तृत्व च धारावाहिकज्ञानानामधिगतगोचराणा

प्रमाण ही है । भाट्टोका^१ मत है कि उनमें सूक्ष्म काल-भेद है । अतएव वे अनधिगत सूक्ष्म काल-भेदको ग्रहण करनेसे प्रमाण है । प्रभाकर मत-वाले^२ कहते हैं कि कालभेदका भान होना तो शक्य नहीं है क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है । परन्तु हाँ, पूर्वज्ञान से उत्तरज्ञानों में कुछ अनिश्चय (वैशिष्ट्य) देखनेमें नहीं आता । जिस प्रकार पहले ज्ञानका अनुभव होता है उसी प्रकार उत्तर ज्ञानोंका भी अनुभव होता है । इसलिए धारावाहिक ज्ञानोंमें प्रथम ज्ञानसे न तो उत्पत्तिकी अपेक्षा कोई विशेषता है और न प्रतीतिकी अपेक्षामें है । अतः वे भी प्रथम ज्ञानकी ही तरह प्रमाण हैं ।

बौद्धदर्शनमें यद्यपि अनधिगतार्थक ज्ञानको ही प्रमाण माना है और इसलिए अधिगतार्थक धारावाहिक ज्ञानोंमें स्वतः अप्रामाण्य स्थापित हो जाता है तथापि धर्मकीतिके टीकाकार अर्चटने^३ पुरुषभेदकी अपेक्षामें

लोकसिद्धप्रमाणभावाना प्रामाण्य विहन्तीति नाद्रियामहे ।... तस्मादर्थ-प्रदर्शनमात्रव्यापारमेव ज्ञान प्रवर्तक प्रापक च । प्रदर्शनं च पूर्ववदुत्तरेषामपि विज्ञानानामभिन्नमिति कथं पूर्वमेव प्रमाण नोत्तराण्यपि ।” — न्यायवा० तात्पर्य० पृ० २१ ।

१ “धारावाहिककेष्वप्युत्तरोत्तरेषा कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम् । तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः । तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषा प्रामाण्यम् ।” — शास्त्रदी० पृ० १२४-१२६ ।
 २ “सन्तपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृष्यत इति चेत्, अहो सूक्ष्मदर्शी देवानाप्रिय ।” — (शास्त्रदी० पृ० १२५) [अत्र पूर्वपक्षेणोल्लेख]
 “व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारणकलापे उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरेते इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता ।” — प्रकरणप० पृ० ४३ ।
 ३ “यदैकस्मिन्नेव नीलादिवस्तुनि धारावाहीनीन्द्रियज्ञानान्युत्पद्यन्ते तदा पूर्वेणाभिन्नयोगक्षेमत्वात् उत्तरेषामिन्द्रियज्ञानानामप्रामाण्यप्रसङ्गः । न चैवम् अतोऽनेकान्त

उनमें प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वीकार किया है। क्षणभेददृष्टा (योगी) की अपेक्षासे प्रमाणता और क्षणभेद अदृष्टा व्यावहारिक पुरुषों की अपेक्षासे अप्रमाणता वर्णित की है।

जैनपरम्पराके श्वेताम्बर तार्किकोंने धारावाहिक ज्ञानोंको प्रायः प्रमाण ही माना है—उन्हे अप्रमाण नहीं कहा है। किन्तु अकलङ्क और उनके उत्तरवर्ती सभी दिगम्बर आचार्योंने अप्रमाण बतलाया है। और इसीलिए प्रमाणके लक्षणमें अनधिगत या अपूर्वार्थ विगेषण दिया है। विद्यानन्दका कुछ भुंकाव अवश्य उन्हे प्रमाण कहनेका प्रतीत होता है। परन्तु जब वे सर्वथा अपूर्वार्थत्वका विरोध करके कथञ्चित् अपूर्वार्थ स्वीकार कर लेते हैं तब यही मालूम होता है कि उन्हेभी धारावाहिक ज्ञानोंमें अप्रामाण्य इष्ट है। दूसरे, उन्होंने परिच्छत्तिविशेषके अभावमें जिस प्रकार प्रमाण-अम्लव स्वीकार नहीं किया है उसी प्रकार प्रमितिविशेषके अभावमें धारावाहिक ज्ञानोंको अप्रमाण माननेकाभी उनका अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है। अतः धारावाहिक ज्ञानोंसे यदि प्रमितिविशेष उत्पन्न नहीं होती है

इति प्रमाणसम्प्लववादी दर्शयन्नाह पूर्वप्रत्यक्षेण इत्यादि। एतत् परिहरति—तद् यदि प्रतिक्षण क्षणविवेकदर्शिनोऽविकृत्योच्यते तदा भिन्नोपयोगितया प्रथक् प्रामाण्यात् नानेकान्तः। अथ सर्वपदार्थेष्वेकत्वाव्यवसायिन साव्यवहारिकान् पुरुषानभिप्रेत्योच्यते तदा सकलमेव नीलसन्तानमेकमर्थं स्थिररूप तत्साध्या चार्थक्रियामेकात्मिकामव्यवस्यन्तीति प्रामाण्यमप्युत्तरे-पामनिष्टमेवेति कुतोऽनेकान्तः ?”—हेतुविन्दुटी० लि० पृ० ३६ B।

१ “गृहीतमगृहीत वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७४। २ “उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसम्प्लवम्यानभ्युपगमात्। सति हि प्रतिपत्तुरुपयोगविशेषे देशादिविशेषसमवधानादागमात्प्रतिपन्नमपि हिरण्यरेतसः स पुनरनुमानात्प्रतिपित्सते।”—अष्टसं० पृ० ४।

तो उन्हें अप्रमाण (प्रमाण नहीं) कहना अयुक्त नहीं है। न्यायदीपिका-कारने भी प्रथम घटादिज्ञानके अलावा उत्तरवर्ती अवशिष्ट घटादिज्ञानो-को अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमितिको उत्पन्न न करनेके कारण अप्रमाण ही स्पष्टतया प्रतिपादन किया है और इस तरह उन्होंने अकलङ्कमार्गका ही समर्थन किया है।

६. प्रामाण्यविचार—

ऐसा कोईभी तर्क ग्रन्थ न होगा जिसमे प्रमाणके प्रामाण्याप्रामाण्य-का विचार प्रस्फुटित न हुआ हो। ऐसा मालूम होता है कि प्रारम्भमे प्रामाण्यका विचार वेदोकी प्रामाण्यता स्थापित करनेके लिए हुआ था^१। जब उसका तर्कके क्षेत्रमे प्रवेशमे हुआ तब प्रत्यक्षादि ज्ञानोकी प्रामाण्यता और अप्रमाण्यताका विचार होने लगा। प्रत्येक दार्शनिकोको अपने तर्क ग्रन्थमे प्रामाण्य और अप्रामाण्य तथा उसके स्वतः और परतः होनेका कथन करना अनिवार्य सा हो गया^२ और यही कारण है कि प्रायः छोटेसे छोटे तर्कग्रन्थमे भी वह चर्चा आज देखने को मिलती है।

१ “प्रत्याक्षादिषु दृष्टार्थेषु प्रमाणेषु प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव व्यवहारसिद्धेस्तत्र किं स्वतः प्रामाण्यमुत परतः इति विचारेण न नः प्रयोजनम्, अनिर्णय एव तत्र श्रेयान्, अदृष्टे तु विषये वैदिकेष्वगणितद्रविण-वितरणादिक्लेशसाध्येषु कर्मसु तत्प्रामाण्यावधारणमन्तरेण प्रेक्षावतां प्रवर्त्तनमनुचितमिति तस्य प्रामाण्यनिश्चयोऽवश्यकर्त्तव्यः, तत्र परतः एव वेदस्य प्रामाण्यमिति वक्ष्यामः।”—न्यायमं० पृ० १५५। २ “सर्व-विज्ञानविषयमिदं तावत्प्रतीक्ष्यताम्। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः किं परतोऽथवा ॥”—मी० श्लो० चो० श्लो० ३३। “प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा सर्वविज्ञानगोचरम्। स्वतो वा परतो वेति प्रथमं प्रविविच्यताम्।”—न्यायमं० पृ० १४६।

न्याय-वैशेषिक^१ दोनोको परत, सांख्य^२ दोनोको स्वत, मीमांसक^३ प्रामाण्यको तो स्वत और अप्रामाण्यको परत तथा बौद्ध^४ दोनोंको किंचित् स्वत और दोनोको ही किंचित् परत वर्णित करते हैं। जैन-दर्शनमें^५ अभ्यास और अनभ्यासदशामे उत्पत्ति तो दोनोकी परत और ज्ञप्ति अभ्यासदशामे स्वत तथा अनभ्यासदशामे परत मानी गई है। धर्मभूषणने भी प्रमाणताकी उत्पत्ति परसे ही और निश्चय (ज्ञप्ति) अभ्यस्तविषयमे स्वत एव अनभ्यस्त विषयमे परत बतलाया है।

७ प्रमाणके भेद—

दार्शनिकरूपसे प्रमाणके भेदोको गिनानेवाली सबसे पुरानी परम्परा कौन है ? और किसकी है ? इसका स्पष्ट निर्देश तो उपलब्ध दार्शनिक साहित्यमे नहीं मिलता है, किन्तु इतना जरूर कहा जा सकता है कि प्रमाण के स्पष्टतया चार भेद गिनानेवाले न्यायसूत्रकार गौतमसे^६ भी पहले प्रमाणके अनेक भेदोकी मान्यता रही है, क्योंकि उन्होंने ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन चारका स्पष्टतया उल्लेख करके उनकी अतिरिक्त प्रमाणताका निरसन किया है तथा शब्दमे ऐतिह्यका और

१ “द्वमपि परत इत्येव एव पक्ष श्रेयान्”—न्यायमं० पृ० १६० ।
 कन्दली० पृ० २२० । २ “प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत सांख्या समाश्रिता ।”
 —सर्वदर्श० पृ० २७६ । ३ “स्वत सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
 न हि स्वतोऽसती शक्ति कर्तुमन्येन पार्यते ॥”—मी० श्लो० सू० २ श्लो०
 ४७ । ४ “उभयमपि एतत् किञ्चित् स्वत किञ्चित् परत इति०” —
 तत्त्वसं० पं० का० ३१२३ । ५ ‘तत्प्रामाण्य स्वत परतञ्च’—परी-
 क्षामु० १-१३ । “प्रामाण्य तु स्वत. सिद्धमभ्यासात् परतोऽन्यथा ॥”—
 प्रमाणप० पृ० ६३ । ६ “प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानि ।”—
 न्यायसू० १-१-३ ।

अनुमानमें शेष तीनका अन्तर्भाव हो जानेका बंधन किया है। प्रशस्त-पादने^१ भी अपने वैशेषिकदर्शनानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ही प्रमाणोंका समर्थन करते हुए उल्लिखित प्रमाणोंका उन्हींमें अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। प्रसिद्धिके आधार पर इतना और कहा जा सकता है कि आठ प्रमाणकी मान्यता सम्भवतः पौराणिकोंकी है। कुछ भी हो, प्रमाणोंको अनेकभेदरूप प्रारम्भसे ही माना जा रहा है और प्रत्येक दर्शन-कारने कमसे कम प्रमाण माननेका प्रयत्न किया है तथा शेष प्रमाणोंको उसी अपनी स्वीकृत प्रमाणमह्यतामें ही अन्तर्भाव करनेका समर्थन किया है। यही कारण है कि मात, छह, पाच, चार, तीन, दो और एक प्रमाण-वादी दार्शनिक जगतमें आविर्भूत हुए हैं। एक ऐसाभी मन रहा जो मात प्रमाण मानता था। छह प्रमाण माननेवाले जैमिनी अथवा भाट्ट, पाच प्रमाण माननेवाले प्राभाकर, चार प्रमाण कहनेवाले नैयायिक, तीन प्रमाण माननेवाले सांख्य, दो प्रमाण स्वीकृत करनेवाले वैशेषिक और बौद्ध तथा एक प्रमाण माननेवाले चार्वाक तो आज भी दर्शन शास्त्रकी चर्चके विषय बने हुए हैं।

जैनदर्शनके सामने भी यह प्रश्न था कि वह कितने प्रमाण मानता है ? यद्यपि मत्यादि पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान या प्रमाण माननेकी परंपरा अति सुप्राचीनकालसे ही आगमोंमें निबद्ध और मौखिक रूपसे सुरक्षित चली आ रही थी, पर जैनैतरोंके लिए वह अलौकिक जैसी प्रतीत होती थी—उसका दर्शनान्तरीय प्रमाणनिरूपणसे भेद नहीं खाता था। इस

१ “न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ।”—न्यायसू० २-२-१ । “शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादानुमानाऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावान्चाप्रतिषेव ।”—न्यायसू० २-२-२ । २ देखो, प्रशस्तपादभाष्य पृ० १०६-१११ ।

प्रश्न का उत्तर सर्वप्रथम^१ दार्शनिकरूपसे सम्भवतः प्रथम शताब्दिमें हुए तत्त्वार्थसूत्रकार आ० उमास्वातिने^२ दिया है। उन्होंने कहा कि सम्यग्ज्ञान प्रमाण है और वह मूलमें दो ही भेदरूप है — १ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। आ० उमास्वातिका यह मौलिक प्रमाणद्वयविभाग इतना सुविचारपूर्वक और कौशल्यपूर्ण हुआ है कि प्रमाणोका आनन्त्य भी इन्हीं दोमें समा जाता है। इनसे अतिरिक्त पृथक् तृतीय प्रमाण माननेकी विल्कुल आवश्यकता नहीं रहती है। जबकि वैशेषिक और बौद्धों के प्रत्यक्ष तथा अनुमानरूप द्विविध प्रमाणविभागमें अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। उन्होंने अतिसक्षेपमें, मति, स्मृति, सजा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिवोध (अनुमान) इनको भी प्रमाणान्तर होनेका संकेत करके और उन्हें मतिज्ञान कह कर 'आद्ये परोक्षम्' सूत्रके द्वारा परोक्षप्रमाणमें ही अन्तर्भूत कर लिया है^३। आ० उमास्वातिने इस प्रकार प्रमाणद्वयका विभाग करके उत्तरवर्ती जैनतात्त्विकोंके लिए प्रशस्त और

१ यद्यपि ज्वेताम्बरीय स्थानाङ्ग और भगवतीमें भी प्रत्यक्ष-परोक्षरूप प्रमाणद्वयका विभाग निर्दिष्ट है, पर उसे श्रद्धेय प० सुखलालजी निर्युक्तिकार भद्रबाहुके वादका मानते हैं, जिनका समय विक्रमकी छठी शताब्दि है। देखो, प्रमाणमी० भा० टि० पृ० २०। और भद्रबाहुके समयके लिये देखो, श्वे० मुनि विद्वान् श्रीचतुरविजयजीका 'श्रीभद्रबाहु' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ३ कि० १२ तथा 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं?' शीर्षक मेरा लेख, 'अनेकान्त' वर्ष ६ कि० १०-११ पृ० ३३८। २ "तत्प्रमाणे" "आद्ये परोक्षम्"—"प्रत्यक्षमन्यत्"—तत्त्वार्थसू० १-१०, ११, १२। ३ "मति स्मृति सजाचिन्ताअभिनिवोध इत्यनर्थान्तरम्"—तत्त्वार्थसू० १-१४।

अनुमानमे शेष तीनका अन्तर्भाव हो जानेका कथन किया है' । प्रशस्त-पादने^१ भी अपने वैशेषिकदर्शनानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ही प्रमाणोंका समर्थन करने हुए उल्लिखित प्रमाणोंका इन्हींमें अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है । प्रसिद्धिके आचार पर इनका और कहा जा सकता है कि आठ प्रमाणकी मान्यता सम्भवतः पौगणिकोंकी है । कुछ भी हो, प्रमाणको अनेकभेदरूप प्रारम्भसे ही माना जा रहा है और प्रत्येक दशन-कारने कमसे कम प्रमाण माननेका प्रयत्न किया है तथा शेष प्रमाणोंको उसी अपनी स्वीकृत प्रमाणमाल्यामें ही अन्तर्भाव करनेका समर्थन किया है । यही कारण है कि सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रमाण-वादी दार्शनिक जगतमें आविर्भूत हुए हैं । एक ऐसा भी मत रहा जो सात प्रमाण मानता था । छह प्रमाण माननेवाले जैमिनी अथवा भाट्ट, पाँच प्रमाण माननेवाले प्राभाकर, चार प्रमाण कहनेवाले नैयायिक, तीन प्रमाण माननेवाले माह्वय, दो प्रमाण स्वीकृत करनेवाले वैशेषिक और बौद्ध तथा एक प्रमाण माननेवाले चार्वाक तो आज भी दर्शन शास्त्रकी चर्चके विषय बने हुए हैं ।

जैनदर्शनके सामने भी यह प्रश्न था कि वह कितने प्रमाण मानता है ? यद्यपि मत्यादि पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान या, प्रमाण माननेकी परंपरा अति सुप्राचीनकालसे ही आगमोंमें निबद्ध और मौखिक रूपसे सुरक्षित चली आ रही थी, पर जैनैतरोके लिए वह अलौकिक जैनी प्रतीत होती थी—उसका दर्शनान्तरीय प्रमाणनिरूपणसे मेल नहीं खाता था । इस

१ “न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ।” —न्यायसू० २-२-१ । “शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानार्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेध ।” —न्यायसू० २-२-२ । २ देखो, प्रशस्तपादभाष्य पृ० १०६-१११ ।

प्रश्न का उत्तर सर्वप्रथम^१ दार्शनिकरूपसे सम्भवतः प्रथम शताब्दिमें हुए तत्त्वार्थसूत्रकार आ० उमास्वातिने^२ दिया है। उन्होंने कहा कि सम्यग्ज्ञान प्रमाण है और वह मूलमें दो ही भेदरूप है — १ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। आ० उमास्वातिका यह मौलिक प्रमाणद्वयविभाग इतना सुविचारपूर्वक और कौशल्यपूर्ण हुआ है कि प्रमाणोका आनन्त्य भी इन्हीं दोमें समा जाता है। इनसे अतिरिक्त पृथक् तृतीय प्रमाण माननेकी विल्कुल आवश्यकता नहीं रहती है। जबकि वैशेषिक और बौद्धों के प्रत्यक्ष तथा अनुमानरूप द्विविध प्रमाणविभागमें अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। उन्होंने अति संक्षेपमें, मति, स्मृति, सज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिवोध (अनुमान) इनको भी प्रमाणान्तर होनेका संकेत करके और उन्हें मतिज्ञान कह कर 'आद्ये परोक्षम्' सूत्रके द्वारा परोक्षप्रमाणमें ही अन्तर्भूत कर लिया है^३। आ० उमास्वातिने इस प्रकार प्रमाणद्वयका विभाग करके उत्तरवर्ती जैनतात्त्विकोंके लिए प्रशस्त और

१ यद्यपि श्वेताम्बरीय स्थानाङ्ग और भगवतीमें भी प्रत्यक्ष-परोक्षरूप प्रमाणद्वयका विभाग निर्दिष्ट है, पर उसे श्रद्धेय प० सुखलालजी निर्युक्तिकार भद्रबाहुके वादका मानते हैं, जिनका समय विक्रमकी छठी शताब्दि है। देखो, प्रमाणमी० भा० टि० पृ० २०। और भद्रबाहुके समयके लिये देखो, श्वे० मुनि विद्वान् श्रीचतुरविजयजीका 'श्रीभद्रबाहु' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ३ कि० १२ तथा 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक है?' शीर्षक मेरा लेख, 'अनेकान्त' वर्ष ६ कि० १०-११ पृ० ३३८। २ "तत्प्रमाणे" "आद्ये परोक्षम्"—"प्रत्यक्षमन्यत्"—तत्त्वार्थसू० १-१०, ११, १२। ३ "मति स्मृति सज्ञाचिन्ताअभिनिवोध इत्यनर्थान्तरम्"—तत्त्वार्थसू० १-१४।

सरल मार्ग बना दिया । दर्शनान्तरोमे प्रसिद्ध उपमानादिको भी परोक्षमे ही अन्तर्भाव होनेका स्पष्ट निर्देश उनके वादमे होनेवाले पूज्यपादने कर दिया' । अकलकदेवने उसी मार्गपर चलकर परोक्ष-प्रमाणके भेदोंकी स्पष्ट सख्या बतलाते हुए उनकी सयुक्तिक सिद्धि की और प्रत्येकका लक्षण प्रणयन किया' । आगे तो परोक्षप्रमाणोंके सम्बन्धमे उमास्वाति और अकलङ्कने जो दिशा निर्धारित की उसीपर सब जैनतार्किक अविरुद्ध-रूपसे चले हैं । अकलङ्कदेवके सामने भी एक प्रश्न उपस्थित हुआ' । वह यह कि लोकमे तो इन्द्रियाश्रित ज्ञानको प्रत्यक्ष माना जाता है पर जैन-दर्शन उसे परोक्ष कहता है, यह लोकविरोध कैसा ? इसका समाधान उन्होंने बड़े स्पष्ट और प्राञ्जल शब्दोंमे दिया है । वे कहते हैं—प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१ साव्यवहारिक और २ मुख्य । लोकमे जिस इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्षको प्रत्यक्ष कहा जाता है वह व्यवहारसे तथा देशतः वैशद्य होनेसे साव्यवहारिक प्रत्यक्षके रूपमे जैनोको इष्ट है । अतः कोई लोक-विरोध नहीं है । अकलङ्कके इस बहुमुखी प्रतिभाके समाधानने सबको चकित किया । फिर तो जैन तर्कग्रथकारोंने इसे बड़े आदरके साथ एक स्वरसे स्वीकार किया और अपने अपने ग्रन्थोंमे अपनाया । इस तरह सूत्र-कार उमास्वातिने जो प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्धारित किये थे उन्हें ही जैनतार्किकोंने परिपुष्ट और समर्थित किया है । यहाँ यह

१ "उमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात् ।" "अत उपमानागमा-दीनामत्रैवान्तर्भाव" —सर्वार्थसिद्धि पृ० ६४ ।

२ "ज्ञानमाद्य मति सज्ञा चिन्ता चाभिनिवोधिकम् ।

प्राङ्नामयोजनात् शेष श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥"—लघीय० का० ११ ।

"परोक्षं शेषविज्ञान प्रमाणे इति सग्रह" —लघीय० का० ३ ।

३ "प्रत्यक्ष विशद ज्ञान मुख्यसव्यवहारतः" —लघीय० का० ३ ।

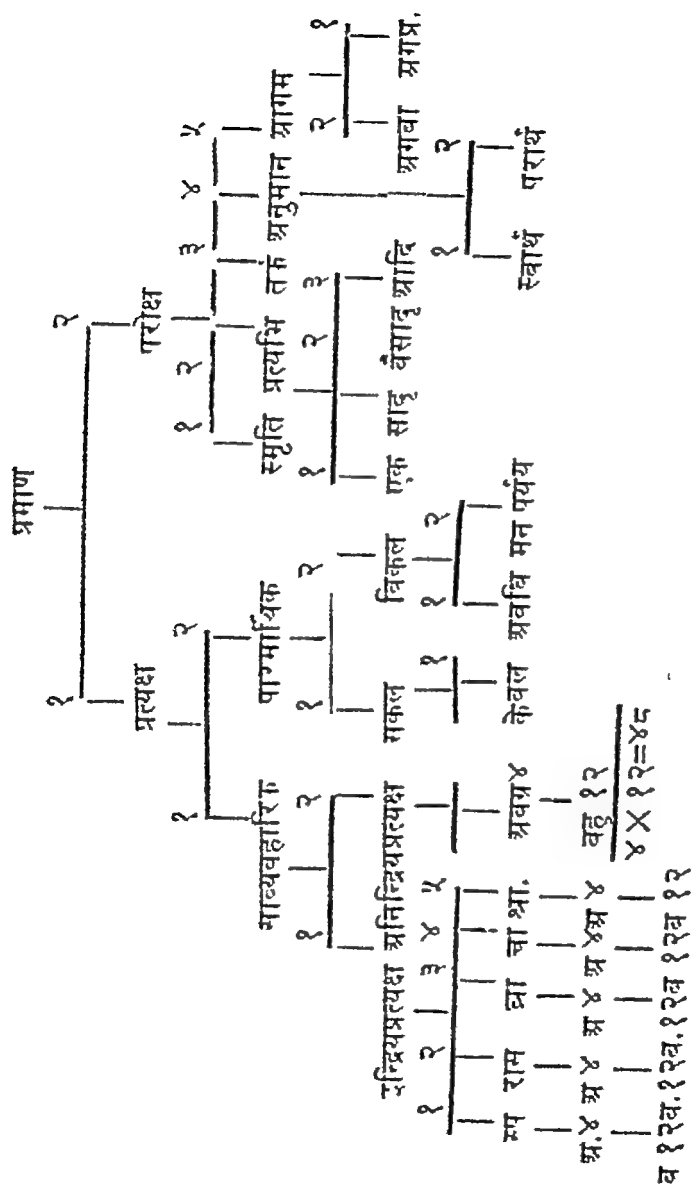
भी कह देना आवश्यक है कि समन्तभद्रस्वामीने^१, जो उमास्वातिके उत्तर-वर्ती और पूज्यपादके पूर्ववर्ती हैं, प्रमाणके अन्य प्रकारसे भी दो भेद किये हैं—१ अक्रमभावि और २ क्रमभावि । केवलज्ञान अक्रमभावि है और शेष मत्यादि चार ज्ञान क्रमभावि हैं । पर यह प्रमाणद्वयका विभाग उपयोगके क्रमाक्रमकी अपेक्षासे है । समन्तभद्रके लिये आप्तमीमासामे आप्त विवेचनीय विषय है । अतः आप्तके ज्ञानको उन्होंने अक्रमभावि और आप्त भिन्न अनाप्त (छद्मस्थ) जीवोंके प्रमाणज्ञानको क्रमभावि बतलाया है इसलिये उपयोगभेद या व्यक्तिभेदकी दृष्टिसे किया गया यह प्रमाणद्वयका विभाग है । आ० धर्मभूषणने सूत्रकार उमास्वाति निर्दिष्ट प्रत्यक्ष और परोक्षरूप ही प्रमाणके दो भेद प्रदर्शित किये हैं और उनके उत्तरभेदोंकी पूर्व परम्परानुसार परिगणना की है । जैनदर्शनमें प्रमाणके जो भेद-प्रभेद किये गये हैं वे इस प्रकार हैं^२ —

१ “तत्त्वज्ञान प्रमाण ते युगपत् सर्वभासनम् ।

क्रमभावि च यज्ज्ञान स्याद्वादनयसस्कृतम् ॥”

—आप्तमी० का० १०१ ।

२ “स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तस्य बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवेषु तदितरेष्वर्थेषु वर्तमानस्य प्रतीन्द्रियमष्टचत्वारिंशद्भेदस्य व्यञ्जनावग्रहभेदैरष्टचत्वारिंशता सहितस्य सख्याष्टाशीत्युत्तरद्विगती प्रतिपत्तव्या । तथा अतिन्द्रियप्रत्यक्ष बह्वादिद्वादशप्रकारार्थविषयमवग्रहादिविकल्पमष्टचत्वारिंशत्सख्य प्रतिपत्तव्यम् ।” —प्रमाणप० पृ० ६५ ।


$$\begin{array}{r} = २४० + ४८ \text{ (व्यजनावग्रहेके)} = २८८ \text{ इन्द्रियप्र०} \\ \underline{४८ ग्रानि० प्र०} \\ ३३६ \end{array}$$

८. प्रत्यक्ष का लक्षण—

दार्शनिक जगतमें प्रत्यक्षका लक्षण अनेक प्रकारका उपलब्ध होता है। नैयायिक और वैशेषिक सामान्यतया इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षको प्रत्यक्ष कहते हैं^१। सांख्य श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तिको और मीमांसक^२ इन्द्रियोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होनेपर उत्पन्न होनेवाली बुद्धि (ज्ञान) को प्रत्यक्ष मानते हैं। बौद्धदर्शनमें तीन मान्यतायें हैं — १ वसुवन्धुकी, २ दिग्नागकी और ३ धर्मकीर्तिकी। वसुवन्धुने^३ अर्थजन्य निर्विकल्पक वाचको, दिग्नागने^४ नामजात्यादिरूप कल्पनासे रहित निर्विकल्प ज्ञानको और धर्मकीर्तिने^५ निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है। सामान्यतया निर्विकल्पकको सभी बौद्ध तार्किकोंने प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। दर्शनान्तरोमें और भी कितने ही प्रत्यक्ष-लक्षण किये गये हैं। पर वे सब इस सक्षिप्त स्थानपर प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं।

जैनदर्शनमें सबसे पहले सिद्धसेन^६ (न्यायावतारकार) ने प्रत्यक्षका लक्षण किया है। उन्होंने अपरोक्षरूपसे अर्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है। इस लक्षणमें अन्योन्याश्रय नामका दोष होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष का लक्षण परोक्षघटित है और परोक्षका लक्षण

१ “इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्”—न्यायसूत्र० १-१-४। २ “तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्”—जैमिनि० १-१-४। ३ “अर्थादिज्ञान प्रत्यक्षम्”—प्रमाणस० पृ० ३२। ४ “प्रत्यक्ष कल्पनापोढ नामजात्याद्यमयुत्तम्।” प्रमाणसमु० १-३। ५ “कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्षम्”—न्यायविन्दु० पृ० ११।

६ “अपरोक्षतयाऽर्थस्य ग्राहक ज्ञानमीदृशम्। प्रत्यक्षमितरद् ज्ञेय परोक्ष गृहणेक्षया।” न्यायाव० का० ४।

(प्रत्यक्षभिन्नत्व) प्रत्यक्षघटित है। अकलङ्कदेवने^१ प्रत्यक्षका ऐसा लक्षण बनाया जिससे वह दोष नहीं रहा। उन्होंने कहा कि ज्ञान विशद है—स्पष्ट है वह प्रत्यक्ष है। यह लक्षण अपने आपमें स्पष्ट तो है ही, साथमें बहुत ही सक्षिप्त और अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषोंसे पूर्णतः रहित भी है। सूक्ष्मप्रज्ञ अकलङ्कका यह अकलङ्क लक्षण जैनपरम्परामें इतना प्रतिष्ठित और व्यापक हुआ कि दोनों ही सम्प्रदायोंके श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानोंने बड़े आदरभावसे अपनाया है। जहाँ तक मालूम है फिर दूसरे किसी जैनतार्किकको प्रत्यक्षका अन्य लक्षण बनाना आवश्यक नहीं हुआ और यदि किसीने बनाया भी हो तो उसकी उतनी न तो प्रतिष्ठा हुई है और न उसे उतना अपनाया ही गया है। अकलङ्कदेवने अपने प्रत्यक्ष लक्षणमें उपात्त वैशद्यका^२ भी खुलासा कर दिया है। उन्होंने अनुमादिककी अपेक्षा विशेष प्रतिभास होनेको वैशद्य कहा है। आ० धर्मभूषणने भी अकलङ्कप्रतिष्ठित इन प्रत्यक्ष और वैशद्यके लक्षणोंको अपनाया है और उनके सूत्रात्मक कथनको और अधिक स्फुटित किया है।

६. अर्थ और आलोककी कारणता—

बौद्ध ज्ञानके प्रति अर्थ और आलोकको कारण मानते हैं। उन्होंने चार प्रत्ययो (कारणों)से सम्पूर्ण ज्ञानो (स्वसवेदनादि) की उत्पत्ति वर्णित की है। वे प्रत्यय ये हैं—१ समनन्तरप्रत्यय, २ आधिपत्यप्रत्यय, ३ आलम्बनप्रत्यय और ४ सहकारिप्रत्यय। पूर्वज्ञान उत्तरज्ञानकी

१ “प्रत्यक्ष विशद ज्ञानम्”—लघीय० का० ३। प्रत्यलक्षलक्षण प्राहु स्पष्ट साकारमञ्जसा।”—न्यायवि० का० ३।

२ “अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।

तद्वैशद्य मत बुद्धेरवैशद्यमत परम् ॥”—लघीय० का० ४।

उत्पत्तिमे कारण होता है इसलिए वह समनन्तर प्रत्यय कहलाता है । चक्षुरादिक इन्द्रिया आधिपत्य प्रत्यय कही जाती हैं । अर्थ (विषय) आलम्बन प्रत्यय कहा जाता है और आलोक आदि सहकारि प्रत्यय हैं । इस तरह बौद्धोंने इन्द्रियोके अलावा अर्थ और आलोकको भी कारण स्वीकार किया है । अर्थकी कारणता पर तो यहाँ तक जोर दिया है कि ज्ञान यदि अर्थसे उत्पन्न न हो तो वह अर्थको विषयभी नहीं कर सकता है' । यद्यपि नैयायिक आदिने भी अर्थको ज्ञानका कारण माना है पर उन्होंने उतना जोर नहीं दिया । इसका कारण यह है कि नैयायिक आदि ज्ञानके प्रति सीधा कारण सन्निकर्षको मानते हैं । अर्थ तो सन्निकर्ष द्वारा कारण होता है । अतएव जैन तार्किकोंने नैयायिक आदि-के अर्थकारणतावाद पर उतना विचार नहीं किया जितना कि बौद्धोंके अर्थालोककारणतावाद पर किया है । एक बात और है, बौद्धोंने अर्थ-जन्यत्व, अर्थकारिता और अर्थव्यवसाय इन तीनको ज्ञानप्रामाण्यके प्रति प्रयोजक बतलाया है और प्रतिकर्मव्यवस्था भी ज्ञानके अर्थजन्य होनेमे ही की है । अत आवरणक्षयोपशमको ही प्रत्येक ज्ञानके प्रति कारण मानने वाले जैनोके लिए यह उचित और आवश्यक था कि वे बौद्धोंके इस मन्तव्य पर पूर्ण विचार करें और उनके अर्थालोककारणत्वपर सवलताके साथ चर्चा चलाए तथा जैनदृष्टिसे विषय-विषयीके प्रतिनियमनकी व्यवस्थाका प्रयोजक कारण स्थिर करे । कहा जा सकता है कि इस सम्बन्धमे सर्वप्रथम सूक्ष्म दृष्टि अकलङ्कदेवने अपनी सफल लेखनी चलाई है और अर्थालोककारणताका सयुक्तिक निरसन किया है । तथा आवरणक्षयोपशमको विषय-विषयीका प्रतिनियामक बतला कर ज्ञान-प्रामाण्यका प्रयोजक सवाद (अर्थव्यभिचार) को बतलाया है । उन्होंने

सक्षेपमे कह दिया' कि 'ज्ञान अर्थसे उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि ज्ञान तो 'यह अर्थ है' यही जानता है 'अर्थसे मैं उत्पन्न हुआ' इस बातको वह नहीं जानता । यदि जानता होता तो किसीको विवाद नहीं होना चाहिए था । जैसे घट और कुम्हारको कार्यकारणभावमे किसीको विवाद नहीं है । दूसरी बात यह है कि अर्थ तो विषय (ज्ञेय) है वह कारण कैसे हो सकता है ? कारण तो इन्द्रिय और मन हैं । तीसरे, अर्थके रहने पर भी विपरीत ज्ञान देखा जाता है और अर्थाभावमे भी केशोण्डुकादि ज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार आलोकभी ज्ञानके प्रति कारण नहीं है, क्योंकि आलोकाभावमे उल्लू आदिको ज्ञान होता है और आलोकसद्भावमे सशयादि ज्ञान देखे जाते हैं । अतः अर्थादिक ज्ञानके कारण नहीं हैं । किन्तु आवरणक्षयोपशमापेक्ष इन्द्रिय और मन ही ज्ञानके कारण है ।' इसके साथ ही उन्होंने अर्थजन्यत्व आदिको ज्ञानकी प्रमाणतामे अप्रयोजक बतलाने हुए कहा है^१ कि 'तदुत्पत्तिः, ताद्रूप्य और

१ "अयमर्थ इति ज्ञान विद्याश्रोतृत्पत्तिमर्थत ।

अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥"—लघी० ५३ ।

"अर्थस्य तदकारणत्वात् । तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् अर्थस्य विषयत्वात् ।"—लघी० स्वो० का० ५२ ।

"यथास्व कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्त विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः । नाननुकृतान्वयव्यतिरेक कारण नाकारण विषय' इति वालिशगीतम् ताममखगकुलाना तमसि सति रूपदर्शनमावरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि सशयादिज्ञानसम्भवात् । काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शखादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्ते मुमूर्षाणां यथासम्भवमर्थं सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारण ज्ञानस्येति ।"—लघी० १७ ।

१ "न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्वचवसिति सह ।

प्रत्येक वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुनाम् ॥

नार्थ कारण विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्ते अतीततमवत् . न ज्ञान

तदध्यवसाय ये तीनों मिलकर अथवा प्रत्येक भी प्रमाणतामें कारण नहीं हैं। क्योंकि अर्थ ज्ञानक्षणको प्राप्त न होकर पहले ही नष्ट हो जाता है और ज्ञान अर्थके अभावमें ही होता है, उसके रहते हुए नहीं होता, इसलिए तदुत्पत्ति ज्ञान-प्रामाण्यमें प्रयोजक नहीं है। ज्ञान अमूर्त है, इसलिए उसमें आकार सम्भव नहीं है। मूर्त्तिक दर्पणादिमें ही आकार देखा जाता है। अतः तदाकारता भी नहीं बनती है। ज्ञानमें अर्थ नहीं और न अर्थ ज्ञानात्मक है जिसमें ज्ञानके प्रतिभासमान होने पर अर्थका भी प्रतिभास हो जाय। अन तदध्यवसायभी उत्पन्न नहीं होता। जब ये तीनों बनते ही नहीं तब वे प्रामाण्यके प्रति कारण कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं। अतएव जिस प्रकार अर्थ अपने कारणोंसे होता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने (इन्द्रिय-क्षयोपशमादि) कारणों से होता है। इसलिए सवाद (अर्थव्यभिचार)को ही ज्ञानप्रामाण्यका कारण मानना सङ्गत और उचित है। अकलङ्कदेवका यह सयुक्तिक निरूपण ही उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द आदि सभी जैन नैयायिकों के लिए आधार हुआ है। धर्मभूषणने भी इसी पूर्वपरम्पराका अनुसरण करके बौद्धोंके अर्थालोककारणवादकी मुन्दर समालोचना की है।

तत्कार्यं तदभाव एव भावात्, तद्भावे चाऽभावात् भविष्य नार्थसारूप्य-
भृद्विज्ञानम्, अमूर्त्तत्वात्। मूर्त्ता एव हि दर्पणादय मूर्त्तमुखादिप्रतिवि-
म्बवारिणो दृष्टा, नामूर्त्तं मूर्त्तप्रतिविम्बभृत्, अमूर्त्तं च ज्ञानम्, मूर्त्तिवर्मा-
भावात्। न हि ज्ञानेऽर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने
प्रतिभासेत गन्धवत्। तत तदध्यवसायो न स्यात्। कथमेतदविद्यमान
त्रितय ज्ञानप्रामाण्य प्रत्युपकारक स्यात् अलक्षणत्वेन ?” लघीय० स्वी०
का० ५८।

१ “स्वहेतुजनितोऽप्यर्थ परिच्छेद्य स्वतो यथा।

तथा ज्ञान स्वहेतूत्य परिच्छेदात्मक स्वत ॥—लघीय०का० ५९।

१० सन्निकर्ष—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्षको प्रत्यक्षका स्वरूप मानते हैं। पर वह निर्दोष नहीं है। प्रथम तो, वह अज्ञानरूप है और इसलिए वह अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमिति के प्रति करण-प्रमाण ही नहीं बन सकता है तब वह प्रत्यक्षका स्वरूप कैसे हो सकता है ? दूसरे, सन्निकर्षको प्रत्यक्षका लक्षण माननेमें अव्याप्ति नामका दोष आता है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय बिना सन्निकर्षके ही रूपादिका ज्ञान कराती है। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि चक्षुरिन्द्रिय अर्थको प्राप्त करके रूपज्ञान कराती है। कारण, चक्षुरिन्द्रिय दूर स्थित होकर ही उदार्यज्ञान कराती हुई प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे प्रतीत होती है। तीसरे आप्तमें प्रत्यक्ष-ज्ञानके अभावका प्रसङ्ग आता है, क्योंकि आप्तके इन्द्रिय या इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षपूर्वक ज्ञान नहीं होता। अन्यथा सर्वज्ञता नहीं बन सकती है। कारण, सूक्ष्मादि पदार्थोंमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सम्भव नहीं है^१। अतः सन्निकर्ष अव्याप्त होने तथा अज्ञानात्मक होनेसे प्रत्यक्षका लक्षण नहीं हो सकता है।

११ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय जन्य ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है।^२ सांव्यवहारिक उमे इसलिए कहते हैं कि लोकमें दूसरे दर्शनकार इन्द्रिय और मन सापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तवमें तो जो ज्ञान परनिरपेक्ष एव आत्ममात्र सापेक्ष तथा पूर्ण निर्मल है वही ज्ञान प्रत्यक्ष है। अतः लोकव्यवहारको समन्वय करनेकी दृष्टिसे अक्षजन्य ज्ञानको भी प्रत्यक्ष कहनेमें कोई अनीचित्य नहीं है। सिद्धान्तकी भाषामें तो उसे

१ सर्वार्थसि० १- २। तथा न्यायविनश्चय का० १६७।

२ “सांव्यवहारिक इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्—लघी० स्वो० का० ४।

परोक्ष ही कहा गया है। जैनदर्शनमें सव्याहारिक प्रत्यक्षके जो मतिज्ञान-रूप हैं, भेद और प्रभेद सब मिलकर ३३६ बताये गए हैं। जिन्हें एक नक्शेके द्वारा पहले बता दिया गया है।

१२. मुख्य प्रत्यक्ष—

दार्शनिक जगतमें प्रायः सभीने एक ऐसे प्रत्यक्षको स्वीकार किया है, जो लौकिक प्रत्यक्षसे भिन्न है और जिसे अलौकिक प्रत्यक्ष^१, योगि-प्रत्यक्ष^२ या योगिज्ञानके नामसे कहा गया है। यद्यपि किसी किसीने इस प्रत्यक्षमें मनकी अपेक्षा भी वर्णित की है तथापि योगजघर्मका प्रामुख्य होनेके कारण उसे अलौकिक ही कहा गया है। कुछ ही हो, यह अवश्य है कि आत्मामें एक अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। जैनदर्शनमें ऐसे ही आत्ममात्र सापेक्ष साक्षात्मक अतीन्द्रिय ज्ञानको मुख्य प्रत्यक्ष या पारमार्थिक प्रत्यक्ष माना गया है और जिस प्रकार दूसरे दर्शनोंमें अलौकिक प्रत्यक्षके भी परिचितज्ञान, तारक, कैवल्य या युक्त, युञ्जान आदिरूपसे भेद पाये जाते हैं उसी प्रकार जैनदर्शनमें भी विकल, सकल अथवा अववि, मन पर्वय और केवलज्ञान रूपसे मुख्यप्रत्यक्षके भी भेद वर्णित किये गये हैं। विशेष यह कि नैयायिक और वैशेषिक प्रत्यक्षज्ञानको अतीन्द्रिय मानकर भी उसका अस्तित्व केवल नित्य-ज्ञानाधिकरण ईश्वरमें ही बतलाते हैं। पर जैनदर्शन प्रत्येक आत्मामें उसका सम्भव प्रतिपादन करता है और उसे विशिष्ट आत्मगुद्धिसे पैदा होनेवाला बतलाता है। आ० धर्मभूषणने भी अनेक युक्तियोंके साथ ऐसे ज्ञानका उपपादन एवं समर्थन किया है।

१२. सर्वज्ञता—

भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें सर्वज्ञतापर बहुत ही व्यापक और विस्तृत

१ “एव प्रत्यक्ष लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम्।”—सिद्धान्तमु० पृ० ४७।

२ “भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तज योगिप्रत्यक्षम्।”—न्यायविन्दु पृ० २०।

विचार किया गया है। चार्वाक और मीमांसक ये दो ही दर्शन ऐसे हैं जो सर्वज्ञता का निषेध करते हैं। शेष सभी न्याय-वैशेषिक, योग-साख्य, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन सर्वज्ञताका स्पष्ट विधान करते हैं। चार्वाक इन्द्रियगोचर, भौतिक पदार्थोंका ही अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उनके मतमें परलोक, पुण्यपाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं हैं। भूतचैतन्यके अलावा कोई नित्य अतीन्द्रिय आत्मा भी नहीं है। अतः चार्वाक दर्शनमें अतीन्द्रियार्थदर्शी सर्वज्ञ आत्माका सम्भव नहीं है। मीमांसक परलोक, पुण्य-पाप, नित्य आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको मानते अवश्य हैं पर उनका कहना है कि धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान वेदके द्वारा ही हो सकता है^१। पुरुष तो रागादिदोषोंसे युक्त हैं। चूँकि रागादि-दोष स्वाभाविक हैं और इसलिए वे आत्मा से कभी नहीं छूट सकते हैं। अतएव रागादि दोषोंके सर्वदा बने रहनेके कारण प्रत्यक्षसे धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है। न्याय-वैशेषिक ईश्वरमें सर्वज्ञत्व माननेके अतिरिक्त दूसरे योगी आत्माओंमें भी स्वीकार करते हैं^२। परन्तु उनका वह सर्वज्ञत्व मोक्ष-प्राप्तिके बाद नष्ट हो जाता है। क्योंकि वह योगजन्य होनेसे अनित्य है। हाँ, ईश्वरका सर्वज्ञत्व नित्य एव शाश्वत है। प्रायः यही मान्यता साख्य, योग और वेदान्तकी है। इतनी विशेषता है कि वे आत्मामें सर्वज्ञत्व न मानकर बुद्धितत्त्वमें ही सर्वज्ञत्व मानते हैं जो मुक्त अवस्था में छूट जाता है।

१ “चोदना हि भूत भवन्त भविष्यन्त सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टमित्येव जातीयकमर्थमवगमयितुमलम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्।”—शावरभा० १-१-२। २ “अस्मद्विगिण्टाना तु योगिना युक्ताना योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समदेतगुणकर्म-सामान्यविशेषेषु समवाये चावितथ स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते। वियुक्ताना पुनः ।”—प्रशस्तपा० भा० पृ० १८७।

मीमांसक दर्शन^१ जहाँ केवल धर्मज्ञताका निषेध करता है और सर्वज्ञताके मानमें इष्टापत्ति प्रकट करता है वहाँ बौद्धदर्शनमें^२ सर्वज्ञताको अनुपयोगी बतलाकर धर्मज्ञता को प्रश्रय दिया गया है। यद्यपि शान्त-रक्षित^३ प्रभृति बौद्ध तार्किकों ने सर्वज्ञताका भी साधन किया है। पर वह गौण है^४। मुख्यतया बौद्धदर्शन धर्मज्ञवादी ही प्रतीत होता है।

जैनदर्शनमें आगमग्रन्थों और तर्कग्रन्थोंमें सर्वत्र धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनोंका ही प्रारम्भसे प्रतिपादन एवं प्रबल समर्थन किया गया है। पट्-खण्डागमसूत्रोंमें^५ सर्वज्ञत्व और धर्मज्ञत्वका स्पष्टतः समर्थन मिलता है। आ० कुन्दकुन्दने^६ प्रवचनसारमें विस्तृतरूपसे सर्वज्ञताकी सिद्धि की है। उत्तरवर्ती समन्तभद्र, सिद्धमेन, अकलङ्क, हरिभद्र, विद्यानन्द प्रभृति जैन तार्किकोंने धर्मज्ञत्वको सर्वज्ञत्वके भीतरही गभित करके सर्वज्ञत्व पर महत्वपूर्ण प्रकरण लिखे हैं। समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाको तो अकलङ्कदेवने^७ 'सर्वज्ञविशेषपरीक्षा' कहा है। कुछ भी हो, सर्वज्ञताके

१ "धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुष केन वार्यते ॥"—तत्त्वस० का० ३१२८। तत्त्वसंग्रहमें यह श्लोक कुमारिलके नामसे उद्धृत हुआ है। २ "तस्मादनुष्ठानगत ज्ञानमस्य विचार्यताम्। कीटसख्यापरिज्ञाने तस्य न बोधोपयुज्यते ॥ हेयोपादेयतत्त्वस्य साम्युपायस्य वेदक। य प्रमाणमसाविष्ठो न तु सर्वस्य वेदक ॥"—प्रमाणवा० २-३१, ३२। ३ "स्वर्गपिवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते। साक्षात् केवल किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते।"—तत्त्वस० का ३३०६। ४ "मुख्य हि तावत् स्वर्गमोक्षमप्रापकहेतुज्ञत्वसाधन भगवतोऽस्माभि क्रियते। यत्पुन अशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधनमस्य तत् प्रासङ्गिकम्।"—तत्त्वस० प० पृ० ८३३। ५ "सर्वलोए सर्वजीवे सर्वभागे सर्व सम जाणदि पस्सदि"—खट्ख० पयडिअणु० सू० ७८। ६ देखो, प्रवचन-सार, ज्ञानमीमांसा। ७ देखो, अष्टश० का० ११४।

सम्बन्धमे जितना अधिक चिन्तन जैनदर्शनने किया है और भारतीयदर्शन-शास्त्रको तत्सम्बन्धी विपुल साहित्यसे समृद्ध बनाया है उतना अन्य दूसरे दर्शनने शायद ही किया हो ।

अकलङ्कदेवने^१ सर्वज्ञत्वके साधनमे अनेक युक्तियोंके साथ एक युक्ति बड़े मार्फकी कही है वह यह कि सर्वज्ञके सद्भावमे कोई बाधक प्रमाण नहीं है इसलिए उसका अस्तित्व होना ही चाहिए । उन्होंने जो भी बाधक हो सकते हैं उन सबका सुन्दर ढङ्गसे निराकरण भी किया है । एक दूसरी महत्वपूर्ण युक्ति उन्होने यह दी है^२ कि 'आत्मा 'ज्ञ'—ज्ञाता है और उसके ज्ञानस्वभावको ढकनेवाले आवरण दूर होते हैं । अतः आवरणोंके विच्छिन्न हो जानेपर ज्ञस्वभाव आत्माके लिए फिर ज्ञेय—जानने योग्य क्या रह जाता है ? अर्थात् कुछभी नहीं । अप्राप्यकारी ज्ञानसे सकलार्थपरिज्ञान होना अवश्यम्भावी है ? इन्द्रियाँ और मन सकलार्थपरिज्ञानमे साधक न होकर बाधक हैं वे जहाँ नहीं हैं और आवरणोंका पूर्णतः अभाव है वहाँ त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थोंका साक्षात् ज्ञान होनेमे कोई बाधा नहीं है । वीरसेनस्वामी^३ और आचार्य विद्यानन्दने^४ भी इसी आशयके एक महत्वपूर्ण श्लोकको^५ उद्धृत करके ज्ञस्वभाव आत्मामे सर्वज्ञताका उपपादन किया है जो वस्तुतः अकेला ही सर्वज्ञताको सिद्ध करनेमे समर्थ एव पर्याप्त है । इस तरह हम देखते हैं कि जैनपरम्परामे

१ देखो, अष्टश० का० ३ ।

२ "ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेय किमवशिष्यते ।

अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम् ॥"—न्यायवि० का० ४६५ । तथा देखो, का० ३६१, ३६२ । ३ देखो, जयघवला प्र० भा० पृ० ६६ । ४ देखो, अष्टस० पृ० ५० ।

५ 'ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञ स्यादसति प्रतिबन्धने ।

दाह्येऽग्निर्दाहिको न स्यादसति प्रतिबन्धने ॥"

मुख्य और निरुपाधिक एव निरवधि सर्वज्ञता मानी गई है। वह साख्य-योगादिकी तरह जीवन्मुक्त अवस्था तक ही सीमित नहीं रहती, मुक्त अवस्थामे भी अन्तकाल तक बनी रहती है। क्योंकि ज्ञान आत्माका मूलभूत निजी स्वभाव है और सर्वज्ञता आवरणाभावमे उसीका विकसित पूर्णरूप है। इतरदर्शनोकी तरह वह न तो मात्र आत्ममन सयोगादि जन्य है और न योगजविभूति ही है। आ० धर्मभूषणने स्वामी समन्तभद्रकी सरणिसे सर्वज्ञताका साधन किया है और उन्हीकी सर्वज्ञत्वसाधिका कारिकाओका स्फुट विवरण किया है। प्रथम तो सामान्य सर्वज्ञका समर्थन किया है। पीछे 'निर्दोषत्व' हेतुके द्वारा अरहन्त जिनको ही सर्वज्ञ सिद्ध किया है।

१४. परोक्ष—

जैनदर्शनमे प्रमाणका दूसरा भेद परोक्ष है। यद्यपि बौद्धोंने^१ परोक्ष शब्दका प्रयोग अनुमानके विषयभूत अर्थमे किया है। क्योंकि उन्होने दो प्रकारका अर्थ माना है—१ प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष तो साक्षात्क्रियमाण है और परोक्ष उससे भिन्न है तथापि जैन परम्परामे^२ 'परोक्ष' शब्दका प्रयोग प्राचीन समयसे परोक्ष ज्ञानमे ही होता चला आ रहा है। दूसरे प्रत्यक्षता और परोक्षता वस्तुतः ज्ञाननिष्ठ धर्म है। ज्ञानको प्रत्यक्ष एव परोक्ष होने से अर्थभी उपचारसे प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा जाता है। यह अवश्य है कि जैन दर्शनके इस 'परोक्ष' शब्द का व्यवहार और उसकी परिभाषा दूसरो को कुछ विलक्षण-सी मालूम होगी परन्तु

१ "द्विविधो अर्थः प्रत्यक्षः परोक्षश्च। तत्र प्रत्यक्षविषयः साक्षात्क्रियमाणः प्रत्यक्षः। परोक्षः पुनरसाक्षात्परिच्छिद्यमानोऽनुमेयत्वादनुमानविषयः।"—प्रमाणप० पृ० ६५। न्यायवा० तात्प० पृ० १५८।

२ "ज परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भण्णिदमत्थेसु।

जदि केवलेण णाद हवदि हि जीवेण पच्चक्ख ॥"—प्रवचनसा० गा० ५८।

वह इतनी सुनिश्चित और वस्तुस्पर्शी हैं कि शब्द को तोड़े मरोड़े बिना ही सहजमे आर्थिक बोध हो जाता है। परोक्षकी जैनदर्शनसम्मत परिभाषा विलक्षण इसलिए मालूम होगी कि लोकमे इन्द्रियव्यापार रहित ज्ञानको परोक्ष कहा गया है^१। जबकि जैनदर्शनमे इन्द्रियादि परकी अपेक्षासे होने वाले ज्ञानको परोक्ष कहा है^२। वास्तवमे 'परोक्ष' शब्दसे भी यही अर्थ ध्वनित होता है। इस परिभाषाको ही केन्द्र बनाकर अकलङ्कदेवने परोक्ष की एक दूसरी परिभाषा रखी है। उन्होंने अविशद ज्ञानको परोक्ष कहा है^३। जान पड़ता है कि अकलङ्कदेवका यह प्रयत्न सिद्धान्त मतका लोकके साथ समन्वय करनेकी दृष्टिसे हुआ है। वादमे तो अकलङ्कदेवकृत यह परोक्ष-लक्षण जैनपरम्परामे इतना प्रतिष्ठित हुआ है कि उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने^४ उसे अपनाया है। यद्यपि सबकी दृष्टि परोक्षको परापेक्ष मानने की ही रही है।

आ कुन्दकुन्दने^५ परोक्षका लक्षण तो कर दिया था, परन्तु उसके भेदोका कोई निर्देश नहीं किया था। उनके पश्चाद्वर्ती आ० उमास्वातिने परोक्षके भेदोको भी स्पष्टतया सूचित कर दिया और मतिज्ञान तथा श्रुत-ज्ञान ये दो भेद बतलाये। मतिज्ञानके भी मति, स्मृति, सजा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्याय नाम कहे। चूँकि मति मतिज्ञान सामान्यरूप है। अतः मतिज्ञानके चार भेद हैं। इनमे श्रुतको और मिला देनेपर परोक्षके फलतः उन्होंने पाँचभी भेद सूचित कर दिए और पूज्यपादने उपमानादिक के प्रमाणान्तरत्त्वका निराकरण करते हुए उन्हें परोक्षमें ही अन्तर्भाव हो जानेका संकेत कर दिया। लेकिन परोक्षके पाँच भेदोकी सिलसिलेवार

१ देखो, सर्वार्थसि० १-१२। २ सर्वार्थसि० १-११। ३ "ज्ञान-स्यैव विशदनिर्भासित प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता।"—लघीय० स्वी० का० ३। ४ परीक्षामु० २-१, प्रमाणपरी० पृ० ६६। ५ प्रवचन-सा० १-५८।

व्यवस्था सर्वप्रथम अकलङ्कदेवने की है^१। इसके बाद माणिक्यनन्दि आदि ने परोक्षके पाँच ही भेद वर्णित किये हैं। हाँ, आचार्य वादिराजने^२ अवश्य परोक्षके अनुमान और आगम ये दो भेद बतलाये हैं। पर इन दो भेदोकी परम्परा उन्हीं तक सीमित रही है, आगे नहीं चली, क्योंकि उत्तरकालीन किसीभी ग्रन्थकारने उसे नहीं अपनाया। कुछ भी हो, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन्हे सभीने निर्विवाद परोक्ष-प्रमाण स्वीकार किया है। अभिनव घर्मभूषणने भी इन्हीं पाँच भेदोका कथन किया है।

१५. स्मृति—

यद्यपि अनुभूतार्थविषयक ज्ञानके रूपमे स्मृतिको सभी दर्शनोने स्वीकार किया है। पर जैनदर्शनके सिवाय उसे प्रमाण कोई नहीं मानते हैं। साधारणतया सबका कहना यही है कि स्मृति अनुभव के द्वारा गृहीत विषयमे ही प्रवृत्त होती है, इसलिए गृहीतग्राही होनेसे वह प्रमाण नहीं है^३। न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और बौद्ध सबका प्रायः यही अभिप्राय है। जैनदार्शनिकोका कहना है कि प्रामाण्यमे प्रयोजक अविसवाद है। जिस प्रकार प्रत्यक्षसे जाने हुए अर्थमे विसवाद न होनेसे वह प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार स्मृति से जाने हुए अर्थमे भी कोई विसवाद नहीं होता और जहाँ होता है वह स्मृत्याभास है^४। अतः स्मृति प्रमाणही होना

१ लघीय० का० १० और प्रमाणस० का २। २ “तच्च (परोक्ष) द्विविधमनुमानमागमश्चेति। अनुमानमपि द्विविधं गौणमुख्यविकल्पात्। तत्र गौणमनुमानं त्रिविधम्, स्मरणम्, प्रत्यभिज्ञा, तर्कश्चेति ।”—प्रमाणनि० पृ० ३३। ३ “सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं समान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति, तद्विषया तदूनविषया वा न तु तदधिकविषया, सोऽयं वृत्त्यन्तराद्विशेषः स्मृतेरिति विमृशति।”—तत्त्ववैशा० १-११। ४ देखो, प्रमाणपरीक्षा पृ० ६६।

चाहिए। दूसरे, विस्मरणारिक्त्य समारोपना वह व्यवच्छेद करनी है इन-
लिए भी वह प्रमाण है। तीसरे अनुभव तो वर्तमान अवस्था ही गिना
करता है और स्मृति अतीत अर्थको विषय करती है। अतः स्मृति कथ-
चिद् अगृहीतग्राही होनेसे प्रमाण ही है।

१६. प्रत्यभिज्ञान—

पूर्वोत्तरविवर्तवर्ती वस्तुको विषय करनेवाले प्रत्ययको प्रत्यभिज्ञान
कहते हैं। प्रत्यवमर्श, मज्ञा और प्रत्यभिज्ञा ये उन्हींके पर्याय नाम हैं।
बौद्ध चूँकि क्षणिकवादी है उगनाएँ वे उसे प्रमाण नहीं मानते हैं। उनका
कहना है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओंमें रहनेवाला जब कोई एकत्व है
नहीं तब उनको विषय करनेवाला एक ज्ञान कैसे हो सकता है? अतः
'यह वही है' यह ज्ञान नादृश्यविषयक है। अथवा प्रत्यक्ष और स्मरणरूप
दो ज्ञानोंका समुच्चय है। 'यह' अशको विषय करनेवाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष
है और 'वह' अशको ग्रहण करनेवाला ज्ञानस्मरण है, इन तरह वे दो
ज्ञान हैं। अतएव यदि एकत्वविषयक ज्ञान हो भी तो वह भ्रान्त है—
अप्रमाण है। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक और मीमांसक जो कि स्मिर-
वादी हैं, एकत्व विषयक ज्ञानको प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रमाण तो मानते हैं।
पर वे उस ज्ञानको स्वतंत्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार करते
हैं। जैनदर्शनका मन्तव्य है कि प्रत्यभिज्ञान न तो बौद्धोंकी तरह अप्रमाण

१ "ननु च तदेवेत्यतीतप्रतिभासस्य स्मरणरूपत्वात्, इदमिति सवेद-
नस्य प्रत्यक्षरूपत्वात् नवेदनद्वितयमेवैतत् तादृशमेवेदमिति स्मरणप्रत्यक्ष-
सवेदनद्वितयवत् । ततो नैकज्ञान प्रत्यभिज्ञास्य प्रतिपद्यमान सम्भवति ।"
—प्रमाणप० पृ० ६६ । २ देखो, न्यायदी० पृ० १८८का फुटनोट । ३ "स्म-
रणप्रत्यक्षजन्यस्य पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानस्यैकस्य
सुप्रतीतत्वात् । न हि तदिति स्मरण तथाविधद्रव्यव्यवसायात्मक तस्यातीत

है और न न्याय-वैशेषिक आदिकी तरह प्रत्यक्ष प्रमाण ही है । किन्तु वह प्रत्यक्ष और स्मरणके अनन्तर उत्पन्न होनेवाला और पूर्व तथा उत्तर पर्यायोमे रहनेवाले वास्तविक एकत्व, सादृश्य आदिको विषय करनेवाला स्वतन्त्र ही परोक्ष-प्रमाणविशेष है । प्रत्यक्ष तो मात्र वर्तमान पर्यायको ही विषय करता है और स्मरण अतीत पर्यायको ग्रहण करता है । अतः उभयपर्यायवर्ती एकत्वादिको जाननेवाला सकलनात्मक (जोड़रूप) प्रत्यभिज्ञान नामका जुदा ही प्रमाण है । यदि पूर्वोत्तरपर्यायव्यापी एकत्वका अपलाप किया जावेगा तो कही भी एकत्वका प्रत्यय न होनेसे एक सन्तानकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी । अतः प्रत्यभिज्ञानका विषय एकत्वादिक वास्तविक होनेसे वह प्रमाण ही है—अप्रमाण नहीं । और विराट् प्रतिभास न होनेसे उसे प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं कहा जासकता है । किन्तु स्पष्ट प्रतीति होनेसे वह परोक्ष प्रमाणका प्रत्यभिज्ञान नामक भेद-विशेष है । इसके एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, वैयासादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदि अनेक भेद जैनदर्शनमें माने गये हैं । यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि आचार्य विद्यानन्दने^१ प्रत्यभिज्ञानके एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान ये दो ही भेद बतलाये हैं । लेकिन दूसरे सभी जैनतार्किकोंने उल्लिखित अनेक—दोसे अधिक भेद गिनाये हैं । इसे एक मान्यताभेद ही कहा जासकता है । धर्मभूषणने एकत्व, सादृश्य और वैयासादृश्य विषयक तीन प्रत्यभिज्ञानोंको उदाहरणद्वारा कण्ठोक्त कहा है

विवर्त्तमात्रगोचरत्वात् । नापीदमिति सवेदन तस्य वर्त्तमानविवर्त्तमात्रविषयत्वात् । ताम्यामुपजन्य तु सकलज्ञानं तदनुवादपुरस्सरं द्रव्यं प्रत्यवमृशत् ततोऽन्यदेव प्रत्यभिज्ञानमेकत्वविषयं तदपह्लवे क्वचिदेकान्वयाव्यवस्थानात् सन्तानैकत्वसिद्धिरपि न स्यात् ।” —प्रमाणप० पृ० ६६, ७० ।

१ देखो, तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६०, अष्टस० पृ० २७६, प्रमाणपरी० पृ० ६६ ।

और यथाप्रतीति अन्य प्रत्यभिज्ञानोको भी स्वयं जाननेकी सूचना की है । इससे यह मालूम होता है कि प्रत्यभिज्ञानोकी दो या तीन आदि कोई निश्चित संख्या नहीं है । अकलङ्कदेव^१, माणिक्यनन्दि^२ और लघु अनन्त-वीर्यने^३ प्रत्यभिज्ञानके बहुभेदोकी ओर स्पष्टतया सकेत भी किया है । इस उपर्युक्त विवेचनसे यही फलित होता है कि दर्शन और स्मरणसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी सकलनात्मक ज्ञान हो वे सब प्रत्यभिज्ञान प्रमाण समझना चाहिए । भले ही वे एकसे अधिक क्यों न हों, उन सबका प्रत्यभिज्ञानमे ही अन्तर्भाव हो जाता है । यही कारण है कि नैयायिक जिस सादृश्यविषयक ज्ञानको उपमान नामका अलग प्रमाण मानता है वह जैन-दर्शनमे सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है । उपमानको पृथक् प्रमाण माननेकी हालतमे वैसादृश्य, प्रतियोगित्व, दूरत्व आदि विषयक ज्ञानो को भी उसे पृथक् प्रमाण माननेका आपादन किया गया है^४ । परन्तु जैनदर्शनमे इन सबको सकलनात्मक होनेसे प्रत्यभिज्ञानमे ही अन्तर्भाव कर लिया है ।

१७ तर्क—

सामान्यतया विचारविशेषका नाम तर्क है । उसे चिन्ता, ऊहा, ऊहापोह आदि भी कहते हैं । इसे प्रायः सभी दर्शनकारोंने माना है । न्यायदर्शनमे वह एक पदार्थान्तररूपसे स्वीकृत किया गया है । तर्कके प्रामाण्य और अप्रामाण्यके सम्बन्धमे न्यायदर्शनका^५ अभिमत है कि तर्क न तो प्रमाणचतु-

१ देखो, लघीय० का २१ । २ परीक्षामु० ३-५-१० ।

३ प्रमेयर० ३-१० ।

४ “उपमान प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।

यदि किञ्चविशेषेण प्रमाणान्तरमिष्यते ॥

प्रमितोऽर्थः प्रमाणानां बहुभेदः प्रसज्यते ।”—न्यायवि० का० ४७२ ।
तथा का० १६, २० । ५ देखो न्यायसूत्र १-१-१ । ६ “तर्को न प्रमाण-
संग्रहीतो न प्रमाणान्तरमपरिच्छेदकत्वात्” • • प्रमाणविषयविभागात्

पटयके अन्तर्गत कोई प्रमाण है और न प्रमाणान्तर है क्योंकि वह अपरिच्छेदक है । किन्तु परिच्छेदकप्रमाणोंके विषयका विभाजक—युक्तायुक्त विचारक होनेसे उनका यह अनुग्राहक—सहकारी है । तात्पर्य यह कि प्रमाणसे जाना हुआ पदार्थ तर्कके द्वारा पुष्ट होता है । प्रमाण जहाँ पदार्थोंको जानने है वहाँ तर्क उनका पोषण करके उनकी प्रमाणताके स्थितीकारणमें सहायता पहुँचाता है^१ । हम देखते हैं कि न्यायदर्शनमें तर्कको प्रारम्भमें सभी प्रमाणोंके सहायकरूपसे माना गया है । किन्तु पीछे उदयनाचार्य^२ वर्द्धमानोपाध्याय^३ आदि पिछले नैयायिकोंने विशेषतः अनुमान प्रमाणमें ही व्यभिचारशङ्काके निवर्त्तक और परम्परया व्याप्ति-

प्रमाणानामनुग्राहक । य प्रमाणाना विषयस्त विभजते । क पुनर्विभाग ? युक्तायुक्तविचार । इद युक्तमिदमयुक्तिमिति । यत्तत्र युक्त भवति तदनुजानाति नत्ववधारयति । अनवधारणात् प्रमाणान्तर न भवति ।”—न्यायवा० पृ० १७ ।

१ “तर्क प्रमाणसहायो न प्रमाणमिति प्रत्यक्षसिद्धत्वात् ।”—न्यायवा० ता० परिशु० पृ० ३२७ । “तथापि तर्कस्यारोपिताव्यवस्थितसत्त्वौपाधिकसत्त्वविषयत्वेनानिश्चायकतया प्रमारूपत्वाभावात् । तथा च सशयात्रच्युतो निर्णय चाप्राप्त तर्क इत्याहु अन्यत्राचार्या । सशयो हि दोलायितानेककोटिक । तर्कस्तु नियता कोटिमालम्ब्यते ।”—तात्पर्यपरिशु० पृ० ३२६ । २ “अनभिमतकोटावनिष्टप्रसङ्गेनानियतकोटिसशयादिनिवृत्तिरूपोऽनुमितिविषयविभागस्तर्केण क्रियते ।”—तात्पर्यपरिशु० पृ० ३२५ । “तर्क शङ्कावधिर्मत । यावदाशङ्क तर्कप्रवृत्ते । तेन हि वर्त्तमानेसोपाधिकोटौ तदायत्तव्यभिचारकौटौ वाऽनिष्टमुपनयतेकच्छा विच्छिद्यते । विच्छिन्नविषयेच्छश्च प्रमाता भूयोदर्शनोपलब्धसाहचर्यं लिङ्गमनाकुलोऽघित्तिष्ठति ।”—न्यायकु० ३-७ । ३ “तर्कसहकृतभूयोदर्शनजसंस्कारसचिवप्रमाणेन व्याप्तिर्गृह्यते ।”—न्यायकुसु० प्रकाश० ३-७ ।

ग्राहकरूपसे तर्कको स्वीकार किया है। तथा व्याप्तिमे ही तर्कका उपयोग वतलाया है^१। विश्वनाथ पञ्चाननका कहना है^२ कि हेतुमे अप्रयोजकत्वादिकी शङ्काकी निवृत्तिके लिए तर्क अपेक्षित होता है। जहाँ हेतुमे अप्रयोजकत्वादिकी शङ्का नहीं होती है वहाँ तर्क अपेक्षित भी नहीं होता है। तर्कसंग्रहकार अन्तर्महदने^३ तो तर्कको अयथार्थानुभव (अप्रमाण) ही वतलाया है। इस तरह न्यायदर्शनमे तर्ककी मान्यता अनेक तरह की है पर उसे प्रमाणरूपमे किसीने भी स्वीकार नहीं किया। बौद्ध तर्कको व्याप्ति-ग्राहक मानते तो हैं पर उसे प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प कहकर अप्रमाण स्वीकार करते हैं। मीमांसक^४ ऊहके नामसे तर्कको प्रमाण मानते हैं।

जैनतार्किक प्रारम्भसे ही तर्कके प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं और उसे सकलदेशकाल व्यापी अविनाभावरूप व्याप्तिका ग्राहक मानते आये हैं। व्याप्तिग्रहण न तो प्रत्यक्षसे हो सकता है, क्योंकि वह सम्बद्ध और चर्त्तमान अर्थको ही ग्रहण करता है और व्याप्ति सर्वदेशकालके उपसंहार-पूर्वक होती है। अनुमानसे भी व्याप्तिका ग्रहण सम्भव नहीं है। कारण, प्रकृत अनुमानसे भी व्याप्तिका ग्रहण माननेपर अन्योन्याश्रय और अन्य अनुमानसे माननेपर अनवस्था दोष आता है। अतः व्याप्तिके ग्रहण करनेके लिए तर्कको प्रमाण मानना आवश्यक एव अनिवार्य है। धर्म-भूषणने भी तर्कको पृथक् प्रमाण सयुक्तिक सिद्ध किया है।

१८. अनुमान—

यद्यपि चार्वाकिके सिवाय न्याय-वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध सभी दर्शनोंने अनुमानको प्रमाण माना है और उसके स्वार्थानुमान

१ “तत्र का व्याप्तिर्यत्र तर्कोपयोगः । न तावत् स्वाभाविकत्वम्...”।”

—न्यायकुसु० प्रकाश० ३-७ । २ देखो, न्यायसूत्रवृत्ति १-१-४० ।

३ देखो, तर्कसं० पृ० १५६ । ४ “त्रिविधश्च ऊहः भवसामसस्कारविषयः ।”

—शावरभा० ६-१-१ ।

तथा परार्थानुमान ये दो भेद भी प्रायः सभीने स्वीकार किये हैं। परलक्षणके विषयमें सबकी एकवाक्यता नहीं है। नैयायिक^१ पाँचरूप हेतुसे अनुमेयके ज्ञानको अथवा अनुमितिकरण (लिङ्गपरामर्श) को अनुमान मानते हैं। वैशेषिक^२, सांख्य^३ और बौद्ध^४ त्रिरूप लिङ्गसे अनुमेयार्थज्ञानको अनुमान कहते हैं। मीमांसक^५ (प्रभाकरके अनुगामी) नियतसम्बन्धैकदर्शनादि चतुष्टय कारणों (चतुर्लक्षण लिङ्ग)से साध्यज्ञान को अनुमान वर्णित करते हैं।

जैन दार्शनिक अविनाभावरूप एकलक्षण साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान प्रतिपादन करते हैं। वास्तवमें जिस हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव (विना—साध्यके अभावमें—अ—साधनका न—भाव—होना) अर्थात् अन्यथानुपपत्ति निश्चित है उस साध्याविनाभावि हेतुसे जो साध्यका ज्ञान होता है वही अनुमान है। यदि हेतु साध्यके साथ अविनाभूत नहीं है

१ देखो, न्यायवा० १-१-५। २ “लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमान लैङ्गिकम्।

लिङ्ग पुन—यदनुमेयेन सम्बद्ध प्रसिद्ध च तदन्विते तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥ ...यदनुमेयेनार्थेन देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितमनुमेयधर्मान्विते चान्यत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धमनुमेयविपरीते च सर्वस्मिन् प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्यानुमापक लिङ्ग भवतीति ।”—प्रशस्तपा० भा० पृ० १००। ३ माठवू० का० ५।

४ “अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम् लिङ्ग पुनस्त्रिरूपमुक्तम्। तस्माद्यदनुमेयेऽर्थे ज्ञानमुत्पद्यतेऽग्निरत्र अनित्य शब्द इति वा तदनुमानम् ।”—न्यायप्र० पृ० ७। ५ “ज्ञातसम्बन्धनियमस्यैकदेशस्य दर्शनात्। एक देशान्तरे बुद्धिरनुमानमवाधिते ॥ ...तस्मात्पूर्णमिदमनमानुकारणपरिगणनम्—नियतसम्बन्धैकदेशदर्शन सम्बन्धनियमस्मरण चाबाधकञ्चाबाधितविषयत्व चेति ।”—प्रकरणपञ्जि० पृ० ६४, ७६।

तो वह साध्यका अनुमापक नहीं हो सकता है और यदि साध्यका अविनाभावी है तो नियमसे वह साध्यका ज्ञान करायेगा । अतएव जैन तार्किकोंने त्रिरूप या पञ्चरूप आदि लिंग में जनित ज्ञानको अनुमान न कह कर अविनाभावी साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमानका लक्षण कहा है^१ । आचार्य धर्मभूषणने भी अनुमानका यही लक्षण बतलाया है और उसका सयुक्तिक विशद व्याख्यान किया है ।

१६. अवयवमान्यता—

परार्थानुमान प्रयोगके अवयवोंके सम्बन्धमें उल्लेखयोग्य और महत्त्व की चर्चा है, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे जानने योग्य है । दार्शनिक परम्परा में सबसे पहिले गौतमने^२ परार्थानुमान प्रयोगके पाँच अवयवोंका निर्देश किया है और प्रत्येकका स्पष्ट कथन किया है । वे अवयव ये हैं—१ प्रतिज्ञा २ हेतु, ३ उदाहरण, ४ उपनय और निगमन । उनके टीकाकार वात्स्यायनने^३ नैयायिकोंकी दशावयवमान्यताका भी उल्लेख किया है । इससे कम या और अधिक अवयवोंकी मान्यताका उन्होंने कोई संकेत नहीं किया । इससे मालूम होता है कि वात्स्यायनके मामले सिर्फ दो मान्यताएँ थी, एक पञ्चावयवकी, जो स्वयं सूत्रकारकी है और दूसरी दशावयवकी, जो दूसरे

१ “निङ्गात्साध्याविनाभावाभिनवोधैकलक्षणात् । लिङ्गिधीरनुमान तत्फल हानादिवुद्ध्य ॥”—लघीय० का० १२ । “साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥”—न्यायवि० का० १७० । “साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।”—परीक्षामु० ३-१४ । प्रमाणपरी० पृ० ७० ।

२ “प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा ।”—न्यायसुत्र १-१-३२

३ “दशावयवानित्येके नैयायिका वाक्ये सचक्षते—जिज्ञासा सशय. शक्य-प्राप्ति प्रयोजन सशयव्युदास इति ।”—न्यायवात्स्या० भा० १-१-३२ ।

किन्ही नैयायिकोंकी है। आगे चलकर हमे उद्योतकरके न्यायवार्तिकमें^१ खण्डन सहित तीन अवयवोंकी मान्यताका निर्देश मिलता है। यह मान्यता बौद्ध विद्वान् दिग्नागकी है। क्योंकि वात्स्यायनके बाद उद्योतकरके पहले दिग्नागने^२ ही अधिकसे अधिक तीन अवयव स्वीकृत किये हैं। सास्य-विद्वान् माठर यदि दिग्नागके पूर्ववर्ती है तो तीन अवयवोंकी मान्यता माठरकी^३ समझना चाहिए। वाचस्पति मिश्रने^४ दो अवयव (हेतु और दृष्टान्त) की मान्यताका उल्लेख किया है और तीन अवयवनिषेधकी तरह उसका निषेध किया है। यह द्वयवयवकी मान्यता बौद्ध तार्किक धर्म-कीर्तिकी है, क्योंकि हेतुरूप एक अवयवके अतिरिक्त हेतु और दृष्टान्त दो अवयवोंको भी धर्मकीर्तिने^५ ही स्वीकार किया है तथा दिग्नागसम्मत पक्ष, हेतु और दृष्टान्तमे से पक्ष (प्रतिज्ञा) को निकाल दिया है। अतः वाचस्पति मिश्रने धर्मकीर्तिकी ही द्वयवयव मान्यताका उल्लेख किया है और उसे प्रतिज्ञाको माननेके लिए सकेत किया है। यद्यपि जैनविद्वान्-

१ “अपरे त्रयवयवमिति × × × त्रयवयवमपि वाक्य यथा न भवति तथोपनयनिगमनयोरर्थान्तरभाव वर्णयन्तो वक्ष्याम ।” —न्यायवा० पृ १०७, १०८ । २ “पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राग्निकानामप्रतीतोऽर्थ प्रतिपाद्यते इति • एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्येच्यन्ते ।” —न्यायप्र० पृ० १, २ । ३ “पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्रयवयवम् ।” —माठरवृ० का० ५ । ४ “त्रयवयवग्रहणमुपलक्षणार्थम्, द्वयवयवमपीत्यपि दृष्टव्यम् • त्रयवयवमपीत्यपिना द्वयवयवप्रतिषेध समुच्चिनोतिउपनयनिगमनयोरित्यत्र प्रतिज्ञाया अपीति दृष्टव्यम् ।” —न्यायवा० तत्प० पृ० २६६, २६७ । ५ “अथवा तस्यैव सावनम्य यन्नाङ्ग प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि • ।” —वादन्या० पृ० ६१ । ‘तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिन । ख्याप्येते विदुषा वाच्यो हेतुरेव हि केवल ।’ —प्रमाणवा० १-१२८ ।

नोने^१ भी दो अवयवोको माना है पर उनकी मान्यता उपर्युक्त मान्यता-से भिन्न है। ऊपरकी मान्यतामे तो हेतु और दृष्टान्त ये दो अवयव हैं और जैन विद्वानो की मान्यतामे प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव हैं। जैन तार्किकोंने प्रतिज्ञाका समर्थन^२ और दृष्टान्तका^३ निराकरण किया है। तीन अवयवोकी मान्यता साख्यो (माठर का० ५) और बौद्धोके अलावा मीमांसको (प्रकरणप० पृ० ८३-८५) की भी है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि लघु अनन्तवीर्य (प्रमेयर० ३-३६) और उनके अनुसर्ता हेमचन्द्र (प्रमाणमी० २-१-८) मीमांसकोकी चार अवयव मान्यताका भी उल्लेख करते हैं यदि इनका उल्लेख ठीक है तो कहना होगा कि चार अवयवोको मानने वाले भी कोई मीमांसक रहे हैं। इस तरह हम देखते हैं कि दशावयव^४ और पञ्चावयवकी मान्यता नैयायिको की है। चार और तीन अवयवोकी मीमांसको, तीन अवयवोकी साख्यो, तीन, दो और एक अवयवोकी बौद्धो और दो अवयवोकी मान्यता जैनोकी है। वादिदेवसूरि-ने^५ धर्मकीर्तिकी तरह विद्वान्के लिए अकेले हेतुका भी प्रयोग बतलाया है। पर अन्य सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानोने परार्थानुमानप्रयोग के कमसे कम दो अवयव अवश्य स्वीकृत किये हैं। प्रतिपाद्योकेअनुरोधसे तो तीन, चार और पाँचभी अवयव माने हैं। आ० धर्मभूषणने पूर्व परम्परानुसार वादकथाकी अपेक्षा दो और वीतरागकथाकी अपेक्षा अधिक अवयवोके भी प्रयोगका समर्थन किया है।

१ “एतद्द्वयमेवानुमानाग नोदाहरणम्।” — परीक्षामु० ३-३७।

२ देखो, परीक्षामु० ३-३४। ३ देखो, परीक्षामु० ३-३८-४३।

४ निर्युक्तिकार भद्रबाहुने (दश० नि० गा० १३७) भी दशावयवोका कथन किया है पर वे नैयायिकोसे भिन्न हैं। ५ देखो, स्याद्वादरत्नाकर पृ० ५४८।

२० हेतुका लक्षण—

हेतुके लक्षणसम्बन्धमे दार्शनिकोका भिन्न भिन्न मत है। वैशेषिक^१, सांख्य^२ और बौद्ध^३ हेतुका त्रैरूप्य लक्षण मानते हैं। यद्यपि हेतुका त्रिरूप लक्षण अधिकांशतः बौद्धोका ही प्रसिद्ध है, वैशेषिक और सांख्योका नहीं। इसका कारण यह है कि त्रैरूप्यके विषयमे जितना सूक्ष्म और विस्तृत विचार बौद्ध विद्वानोंने किया है तथा हेतुविन्दु जैसे तद्विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है^४ उतना वैशेषिक और सांख्य विद्वानोंने न तो विचार ही किया है और न कोई उस विषयके स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे हैं। पर हेतुके त्रैरूप्यकी मान्यता वैशेषिक एवं सांख्योकी भी है। और वह बौद्धोकी अपेक्षा प्राचीन है। क्योंकि बौद्धोकी त्रैरूप्यकी मान्यता तो वसुवन्धु और मुत्स्यतया दिग्नागसे ही प्रारम्भ हुई जान पड़ती है। किन्तु वैशेषिक और सांख्योंके त्रैरूप्यकी परम्परा बहुत पहलेसे चली आ रही है। प्रशस्तपादने^५ अपने प्रशस्तपादभाष्य (पृ० १०० मे काश्यप और (कणाद^६) कथित दो पद्योको उद्धृत किया है, जिनमे पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और

१ देखो, प्रस्तावना पृ० ४५ का फुटनोट। २ सांख्यका० माठर वृ० ५।

३ “हेतुमित्ररूप । किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति,”—न्यायप्र० पृ० १। यही वजह है कि तर्कग्रन्थोंमे बौद्धाभिमत ही त्रैरूप्य का विस्तृत खण्डन पाया जाता है और ‘त्रिलक्षण-कदर्थन’ जैसे ग्रन्थ रचे गये हैं। ४ ये दिग्नाग (४२५ A D) के पूर्ववर्ती हैं और लगभग तीसरी चौथी शताब्दी इनका समय माना जाता है। ५ उद्योतकरने ‘काश्यपीयम्’ शब्दोके साथ न्यायवार्त्तिक (पृ० ६६) मे कणादका सशयलक्षणवाला ‘सामान्यप्रत्यक्षात्’ आदि सूत्र उद्धृत किया है। इससे मालूम होता है कि काश्यप कणादका ही नामान्तर था, जो वैशेषिकदर्शनका प्रणेता एवं प्रवर्तक है।

विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूपोंका स्पष्ट प्रतिपादन एव समर्थन है और माठरने अपनी साख्यकारिकावृत्तिमें उनका निर्देश किया है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि त्रिरूप लिङ्ग को वैशेषिक, सात्य और बौद्ध तीनोंने स्वीकार किया है।

नैयायिक^१ पूर्वोक्त तीन रूपोंमें अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इन दो रूपोंको और मिलाकर पाँचरूप हेतुका कथन करते हैं। यह त्रैरूप्य और पाँचरूप्यकी मान्यता अति प्रसिद्ध है और जिसका खण्डन मण्डन न्यायग्रन्थोंमें बहुलतया मित्रता है। किन्तु इनके अलावा भी हेतुके द्विलक्षण, चतुर्लक्षण और पञ्चलक्षण एव एकलक्षणकी मान्यताओंका उल्लेख तर्कग्रन्थोंमें पाया जाता है। इनमें चतुर्लक्षणकी मान्यता सभवतः मीमांसकोंकी मालूम होती है, जिसका निर्देश प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् प्रभाकरानुयायी शालिकानाथने^२ किया है। उद्योतकर^३ और वाचस्पति मिश्रके^४ अभिप्रायानुसार पञ्चलक्षण की तरह द्विलक्षण, त्रिलक्षण और

१ “गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्, तच्च पञ्चलक्षणम्, कानि पुनः पञ्चलक्षणानि ? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षधर्मत्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्व चेति । एतै पञ्चभिरलक्षणैरुपपन्न लिङ्गमनुमापकं भवति ।” —न्यायमं० पृ० १०१ । न्यायकलि० पृ० २ । न्यायवा० ता० पृ० १७१ । २ देखो, प्रस्तावना पृ० ४२ का फुटनोट । ३ “साध्ये व्यापकत्वम्, उदाहरणे चासम्भव । एव द्विलक्षणस्त्रिलक्षणश्च हेतुर्लभ्यते ।” —न्यायवा० पृ० ११६ । “च शब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्ध चेत्येव चतुर्लक्षण पञ्चलक्षणमनुमानमिति ।” —न्यायवा० पृ० ४६ । ४ “एतदुक्तं भवति, अबाधितविषयमसत्प्रतिपक्ष पूर्ववदिति ध्रुव कृत्वा शेषवदित्येका विधा, सामान्यतोदृष्टमिति द्वितीया, शेषवत्सामान्यतोदृष्टमिति तृतीया, तदेव त्रिविधमनुमानम् । तत्र चतुर्लक्षण द्वयम् । एक पञ्चलक्षणमिति ।” —न्यायवा० ता० पृ० १७४ ।

चतुर्लक्षणकी मान्यताएं नैयायिकोंकी ज्ञात होती हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जयन्तभट्ट^१ने पञ्चलक्षण हेतुका ही समर्थन किया है, उन्होंने अपञ्चलक्षणको हेतु नहीं माना। पिछले नैयायिक शङ्करमिश्रने^२ हेतुकी गमकतामे जितने रूप प्रयोजक एवं उपयोगी हो उतने रूपोंको हेतु-लक्षण स्वीकार किया है और इस तरह उन्होंने अन्वयव्यतिरेकी हेतुमे पाँच और केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतुओंमे चार ही रूप गमकतो-पयोगी बतलाये हैं। यहाँ एक खास बात और ध्यान देनेकी है वह यह कि जिस अविनाभावको जैनताकिकोंने हेतुका लक्षण प्रतिपादन किया है, उसे जयन्तभट्ट^३ और वाचस्पतिने^४ पंच लक्षणोमे समाप्त माना है। अर्थात् अविनाभावके द्वारा ही सर्व रूपोंके ग्रहण हो जाने पर जोर दिया है, पर वे अपनी पंचलक्षण या चार लक्षणवाली नैयायिक परम्पराके मोड़का त्याग नहीं कर सके। इस तरह नैयायिकोंके यहाँ कोई एक निश्चित पक्ष

- १ “केवलान्वयी हेतुर्नास्त्येव अपञ्चलक्षणस्य हेतुत्वाभावात्। केवलव्यतिरेकी तु क्वचिद् विषयेऽन्वयव्यतिरेकमूल प्रवर्तते नात्यन्तमन्वयवाह्य।” —न्यायकलि० पृ० १०।
- २ “केवलान्वयिसाध्यको हेतुः केवलान्वयी। अस्य च पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वावाधितासत्प्रतिपक्षितत्वानि चत्वारि रूपाणि गमकत्वौपयिकानि। अन्वयव्यतिरेकिणस्तु हेतोर्विपक्षासत्त्वेन सह पच। केवलव्यतिरेकेण सपक्षसत्त्वव्यतिरेकेण चत्वारि। तथा च यस्य हेतोर्यावन्ति रूपाणि गमकत्वौपयिकानि स हेतुः।” —वैशेषि० उप० पृ० ६७।
- ३ “एतेषु पंचलक्षणेषु अविनाभाव समाप्यते। अविनाभावो व्याप्तिनियम प्रतिबन्ध साध्याविनाभावित्वमित्यर्थः।” —न्यायकलि० पृ० २।
- ४ “यद्यप्यविनाभाव पचसु चतुर्षु वा रूपेषु लिङ्गस्य समाप्यते इत्यविनाभावेनैव सर्वाणि लिङ्गरूपाणि सङ्गृह्यन्ते, तथापीह प्रसिद्धसच्छब्दाम्या द्वयोः सङ्ग्रहे गोवलीवर्दन्यायेन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेकासत्प्रतिपक्षत्वावाधितविषयत्वानि सङ्गृह्णाति।” —न्यायवा० ता० पृ० १७८।

रहा मालूम नहीं होता । हाँ, उनका पाँचरूप हेतुलक्षण अधिक एव मुख्य प्रसिद्ध रहा और इसीलिये उसीका खण्डन दूसरे तार्किकोंने किया है ।

बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिने 'अपरे' शब्दोंके साथ, जिसका अर्चटने^१ 'नैयायिक और मीमांसको आदि' अर्थ किया है, हेतुकी पचलक्षणोंके साथ ज्ञातत्वको मिलाकर षड्लक्षण मान्यता का भी उल्लेख किया है । यद्यपि यह षड्लक्षणवाली मान्यता न तो नैयायिकोंके यहाँ उपलब्ध होती है और न मीमांसकोंके यहाँ ही पाई जाती है फिर भी सम्भव है कि अर्चटके सामने किसी नैयायिक या मीमांसक आदिका हेतुको षड्लक्षण माननेका पक्ष रहा हो और जिसका उल्लेख उन्होंने किया है । यह भी सम्भव है कि प्राचीन नैयायिकोंने जो ज्ञायमान लिङ्गको और भाट्टोंने ज्ञातिताको अनुमितिमे कारण माना है और जिसकी आलोचना विश्वनाथ पचानने^२ की है उसीका उल्लेख अर्चटने किया हो ।

एकलक्षणकी मान्यता असन्दिग्धरूपसे जैन विद्वानोंकी है, जो अविनाभाव या अन्यथानुपपत्तिरूप है और अकलङ्कदेवके भी पहिलेसे चली आ रही है । उसका मूल सम्भवतः समन्तभद्रस्वामीके 'सधर्मेणैव साध्यस्य साधर्म्यादिविरोधितः' (आप्तमी० का० १०६) इस वाक्यके 'अविरोधतः' :

१ "षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते । कानि पुनः षड्रूपाणि हेतोस्तैरिष्यन्ते इत्याह... त्रीणि चैतानि पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकाख्याणि, तथा अवाधितविषयत्व चतुर्थं रूपम् तथा विवक्षितैकसख्यत्व रूपान्तरं तथा ज्ञातत्व च ज्ञानविषयत्व च, न ह्यज्ञातो हेतुस्वसत्तामात्रेण गमको युक्त इति ।"—हेतुवि० पृ० ६८, हेतुवि० टी० पृ० २०५ । २ "प्राचीनास्तु व्याप्यत्वेन ज्ञायमान लिङ्गमनुमितिकरणमिति वदन्ति । तद्दूषयति अनुमाया ज्ञायमान लिङ्गं तु करणं न हि ।"—सि० सु० पृ० ५० । "भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम् । ज्ञानजन्या ज्ञातता प्रत्यक्षा तथा ज्ञानमनुमीयते ।"—सि० सु० पृ० ११६ ।

पदमे सन्नहित है । अकलङ्कदेवने^१ उसका वैसा विवरण भी किया है । और विद्यानन्दने^२ तो उसे स्पष्टतः हेतुलक्षणका ही प्रतिपादक कहा है । अकलङ्कके पहिले एक पात्रकेशरी या पात्रस्वामी नामके प्रसिद्ध जैनाचार्य भी हो गये हैं जिन्होंने त्रैरूप्यका कदर्थन करनेके लिए 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक ग्रन्थ रचा है और हेतुका एकमात्र 'अन्यथानुपपन्नत्व' लक्षण स्थिर किया है । उनके उत्तरवर्ती सिद्धसेन^३ अकलङ्क, वीरसेन^४, कुमारनन्दि, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र आदि सभी जैनतार्किकोंने अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) को ही हेतुका लक्षण होनेका सबलताके साथ समर्थन किया है । वस्तुतः अविनाभाव ही हेतुकी गमतामे प्रयोजक है । त्रैरूप्य या पाञ्चरूप्य तो गुरुभूत एव अविनाभावका ही विस्तार हैं । इतना ही नहीं दोनो अव्यापक भी हैं । कृत्तिकोदयादि हेतु पक्षवर्म नहीं हैं फिर भी अविनाभाव रहनेसे गमक देखे जाते हैं । आ० धर्मभूषणने भी त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्यकी सोपपत्तिक आलोचना करके 'अन्यथानुपपन्नत्व' को ही हेतुलक्षण सिद्ध किया है और निम्न दो कारिकाओंके द्वारा अपने वक्तव्यको पुष्ट किया है —

१ "सपक्षेणैव साध्यस्य सावर्ण्यादित्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्यम्, अविरोधात् इत्यन्यथानुपपत्तिं च दर्शयता केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं तत्पुत्रत्वादिवत् । एकलक्षणस्य तु गमकत्वं "नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते" इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात् ।—अष्टश० आप्तमी० का० १०६ । २ "भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति, स्याद्वादस्य प्रकाशितत्वात् ।"—अष्टस० पृ० २८६ । ३ सिद्धसेनने 'अन्यथानुपपन्नत्व' को 'अन्यथानुपपन्नत्व हेतोर्लक्षणमीरितम्'—(न्यायवा०का० २१) शब्दों द्वारा दोहराया है और 'ईरितम्' शब्दका प्रयोग करके उसकी प्रसिद्धि एव अनुसरण स्थापित किया है । ४ देखो, धवला० पु० १३, पृ० २४६ ।

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ॥

इनमें पिछली कारिका आचार्य विद्यानन्दकी स्वोपज्ञ है और वह प्रमाणपरीक्षामें उपलब्ध है । परन्तु पहली कारिका किसकी है ? इस सम्बन्धमें यहाँ कुछ विचार किया जाता है ।

इसमें सन्देह नहीं कि यह कारिका त्रैरूप्य खण्डनके लिए रची गई है और वह बड़े महत्वकी है । विद्यानन्दने अपनी उपर्युक्त कारिका भी इसीके आधार पर पाँचरूप्यका खण्डन करनेके लिए बनाई है । इस कारिकाके कर्तृत्वसम्बन्धमें ग्रन्थकारोका मतभेद है । सिद्धिविनिश्चय-टीकाके कर्त्ता अनन्तवीर्यने^१ उसका उद्गम सीमन्वरस्वामीमें बतलाया है । प्रभाचन्द्र^२ और वादिराज^३ कहते हैं कि उक्त कारिका सीमन्वरस्वामीके समवशरणसे लाकर पद्मावतीदेवीने पात्रकेशरी अथवा पात्रस्वामीके लिए समर्पित की थी । विद्यानन्द^४ उसे वास्तिककारकी कहते हैं । वादिदेवसूरि^५ और शातिरक्षित^६ पात्रस्वामीकी प्रकट करते हैं । इस तरह इस कारिका के कर्तृत्वका अनिर्णय बहुत पुरातन है ।

देखना यह है कि उसका कर्त्ता है कौन ? उपर्युक्त सभी ग्रन्थकार ईसाकी आठवीं शताब्दीसे ११वीं शताब्दीके भीतर हैं और शान्तरक्षित (७०५-७६३ ई०) सबसे प्राचीन हैं । शान्तरक्षितने पात्रस्वामीके नामसे और भी कितनी ही कारिकाओं तथा पदवाक्यादिकोका उल्लेख करके उनका आलोचन किया है । इससे वह निश्चितरूपसे मालूम हो

१ सिद्धिविनि० टी० पृ० ३००A । २ देखो, गद्यकथाकोशगत पात्रकेशरीकी कथा । ३ न्यायवि० वि० २-१५४ पृ १७७ । ४ तत्त्वार्थ-श्लो० पृ० २०४ । ५ स्या० रत्ना० पृ० ५२१ । ६ तत्त्वसं० पृ० ४०६ ।

जाता है कि शान्तरक्षितके सामने पात्रस्वामीका कोई ग्रन्थ अवश्यही रहा है। जैनसाहित्यमे पात्रस्वामीकी दो रचनाएँ मानी जाती हैं—१ त्रिलक्षणकदर्थन और दूसरी पात्रकेशरीस्तोत्र। इनमे दूसरी रचना तो उपलब्ध है, पर पहली रचना उपलब्ध नहीं है। केवल ग्रन्थान्तरो आदिमे उसके उल्लेख मिलते हैं। 'पात्रकेशरीस्तोत्र' एक स्तोत्र ग्रन्थ है और उसमे आप्तस्तुतिके बहाने सिद्धान्तमतका प्रतिपादन है। इसमे पात्रस्वामीके नाम से शातिरक्षितके द्वारा तत्त्वसंग्रहमे उद्धृत कारिकाएँ, पद, वाक्यादि कोई नहीं पाये जाते। अतः यही सम्भव है कि वे त्रिलक्षणकदर्थनके हो, क्योंकि प्रथम तो ग्रन्थका नाम ही यह बताता है कि उसमे त्रिलक्षणका कदर्थन—खण्डन—किया गया है। दूसरे, पात्रस्वामीकी अन्य तीसरी आदि कोई रचना नहीं सूनी जाती, जिसके वे कारिकादि सम्भावनास्पद होते। तीसरे, अनन्तवीर्यकी चर्चासे मालूम होता है कि उस समय एक आचार्यपरम्परा ऐसी भी थी, जो 'अन्यथानुपपत्ति' वार्त्तिकको त्रिलक्षणकदर्थनका बतलाती थी। चौथे, वादिराजके उल्लेख और श्रवणवेलगोलाकी मल्लिषेणप्रशस्तिगत पात्रकेशरी विषयक प्रशसापद्य^३से भी उक्त वार्त्तिकादि त्रिलक्षणकदर्थनके जान पड़ते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि पात्रकेशरी नामके एक ही विद्वान् जैन साहित्यमे माने जाते हैं और जो दिग्नाग (४२५ ई०) के उत्तरवर्ती एव अकलङ्कके पूर्वकालीन हैं। अकलङ्कने उक्त वार्त्तिकको न्यायविनिश्चय (का० २२३ के रूपमे)मे दिया है और सिद्धि-विनिश्चयके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामके छठवें प्रस्तावके आरम्भमे उसे स्वामी का 'अमलालीढ' पद कहा है। अकलङ्कदेव शान्तरक्षितके समकालीन हैं।

१ देखो, न्यायवि० वि०। २ "महिमा स पात्रकेशरिगुरो पर भवति यस्य भक्त्यासीत्। पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थन कर्तुम्॥"
३ शान्तरक्षितका समय ७०५ से ७६२ और अकलङ्कदेवका समय ७२० से ७८० ई० माना जाता है। देखो, अकलङ्कग्र० की प्र० पृ० ३२।

और इसलिए यह कहा जा सकता है पात्रस्वामीकी जो रचना (त्रिलक्षण-कदर्शन) शान्तरक्षितके सामने रही वह अकलङ्कदेवके भी सामने अवश्य रही होगी। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वीर्य विद्वान् शान्तरक्षितके लिए जो उक्त वार्त्तिकका कर्त्ता निभ्रान्तिरूपसे पात्रस्वामी विवक्षित हैं वही अकलङ्कदेवको 'स्वामी' पदसे अभिप्रेत हैं। इसलिए स्वामी तथा 'अन्यथानुपपन्नत्व' पद (वार्त्तिक) का सहभाव और शान्ति-रक्षितके सुपरिचित उल्लेख इस बातको माननेके लिए हमें सहायता करने हैं कि उपयुक्त पहली कारिका पात्रस्वामीकी ही होनी चाहिए। अकलङ्क और शान्तरक्षितके उल्लेखोंके बाध विद्यानन्दका उल्लेख आता है। जिसके द्वारा उन्होंने उक्त वार्त्तिकको वार्त्तिकारका वतलाया है। यह वार्त्तिकार राजवार्त्तिकार अकलङ्कदेव मालूम नहीं होते, क्योंकि उक्त वार्त्तिक (कारिका) राजवार्त्तिकमे नहीं है, न्यायविनिश्चयमे है। विद्यानन्दने राजवार्त्तिकके पदवाक्यादिको ही राजवार्त्तिकार (तत्त्वार्थवार्त्तिकार) के नामसे उद्धृत किया है, न्यायविनिश्चय आदिके नहीं। अतः विद्यानन्द का 'वार्त्तिकार' पदसे अन्यथानुपपत्ति' वार्त्तिकके कर्त्ता वार्त्तिकार-पात्रस्वामीही अभिप्रेत हैं। यद्यपि वार्त्तिकारसे न्यायविनिश्चयकार अकलङ्कदेवका ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि न्यायविनिश्चयमे वह वार्त्तिक मूलरूपमे उपलब्ध है, किन्तु विद्यानन्दने न्यायविनिश्चयके पदवाक्यादिको 'न्यायविनिश्चय' के नामसे अथवा 'तदुक्तमकलङ्कदेव' आदिरूपसे ही सर्वत्र उद्धृत किया है। अतः वार्त्तिकारसे पात्रस्वामी ही विद्यानन्दको विवक्षित जान पड़ते हैं। यह हो सकता है कि वे 'पात्रस्वामी' नामकी अपेक्षा वार्त्तिक और वार्त्तिकार नामसे अधिक परिचित होंगे, पर उनका अभिप्राय उसे राजवार्त्तिकारके कहनेका तो प्रतीत नहीं होता।

१ कुछ विद्वान् वार्त्तिकारसे राजवार्त्तिकारका ग्रहण करते हैं।

देखो, न्यायकुम्भ० प्र० प्र० पृ० ७६ और अकलङ्क० टि० पृ० १६४।

अब अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र तथा वादिराजके उल्लेख आते हैं । सो वे मान्यताभेद या आचार्यपरम्पराश्रुतिको लेकर हैं । उन्हें न तो मिथ्या-कहा जा सकता है और न विरुद्ध । हो सकता है कि पात्रस्वामीने अपने इष्टदेव सीमन्वरस्वामीके स्मरणपूर्वक और पद्मावतीदेवीकी सहायतासे उक्त महत्त्वपूर्ण एव विशिष्ट अमलालीढ—निर्दोषपद (वार्त्तिक) की रचना की होगी और इस तरहपर अनन्तवीर्य आदि आचार्योंने कर्तृत्व विषयक अपनी अपनी परिचितिके अनुसार उक्त उल्लेख किये हैं । यह कोई असम्बद्ध, काल्पनिक एव अभिनव बात नहीं है । दिगम्बर पर-परा में ही नहीं श्वेताम्बर परम्परा, वैदिक और बौद्ध सभी भारतीय परम्पराओंमें है । समस्त द्वादशांग श्रुत, मन पर्यय आदि ज्ञान, विभिन्न विभूतिया मन्त्रसिद्धि, ग्रन्थसमाप्ति, सङ्कटनिवृत्ति आदि कार्य परमात्म-स्मरण, आत्म-विशुद्धि, तपोविशेष, देवादिसाहाय्य आदि यथोचित कारणों में होते हुए माने गये हैं । अतः ऐसी बातोंके उल्लेखोंको बिना परीक्षाके एकदम अन्वभक्ति या काल्पनिक नहीं कहा जा सकता । श्वेताम्बर विद्वान् माननीय प० सुखलालजीका यह लिखना कि “इसके (कारिकाके) प्रभाव के काल अतार्किक भक्तोंने इसकी प्रतिष्ठा मनगढन्त ढङ्गसे बढ़ाई । और यहाँ तक वह बढ़ी कि खुद तर्कग्रन्थ लेखक आचार्यभी उस कल्पित ढङ्गके शिकार बने” इस कारिकाको सीमन्वरस्वामीके मुखमेंसे अन्वभक्ति के कारण जन्म लेना पड़ा । इस कारिकाके सम्भवत उद्भावक पात्रस्वामी दिगम्बर परम्पराके ही हैं, क्योंकि भक्तपूर्ण उन मनगढन्त कल्पनाओंकी सृष्टि केवल दिगम्बरीय परम्परा तकही सीमित है ।” (प्रमाणमी० भा० पृ० ८४) केवल अपनी परम्पराका मोह और पक्षग्राहिता के अतिरिक्त कुछ नहीं है । उनकी इन पक्तियों और विचारोंके सम्बन्धमें विशेष कर अन्तिम पक्तिमें कुछ लिखा जा सकता है । इस संक्षिप्त स्थान पर हमें उनसे यही कहना है कि निष्पक्ष विचारके स्थान पर एक विद्वान्को निष्पक्ष विचार ही प्रकट करना चाहिए । दूसरोंको अममें डालना एव

एव स्वयं भ्रामक प्रवृत्ति करना ठीक नहीं है ।

२१ हेतु-भेद—

दार्शनिक परम्परामे सर्वप्रथम कणादने^१ हेतुके भेदोको गिनाया है । उन्होंने हेतुके पाँच भेद प्रदर्शित किये हैं । किन्तु टीकाकार प्रशस्तपाद^२ उन्हें निदर्शन मात्र मानते हैं 'पाँच ही हैं' ऐसा अवधारण नहीं बतलाते । इससे यह प्रतीत होता है कि वैशेषिक दर्शनमे हेतुके पाँचसे भी अधिक भेद स्वीकृत किये गये हैं । न्यायदर्शनके प्रवर्तक गौतमने^३ और साह्य-कारिकाकार ईश्वरकृष्णने पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद कहे हैं । मीमांसक हेतुके कितने भेद मानते हैं, यह मालूम नहीं हो सका । बौद्ध दर्शनमे^४ स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि ये तीन भेद हेतुके बतलाये हैं । तथा अनुपलब्धिके ग्यारह भेद किये हैं^५ । इनमे प्रथमके दो हेतुओंको विधिसाधक और अन्तिम अनुपलब्धि हेतुको निषेधसाधक ही वर्णित किये हैं^६ ।

जैनदर्शनके उपलब्ध साहित्यमे हेतुओंके भेद सबसे पहले अकलङ्कदेव-

१ "अस्येद कार्यं कारण सयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ।"
—वैशेषि० सू० ६-२-१ । २ "शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम् । कस्मात् ? व्यतिरेकदर्शनात् । तद्यथा—अध्वर्युरोश्वावयन् व्यवहितस्य हेतुलिङ्गम् चन्द्रोदय समुद्रवृद्धे कुमुदविकाशस्य च जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति । एवमादि तत्सर्वमस्येदमिति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धम् ।"—प्रशस्तपा० पृ० १०४ । ३ "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ।"—न्यायसू० १-१-५ । ४ "त्रीण्येव लिङ्गानि" "अनुपलब्धि स्वभावकार्ये चेति ।"—न्यायवि० पृ० ३५ । ५ "सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा ।"—न्यायवि० पृ० ४७ । ६ "अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ" "एक प्रतिषेधहेतु" —न्यायवि० पृ० ३६ ।

के प्रमाणसंग्रहमे मिलते हैं । उन्होंने^१ सद्भावसाधक ६ और सद्भावप्रतिषेधक ३ इस तरह नौ उपलब्धियों तथा असद्भावसाधक ६ अनुपलब्धियों का वर्णन करके इनके और भी अवान्तर भेदोंका संकेत करके इन्हींमे अन्तर्भाव हो जानेका निर्देश किया है । साथ ही उन्होंने धर्मकीर्तिके इस कथनका कि 'स्वभाव और कार्यहेतु भावसाधक ही है तथा अनुपलब्धि ही अभावसाधक है' निरास करके उपलब्धिरूप स्वभाव और कार्य हेतुको भी अभावसाधक सिद्ध किया है^२ । अकलङ्कदेव के इसी मन्तव्य को लेकर माणिक्यनन्दि^३, विद्यानन्द^४ तथा वादिदेवसूरिने^५ उपलब्धि और अनुपलब्धिरूपसे समस्त हेतुओंका संग्रह करके दोनोंको विधि और निषेधसाधक बतलाया है और उनके उत्तर भेदोंको परिगणित किया है । आ० धर्मभूषणने भी इसी अपनी पूर्वपरम्परा के अनुसार कतिपय हेतु-भेदोंका वर्णन किया है । न्यायदीपिका और परीक्षामुख के अनुसार हेतुओंके निम्न भेद हैं^६ —

१ "सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धय ॥

तथाऽसद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धय ।

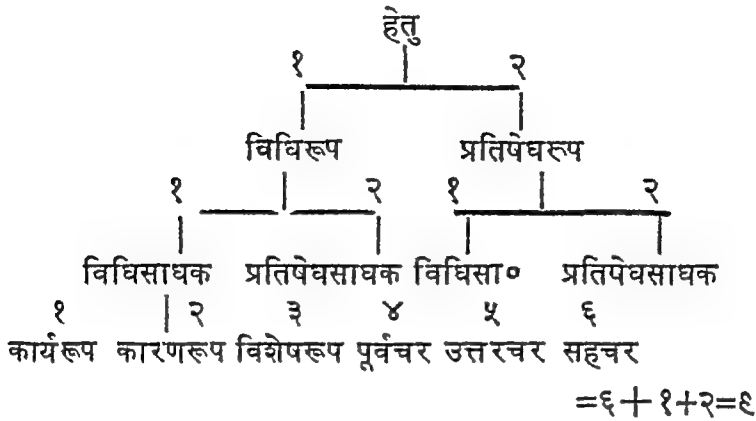
सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धय ॥"—प्रमाणस० का०

२६, ३० । तथा इनकी स्वोपज्ञवृत्ति देखें ।

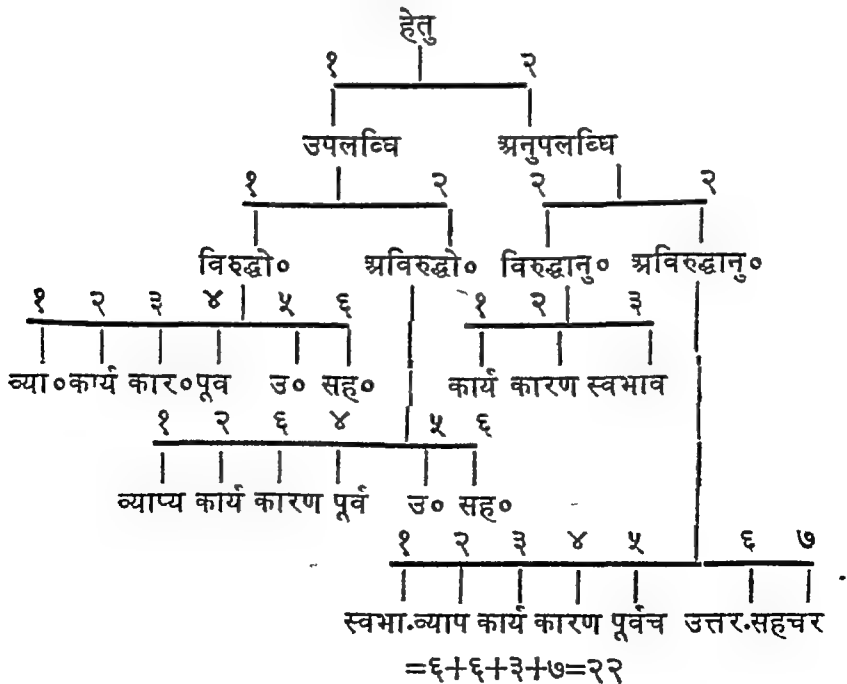
२ "नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी ।"—प्रमाणस० का० ३० ।

३ देखो, परीक्षामुख ३-५७ से ३-६३ तकके सूत्र । ४ देखो, प्रमाणपरी० पृ० ७२-७४ । ५ देखो, प्रमाणनयतत्त्वालोक का तृतीय परिच्छेद । ६ प्रमाणपरीक्षानुसार हेतुभेदों को वही से जानना चाहिए ।

[न्यायदीपिकाके अनुसार]



[परीक्षामुखके अनुसार]



२२. हेत्वाभास—

नैयायिक^१ हेतुके पाँच रूप मानते हैं। अतः उन्होंने एक एक रूपके अभावमें पाँच हेत्वाभास माने हैं। वैशेषिक^२ और बौद्ध^३ हेतुके तीन रूप स्वीकार करते हैं। इसलिए उन्होंने तीन हेत्वाभास माने हैं। पक्षधर्मत्वके अभावसे असिद्ध, सपक्षसत्त्वके अभावसे विरुद्ध और विपक्षासत्त्वके अभावसे सन्दिग्ध अथवा अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास वर्णित किये हैं। साह्य^४ भी चूँकि हेतुको त्रैरूप्य मानते हैं। अतः उन्होंने भी मुख्यतया तीन ही हेत्वाभास स्वीकृत किये हैं। प्रशस्तपादने^५ एक अव्यवसित नामके चौथे हेत्वाभासका भी निर्देश किया है जो नया ही मालूम होता है और प्रशस्तपादका स्वोपज्ञ है क्योंकि वह न तो न्यायदर्शनके पाँच हेत्वाभासोंमें है, न कणादकथित तीन हेत्वाभासोंमें है और न उनके पूर्ववर्ती किसी साह्य या बौद्ध विद्वान्ने बतलाया है। हाँ, दिग्नागने^६ अनैकान्तिक हेत्वाभासके भेदोंमें एक विरुद्धाव्यभिचारी जरूर बतलाया है जिसके न्याय-

१ “सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसममाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासा ।”—न्यायसू० १-२-४ । “हेतो पञ्च लक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि । तेषामेकैकापाये पञ्च हेत्वाभासा भवन्ति । असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमा ।”—न्यायकलिका पृ० १४ । न्यायम० पृ० १०१ । २ “अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽमन् सन्दिग्धश्चानपदेश ।”—वैशे० सू० ३-१-१५ । “यदनुमेयेन सम्बद्ध प्रसिद्ध च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥ विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा विरुद्धासिद्ध-सन्दिग्धमलिङ्ग काश्यपोऽब्रवीत् ॥”—प्रशस्त० पृ० १०० । ३ “असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासा ।”—न्यायप्र० पृ० ३ । ४ “अन्ये हेत्वाभासा चतुर्दश असिद्धानैकान्तिकविरुद्धादयः ।”—माठरवृ० ५ । ५ “एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानव्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति ।”—प्रशस्तपा० भा० पृ० ११६ । ६ देखो, न्यायप्रवेश पृ० ३ ।

प्रवेशगत वर्णन और प्रशस्तपादभाष्यगत अनध्यवसितके वर्णनका आशय प्रायः एक है और स्वयं जिसे प्रशस्तपादने^१ असाधारण कहकर अनध्यवसित हेत्वाभास अथवा विरुद्ध हेत्वाभासका एक भेद बतलाया है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि प्रशस्तपादने वैशेषिकदर्शन सम्मत तीन हेत्वाभासोंके अलावा इस चौथे हेत्वाभासकी भी कल्पना की है। अज्ञात नामके हेत्वाभासको भी माननेका एक मत रहा है। हम पहले कह आए हैं कि अर्चटने नैयायिक और मीमांसकोंके नामसे ज्ञातव्य सहित पडलक्षण हेतुका निर्देश किया है। सम्भव है ज्ञातत्वरूपके अभावसे अज्ञातनामका हेत्वाभास भी उन्हींके द्वारा कल्पित हुआ हो। अकलङ्कदेवने^२ इस हेत्वाभासका उल्लेख करके असिद्धमे अन्तर्भाव किया है। उनके अनुगामी माणिक्यनन्दि^३ आदिने भी उसे असिद्ध हेत्वाभासरूपसे उदाहृत किया है।

जैन विद्वान् हेतुका केवल एकही अन्यथानुपपन्नत्व-अन्यथानुपपत्तिरूप मानते हैं। अतः यथार्थमे उनका हेत्वाभास भी एक ही होना चाहिए। इस सम्बन्धमे सूक्ष्मप्रज्ञ अकलङ्कदेवने^४ बड़ी योग्यतासे उत्तर दिया है। वे कहते हैं कि वस्तुतः हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिञ्चित्कर अथवा असिद्ध। विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध ये उसीके विस्तार हैं। चूँकि अन्यथानुपपत्तिका अभाव अनेक प्रकारसे होता है इसलिए हेत्वा-

१ देखो, प्रशस्तपा० भा० ११८, ११९।

२ “साध्येऽपि कृतकत्वादि अज्ञात साधनाभासः। तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः, सर्वत्र साध्यार्थासम्भवाभावनियमासिद्धे अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षणत्वात्।”—प्रमाणस० स्वो० का ४४। ३ परीक्षामु० ६-२७, २८। ४ “साधन प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिञ्चित्करविस्तारः।”—न्यायवि० का० २६९। “असिद्धश्चाक्षुषत्वादि शब्दानित्यत्वसाधने। अन्यथासम्भवाभावभेदात्स बहुधा स्मृत विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः—न्यायवि० का० ३६५, ३६६।

भासके असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारी और अकिञ्चित्कर ये चारभी भेद हो सकते हैं या अकिञ्चित्करको सामान्य और शेषको उसके भेद मानकर तीन हेत्वाभास भी कहे जा सकते हैं। अतएव जो हेतू त्रिलक्षणात्मक होनेपर भी अन्यथानुपपन्नत्वसे रहित हैं वे सब अकिञ्चित्कर हेत्वाभास हैं।^१ यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अकलङ्कदेवने पूर्वसे प्रसिद्ध इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभासकी कल्पना कहाँसे की है? क्योंकि वह न तो कणाद और दिग्नाग कथित तीन हेत्वाभासोंमें है और न गौतमस्वीकृत पाँच हेत्वाभासोंमें है? श्रद्धेय प० सुखलालजीका कहना है कि 'जयन्त-भट्टने अपनी न्यायमजरी (पृ० १६३) में अन्यथासिद्धापरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नए हेत्वाभासको माननेका पूर्व पक्ष किया है जो वस्तुतः जयन्तके पहिले कभीसे चला आता हुआ जान पड़ता है।^२ अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध माननेवाले किसी पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थके आधारपर ही अकलङ्कने अकिञ्चित्कर हेत्वाभासकी अपने ढङ्गसे नई सृष्टि की हो।' नि सन्देह पण्डितजीकी सम्भावना और समाधान दोनों हृदयको लगते हैं। जयन्तभट्टने इस हेत्वाभासके सम्बन्धमें कुछ विस्तार-से बहुत सुन्दर विचार किया है। वे^३ पहले तो उसे विचार करते करते

१ "अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणा ।

अकिञ्चित्कारकान् सर्वास्तान् वयं सङ्गिरामहे ॥—न्यायवि० का० ३७० । २ प्रमाणमी० भा० टि० पृ० ६७ । ३ देखो, न्यायम० पृ० १६३-१६६ (प्रमेय प्रकरण) । ४ "आस्तां तर्हि पृष्ठ एवाय हेत्वाभास सम्यग् हेतुता तावद्यथोक्तनयेन नाश्रुते एव न च तेष्वन्तर्भवतीति वलात् पृष्ठ एवावतिष्ठते । कथं विभागसूत्रमिति चेद्, अतिक्रमिष्याम इदं सूत्रम्, अनतिक्रामन्तं सुस्पष्टमपीममप्रयोजकं हेत्वाभासमपह्नवीमहि न चैव युक्तमतो वरं सूत्रातिक्रमो न वस्त्वतिक्रम इति । X X X "तदेन हेत्वाभासमसिद्धवर्ग एव निक्षिपाम ।" X X X अथवा सर्वहेत्वाभासानुवृत्तमिदं

साहसपूर्वक छठवाँही हेत्वाभास मान लेते हैं और यहाँ तक कह देते हैं कि विभागसूत्रका उलघन होता है तो होने दो सुस्पष्ट दृष्ट अप्रयोजक (अन्यथासिद्ध) हेत्वाभासका अपह्नव नहीं किया जा सकता है और न वस्तुका उलघन । किन्तु पीछे उसे असिद्धवर्गमें ही शामिल कर लेते हैं । अन्तमें 'अथवा'के साथ कहा है कि अन्यथासिद्धत्व (अप्रयोजकत्व) सभी हेत्वभासवृत्ति सामान्यरूप है, छठवाँ हेत्वाभास नहीं । इसी अन्तिम अभिमतको न्यायकलिका (पृ० १५)में^१ स्थिर रखा है । पण्डितजीकी सम्भावनासे प्रेरणा पाकर जब मैंने 'अन्यथासिद्ध'को पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थोमें खोजना प्रारम्भ किया तो मुझे उद्योतकरके न्यायवार्त्तिकमें^२ अन्यथासिद्ध हेत्वाभास मिल गया जिसे उद्योतकरने असिद्धके भेदोंमें गिनाया है । वस्तुतः अन्यथासिद्ध एकप्रकारका अप्रयोजक या अर्किचित्कर हेत्वाभासही है । जो हेतु अपने साध्यको सिद्ध न कर सके उसे अन्यथासिद्ध अथवा अर्किचित्कर कहना चाहिए । भलेही वह तीनो अथवा पाँचो रूपोंसे युक्त क्यों न हो । अन्यथासिद्धत्व अन्यथानुपपन्नत्वके अभाव—अन्यथाउपपन्नत्वसे अतिरिक्त कुछ नहीं है । यही वजह है कि अकलङ्कदेवने सर्वलक्षणसम्पन्न होने पर भी अन्यथानुपपन्नत्वरहित हेतुओंको अर्किचित्कर हेत्वाभासकी सज्ञा दी है । अतएव ज्ञात होता है कि उद्योतकरके अन्यथासिद्धत्वमें से ही अकलङ्कने अर्किचित्कर हेत्वाभास की कल्पना की है । आ० माणिक्यनन्दिने इसका चौथे हेत्वाभासके रूपमें वर्णन किया है^३ पर वे उमें हेत्वाभासके

मन्यथासिद्धत्व नाम रूपमिति न षष्ठोऽय हेत्वाभास ।—पृ० १६६ ।

१ “अप्रयोजकत्व च सर्वहेत्वाभासानामनुगत रूपम् । अनित्या परमाणवो मूर्त्तत्वात् इति सर्वलक्षणसम्पन्नोऽप्यप्रयोजक एव ।” २ “सोऽयमसिद्धत्व भवति प्रज्ञापनीयधर्मसमान , आश्रयासिद्ध , अन्यथासिद्धश्चेति ।”

—पृ० १७५ । ३ परोक्षामुख ६-२१ ।

लक्षणके विचार समयमे ही हेत्वाभास मानते हैं^१। वादकालमे नही। उस समय तो पक्षमे दोष दिखा देनेसे ही व्युत्पन्नप्रयोगको दूषित बतलाते हैं। तात्पर्य यह कि वे अकिञ्चित्करको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेमे खास जोर भी नही देते। ज्वेताम्बर विद्वानोंने^२ असिद्धादि पूर्वोक्त तीन ही हेत्वाभास स्वीकृत किये हैं, उन्होंने अकिञ्चित्करको नही माना। माणिक्यनन्दिने अकिञ्चित्करको हेत्वाभास माननेकी जो दृष्टि बतलाई है उस दृष्टिमे उसका मानना उचित है। वादिदेवसूरि^३ और यशोविजयने^४ यद्यपि अकिञ्चित्करका खण्डन किया है पर वे उस दृष्टिको मेरे ह्यालमे ओझल कर गये हैं। अन्यथा वे उस दृष्टिसे उसके औचित्यको जरूर स्वीकार करते। आ० धर्मभूषणने अपने पूज्य माणिक्यनन्दिका अनुसरण किया है और उनके निर्देशानुसार अकिञ्चित्करको चौथा हेत्वाभास बताया है।

इस तरह न्यायदीपिकामे आये हुए कुछ विशेष विषयोपर तुलनात्मक विवेचन किया है। मेरी इच्छा थी कि आगम, नय, सप्तभगी, अनेकान्त आदि शेष विषयोपर भी इसी प्रकारका कुछ विचार किया जावे पर अपनी शक्ति, साधन, समय और स्थानको देखते हुए उसे स्थगित कर देना पडा।

१ “लक्षण एवासी दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्।”

—परीक्षा० ६-३८। २ न्यायाव० का० २३, प्रमाणनय० ६-४७।

३ स्याद्वादरत्ना० पृ० १२३०। ४ जैनतर्कभा० पृ० १८।

न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार—

आ० धर्मभूषणने अपनी प्रस्तुत रचनामें अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है तथा उनके कथनसे अपने प्रतिपाद्य विषयको पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। अतः यह उपयुक्त जान पड़ता है कि उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का यहाँ कुछ परिचय दे दिया जाय। प्रथमतः न्यायदीपिकामें उल्लिखित हुए निम्न जैनैतर ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का परिचय दिया जाता है —

(क) ग्रन्थ—१ न्यायविन्दु ।

(ख) ग्रन्थकार—१ दिग्नाग, २ शालिकानाथ, ३ उदयन और ४ वामन ।

न्यायविन्दु—यह बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिका रचा हुआ बौद्ध-न्यायका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें प्रमाण-सामान्यलक्षणका निर्देश, उसके प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो भेदों का स्वीकार एवं उनके लक्षण, प्रत्यक्षके भेदों आदिका वर्णन किया गया है। द्वितीय-परिच्छेदमें अनुमानके स्वार्थ, परार्थ भेद, स्वार्थका लक्षण, हेतुका त्रैलोक्य लक्षण और उसके स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि इन तीन भेदों आदिका कथन किया है। और तीसरे परिच्छेदमें परार्थ अनुमान हेत्वा-भास, दृष्टान्त, दृष्टान्ताभास आदिका निरूपण किया गया है। न्याय-दीपिका पृ० १० पर इस ग्रन्थके नामोल्लेख पूर्वक दो वाक्यों और पृ० २५ पर इसके 'कल्पनापोढमभ्रान्तम्' प्रत्यक्षलक्षणकी समालोचना की गई है। प्रत्यक्षके इस लक्षणमें जो 'अभ्रान्त' पद निहित है वह खुद धर्मकीर्तिका ही दिया हुआ है। इसके पहले बौद्धपरम्परामें 'कल्पनापोढ' मात्र प्रत्यक्षका लक्षण स्वीकृत था। धर्मकीर्ति बौद्धदर्शनके उन्नायक गुग-प्रवान् थे। इनका अस्तित्व समय ईसाकी सातवीं शताब्दि (६३५ ई०) माना जाता है। ये नालन्दा विश्वविद्यालयके आचार्य धर्मपालके शिष्य

थे । न्यायविन्दुके अतिरिक्त प्रमाणवार्त्तिक, वादन्याय, हेतुविन्दु, सन्ताना-
न्तरसिद्धि, प्रमाणविनिश्चय और सम्बन्धपरीक्षा आदि इनके बनाए हुए
ग्रन्थ हैं । अभिनव धर्मभूषण न्यायविन्दु आदिके अच्छे अम्यासी थे ।

१. दिग्नाग—ये बौद्ध सम्प्रदायके प्रमुख तार्किक विद्वानोमे से हैं । इन्हे
बौद्धन्यायका प्रतिष्ठापक होनेका श्रेय प्राप्त है, क्योंकि अधिकांशतः बौद्ध-
न्यायके सिद्धान्तों की नींव इन्होंने डाली थी । इन्होंने न्याय, वैशेषिक और
मीमांसा आदि दर्शनोके मन्तव्योकी आलोचनास्वरूप और स्वतन्त्ररूप
अनेक प्रकरण ग्रन्थ रचे हैं । न्यायप्रवेश, प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणसमुच्चय-
वृत्ति, हेतुचक्रडमरू, आलम्बनपरीक्षा और त्रिकालपरीक्षा आदि ग्रंथ इनके
माने जाते हैं । इनमे न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चय मुद्रित भी हो चुके ।

१ उद्योतकर (६०० ई०) ने न्यायवा० पृ० १२८, १६८ पर
हेतुवार्त्तिक और हेत्वाभासवार्त्तिक नामके दो ग्रन्थोंका उल्लेख किया है,
जो सम्भवतः दिग्नागके ही होना चाहिए, क्योंकि वाचस्पति मिश्रके
तात्पर्यटीका (पृ० २८६) गत सदर्मको ध्यानसे पढ़नेसे वैसा प्रतीत होता
है । न्यायवा० भूमिका पृ० १४१, १४२ पर इनको किसी बौद्ध विद्वान्के
प्रकट भी किये हैं । उद्योतकरके पहले बौद्ध परम्परामे सबसे अधिक
प्रसिद्ध प्रबल और अनेक ग्रन्थोंका रचनाकार दिग्नाग ही हुआ है जिसका
न्यायवार्त्तिक मे जगह जगह कदर्थन किया गया है ।

इन ग्रन्थोंके सम्बन्धमे मैंने माननीय प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यसे
दर्याप्त किया था । उन्होंने मुझे लिखा है—‘दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयके
अनुमानपरिच्छेदके ही वे श्लोक होने चाहिए जिसे उद्योतकर हेतुवार्त्तिक
या हेत्वाभासवार्त्तिक कहते हैं । स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मालूम होते यही
“हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णित” इस कारिकाकी स्ववृत्ति टीकामे
कर्णकगोमिने लिखा है—“वर्णित आचार्यदिग्नागेन प्रमाणसमुच्चयादिषु” ।
सम्भव है इसमे आदि शब्दसे हेतुचक्रडमरूका निर्देश हो ।’ परन्तु उद्योत-
करने जो इस प्रकार लिखा है—“एव विरुद्धविशेषणविरुद्धविशेष्याश्च

है। न्याय-प्रवेशपर तो जैनाचार्य हर्षिभद्रसूरिकी 'न्यायप्रवेशवृत्ति' नामक टीका है और इस वृत्तिपर भी जैनाचार्य पार्श्वदेव दृत 'न्यायप्रवेशवृत्ति-पजिका' नामकी व्याख्या है। दिग्नागका समय ईसाकी चौथी और पाँचवीं शताब्दी (३४५-४२५ ई०) के लगभग है। आ० धर्मभूषणने न्यायदीपिका पृ० ११६ पर इनका नामोल्लेख करके 'न याति' इत्यादि एक कारिका उद्धृत की है, जो सम्भवतः इन्हींके किमी अनुपनन्दव गन्धकी होगी।

द्रष्टव्या । एषा तूदाहरणानि हेत्वाभासवार्तिके द्रष्टव्यानि स्वयं चाम्बू-ह्यानि" (पृ० १६८) । इससे तो यह मालूम होता है कि 'यहाँ उद्योतकर किसी 'हेत्वाभासवार्तिक' नामक ग्रन्थका ही उल्लेख कर रहे हैं जहाँ 'विरुद्धविशेषणविरुद्धविशेष्यो' के उदाहरण प्रदर्शित किये हैं और वहाँसे जिन्हे देखनेका यहाँ संकेतमात्र किया है। 'हेत्वाभासवार्तिक' पदसे कोई कारिका या श्लोक प्रतीत नहीं होता। यदि कोई कारिका या श्लोक होता तो उसे उद्धृत भी किया जा सकता था। अतः 'हेत्वाभासवार्तिक' नामका कोई ग्रन्थ रहा हो, ऐसा उक्त उल्लेखसे साफ मालूम होता है।

इसी तरह उद्योतकरके निम्न उल्लेखमें 'हेतुवार्तिक' ग्रन्थके भी होने की सम्भावना होती है—“यद्यपि हेतुवार्तिकं ब्रुवाणेनोक्तम्-सप्तिका-सम्भवे पट्प्रतिपेवादेकद्विपदपर्युदासेन त्रिलक्षणो हेतुरिति । एतदप्ययुक्तम् ... ” (पृ० १२८) यहाँ 'हेतुवार्तिक'कारके जिन शब्दोंको उद्धृत किया है वे गद्य में हैं। श्लोक या कारिकारूप नहीं हैं। अतः सम्भव है कि न्यायप्रवेशकी तरह 'हेतुवार्तिक' गद्यात्मक स्वतन्त्र रचना हो और जिसका कर्णकगोमिने आदि शब्दसे संकेत भी किया हो। यह भी सम्भव है कि प्रमाणसमुच्चयके अनुमानपरिच्छेदकी स्वोपज्ञ वृत्तिके उक्त पदवाक्यादि हो। और उनकी मूल कारिकाओंको 'हेत्वाभासवार्तिक' एवं 'हेतुवार्तिक' कहकर उल्लेख किया हो। फिर भी जबतक 'हेतुचक्रडमरू' और प्रमाण-समुच्चयका अनुमानपरिच्छेद सामने नहीं आता और दूसरे पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते तबतक निश्चयपूर्वक अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

२. शालिकानाथ—ये प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक दार्शनिक विद्वानोंमें एक प्रसिद्ध विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने प्रभाकर गुरुके सिद्धान्तोका वडे, जोरोके साथ प्रचार और प्रसार किया है। उन (प्रभाकर)के बृहती नामके टीका-ग्रन्थपर, जो प्रसिद्ध मीमांसक शबरस्वामीके शावर-भाष्यकी व्याख्या है, इन्होंने 'ऋजुविमला' नामकी पजिका लिखी है। प्रभाकरके सिद्धान्तोका विवरण करनेवाला इनका 'प्रकरणपजिका' नामका बृहद् ग्रन्थ भी है। ये ईसाकी आठवीं शताब्दीके विद्वान् माने जाते हैं। न्यायदीपिकाकारने पृ० १६ पर इनके नामके साथ 'प्रकरणपजिका' के कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं।

३. उदयन—ये 'न्यायदर्शनके' प्रतिष्ठित आचार्योंमें हैं। नैयायिक परम्परामें ये 'आचार्य' के नामसे विशेष उल्लिखित हैं। जो स्थान बौद्ध-दर्शनमें धर्मकीर्त्ति और जैनदर्शनमें विद्यानन्दस्वामीको प्राप्त है वही स्थान न्यायदर्शनमें उदयनाचार्यका है। ये शास्त्रार्थी और प्रतिभाशाली विद्वान् थे। 'न्यायकुसुमाञ्जली', आत्मतत्त्वविवेक, लक्षणावली, प्रशस्तपादभाष्यकी टीका किरणावली और वाचस्पति मिश्रकी न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकापर लिखी गई तात्पर्यपरिशुद्धि टीका, न्यायपरिशिष्ट नामकी न्यायसूत्रवृत्ति आदि इनके बनाये हुए ग्रन्थ हैं। इन्होंने अपनी 'लक्षणावली' शक सम्वत् ६०६ (६८४ ई०) में समाप्त की है। अतः इनका अस्तित्व-काल दशवीं शताब्दी है। न्यायदीपिका (पृ० २१)में इनके नामोल्लेखके साथ 'न्यायकुसुमाञ्जलि' (४-६) के 'तन्मे प्रमाण शिव' वाक्यको उद्धृत किया गया है। और उदयनाचार्यको 'योगाग्रसर' लिखा है। अभिनव धर्म-भूषण इनके न्यायकुसुमाञ्जलि, किरणावली आदि ग्रन्थोंके अच्छे अध्येता थे। 'न्यायदी' पृ० ११० पर किरणावली (पृ० २६७, ३००, ३०१) गत

१ "तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वातीतेषु शकान्तत ।

वर्षेण्वदयनश्चक्रे सुवोधा लक्षणावलीम् ॥"—लक्षणा० पृ० १३

निरुपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्तिका भी स्पष्टन किया गया है। यद्यपि किरणावली और न्यायदीपिकागत लक्षणमें कुछ शब्दभेद है। पर दोनों-की रचनाको देखते हुए भिन्न ग्रन्थकारकी रचना प्रतीत नहीं होते। प्रत्युत किरणावलीकारकी ही वह रचना स्पष्टतः जान पड़ती है। दूसरी बात यह है, कि अनौपाधिक सम्बन्धको व्याप्ति मानना उदयनाचार्यका मत माना गया है। वैशेषिकदर्शनसूत्रोपस्कार (पृ० ६०) में 'नाप्यनौपाधिक सम्बन्ध' शब्दोंके साथ पहिले पूर्व पक्षमें अनौपाधिकरूप व्याप्ति-लक्षणकी आलोचना करके बादमें उसे ही सिद्धान्तमत स्थापित किया है। यहाँ 'नाप्यनौपाधिक' पर टिप्पण देते हुए टिप्पणकारने 'आचार्यमत दूषयन्ताह' लिखकर उसे आचार्य (उदयनाचार्य) का मत प्रकट किया है। मैं पहले कह आया हूँ कि उदयन आचार्यके नामसे भी उल्लेखित किये जाते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि अनौपाधिक—निरुपाधिक सम्बन्धको व्याप्ति मानना उदयनाचार्यका सिद्धान्त है और उसीकी न्याय-दीपिकाकारने आलोचना की है। उपस्कार और किरणावलीगत व्याप्ति तथा उपाधिके लक्षणसम्बन्धी सदम भी शब्दशः एक हैं, जिससे टिप्पण-कारके अभिप्रेत 'आचार्य' पदसे उदयनाचार्य ही स्पष्ट ज्ञात होने हैं। यद्यपि प्रशस्तपादभाष्यकी व्योमवती टीकाके रचयिता व्योमशिवाचार्य भी आचार्य कहे जाते हैं, परन्तु उन्होंने व्याप्तिका उक्त लक्षण स्वीकार नहीं किया। बल्कि उन्होंने सहचरित सम्बन्ध अथवा स्वाभाविक सम्बन्धको व्याप्ति माननेकी ओरही नकेत किया है^१। वाचस्पति मिश्रने भी अनौपा-धिक सम्बन्धको व्याप्ति न कहकर स्वाभाविक सम्बन्धको व्याप्ति कहा है^२।

४. वामन—इनका विशेष परिचय यथेष्ट प्रयत्न करनेपर भी मालूम नहीं हो सका। न्यायदीपिकाके द्वारा उद्धृत किये गए वाक्यपरसे

१ देखो, व्योमवती टीका पृ० ५६३, ५७८। देखो न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका पृ० १६५, ३४५।

इतना जरूर मालूम हो जाता है कि वे अच्छे ग्रन्थकार और प्रभावक विद्वान् हुए हैं। न्यायदीपिका पृ० १२४ पर इनके नामके उल्लेखपूर्वक इनके किसी ग्रन्थका 'न शास्त्रमसद्ब्रव्येष्वर्थवत्' वाक्य उद्धृत किया गया है।

अब जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका मक्षिप्त परिचय दिया जाता है। धर्मभूषणने निम्न जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है।

(क) ग्रन्थ—१ तत्त्वार्थसूत्र, २ आप्तमीमांसा, ३ महाभाष्य, ४ जैनेन्द्रव्याकरण, ५ आप्तमीमांसाविवरण, ६ राजवार्त्तिक और राजवार्त्तिकभाष्य, ७ न्यायविनिश्चय, ८ परीक्षा-मुख, ९ तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिक तथा भाष्य, १० प्रमाण परीक्षा, ११ पत्र-परीक्षा, १२ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और १३ प्रमाणनिर्णय।

(ख) ग्रन्थकार—१ स्वामीसमन्तभद्र, २ अकलङ्कदेव, ३ कुमारनन्दि, ४ माणिक्यनन्दि और ५ स्याद्वादविद्यापति (वादिराज)।

१ तत्त्वार्थसूत्र—यह आचार्य उमास्वाति अथवा उमास्वामीकी अमर रचना है। जो थोड़ेसे पाठभेदके साथ जैनपरम्पराके दोनो ही दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोमें समानरूपसे मान्य हैं और दोनो ही सम्प्रदायोके विद्वानोंने इसपर अनेक बड़ी बड़ी टीकाएँ लिखी हैं। उनमें आ० पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), अकलङ्कदेवका तत्त्वार्थ-वार्त्तिक, विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, श्रुतसागरसूरिकी तत्त्वार्थ-वृत्ति और श्वेताम्बर पपम्परामें प्रसिद्ध तत्त्वार्थभास ये पाँच टीकाएँ तो तत्त्वार्थसूत्र की विशाल, विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ हैं। आचार्य महोदयने इस छोटीसी दशाध्यायात्मक अतृती कृतिमें समस्त जैन तत्त्व-ज्ञानको संक्षेपमें 'गागरमें सागर'की तरह भरकर अपने विशाल और सूक्ष्म ज्ञानभण्डारका परिचय दिया है। यही कारण है कि जैनपरम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका बहुत बड़ा महत्त्व है और उसका वही स्थान है जो हिन्दूसम्प्रदायमें गीताका है। इस ग्रन्थरत्नके रचयिता आ० उमास्वाति विक्रमकी

पहली शताब्दीके विद्वान् हैं। न्यायदीपिकाकारने तत्त्वार्थसूत्रके अनेक सूत्रोको न्यायदी० (पृ० ४, ३४, ३६, ३८, ११३, १२२) में बड़ी श्रद्धाके साथ उल्लेखित किया है और उसे महाशास्त्र तक भी कहा है, जो उपयुक्त ही है। इतना ही नहीं, न्यायदीपिकाकी भव्य इमारत भी इसी प्रतिष्ठित तत्त्वार्थसूत्रके 'प्रमाणनयैरधिगम.' सूत्रका आशय लेकर निर्मित की गई है।

आप्तमीमासा—स्वामी समन्तभद्रकी उपलब्धि कृतियोंमें यह सबसे प्रधान और असाधारण कृति है। इसे 'देवागमस्तोत्र' भी कहते हैं। इसमें दश परिच्छेद और ११४ पद्य (कारिकाएँ) हैं। इसमें आप्त (सर्वज्ञ) की मीमासा—परीक्षा की गई है। जैसा कि उसके नामसे ही प्रकट है। अर्थात् इसमें स्याद्वादनायक जैन तीर्थंकरको सर्वज्ञ सिद्ध करके उनके स्याद्वाद (अनेकान्त) सिद्धान्तकी सयुक्तिक सुव्यवस्था की है और स्याद्वादविद्वेषी एकान्तवादियोंमें आप्ताभासत्व (असार्थश्य) बतलाकर उनके एकान्त सिद्धान्तोकी बहुत ही सुन्दर युक्तियोंके साथ आलोचना की है। जैनदर्शनके आधारभूत स्तम्भ ग्रन्थोंमें आप्तमीमासा पहला ग्रन्थ है। इसके ऊपर भट्ट अकलङ्कदेवने 'अष्टशती' विवरण (भाष्य), आ० विद्यानन्दने 'अष्टसहस्री' (आप्तमीमासालकार या देवगमालकार) और वसुनन्दिने 'देवागमवृत्ति' टीकाएँ लिखी हैं। ये तीनों टीकाएँ उपलब्ध भी हैं। पण्डित जयचन्द्रजीकृत इनकी एक टीका हिन्दी भाषामें भी है। श्रीमान् प० जुगलकिशोरजी मुस्तारने इसकी दो और अनुपलब्ध टीकाओं की सम्भावना की है^१। एक तो वह जिसका सकेत आ० विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें 'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मगलवचनमनु-तन्यते' इस वाक्यमें आए हुए 'केचित्' शब्दके द्वारा किया है। और

^१ देखो, स्वामीसमन्तभद्र । श्वेताम्बर विद्वान् श्रीमान् प० सुखलालजी इन्हें भाष्यको स्वोपज्ञ माननेके कारण विक्रमकी तीसरीसे पाँचवीं शताब्दीका अनुमानित करते हैं। देखो, ज्ञानविन्दुकी प्रस्तावना ।

१ स्वामीसमन्तभद्र पृ० १६६, २०० ।

दूसरी 'देवागमपद्यवार्तिकालकार' है, जिसकी सम्भावना युक्त्यनुशासनटीका (पृ० ६४) के 'इति देवागमपद्यवार्तिकालकारे निरूपितप्रायम् ।' इस वाक्य में पड़े हुए 'देवागमपद्यवार्तिकालकारे' पदसे की है । परन्तु पहली टीकाके होनेकी सूचना तो कुछ ठीक मालूम होती है, क्योंकि आ० विद्यानन्द भी उसका संकेत करते हैं । लेकिन पिछली टीकाके सद्भावका कोई आधार या उल्लेख अब तक प्राप्त नहीं हुआ । वास्तवमें बात यह है कि आ० विद्यानन्द 'देवागमपद्यवार्तिकालकारे' पदके द्वारा अपनी पूर्वर्चित दो प्रसिद्ध टीकाओं—देवागमालकार (अष्टसहस्री और पद्यवार्तिकालकार (श्लोकवार्तिकालकार) का उल्लेख करते हैं और उनके देखनेकी प्रेरणा करते हैं । पद्यका अर्थ श्लोक प्रसिद्ध ही है और अलकार शब्दका प्रयोग दोनोंके साथ रहनेसे समस्यन्त एक वचनका प्रयोग भी असंगत नहीं है । अतः 'देवागमपद्यवार्तिकालकार' नामकी कोई आप्तमीमांसाकी टीका रही है, यह बिना पुष्ट प्रमाणोंके नहीं कहा जा सकता । आ० अभिनव धर्मभूषणने आप्तमीमांसाकी अनेक कारिकाएँ प्रस्तुत न्यायदीपिकामें, बड़ी कृतज्ञताके साथ उद्धृत की हैं ।

महाभाष्य—ग्रन्थकारने न्यायदीपिका पृ० ४१ पर निम्न शब्दोंके साथ महाभाष्यका उल्लेख किया है —

‘तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—’

परन्तु आज यह ग्रन्थ उपलब्ध जैन साहित्यमें नहीं है । अतः विचारणीय है कि इस नामका कोई ग्रन्थ है या नहीं? यदि है तो उसकी उपलब्धि आदिका परिचय देना चाहिए । और यदि नहीं हैं तो आ० धर्मभूषणने किस आधारपर उसका उल्लेख किया है? इस सम्बन्धमें अपनी ओरसे कुछ विचार करनेके पहले मैं कह दूँ कि इस ग्रन्थके अस्तित्व विषयमें जितना अधिक ऊहापोहके साथ सूक्ष्म विचार और अनुसन्धान मुस्तारसाने किया है उतना शायद ही अबतक दूसरे विद्वान्ने किया हो । उन्होंने

अपने 'स्वामीसमन्तभद्र' ग्रन्थ के ३१ पेजोंमें अनेक पहलुओंसे चिन्तन किया है और वे इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि स्वामीसमन्तभद्र रचित महाभाष्य नामका कोई ग्रन्थ रहा जरूर है पर उसके होनेके उल्लेख अब तक तेरहवीं शताब्दीके पहलेके नहीं मिलते हैं। जो मिलते हैं वे १३वीं, १४वीं और १५वीं शताब्दीके हैं। अतः इसके लिए प्राचीन साहित्यको टटोलना चाहिए।

मेरी विचारणा—

किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकारके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिए अधिका-शत निम्न साधन अपेक्षित होते हैं —

- (१) ग्रन्थोंके उल्लेख।
- (२) शिलालेखादिकके उल्लेख।
- (३) जनश्रुति-परम्परा।

१ जहाँ तक महाभाष्यके ग्रन्थोल्लेखोंकी बात है और वे अब तक जितने उपलब्ध हो सके हैं उन्हें मुस्तारसा^०ने प्रस्तुत किये ही हैं। हाँ, एक नया ग्रन्थोल्लेख हमें और उपलब्ध हुआ है। वह अभयचन्द्रसूरिकी स्याद्वादभूषणनामक लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिका है, जो इस प्रकार है —

“परीक्षित विरचित स्वामिसमन्तभद्राद्यैः सूरिभिः। कथं न्यक्षेण विस्तरेण। क्व अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ...” — लघी० ता० पृ० ६७।

ये अभयचन्द्रसूरि तथा 'गोम्मटसार' की मन्दप्रबोधिका टीका और प्रक्रियासंग्रह (व्याकरणविषयक टीकाग्रन्थ) के कर्ता अभयचन्द्रसूरि यदि एक हैं और जिन्हें डा० ए० एन० उपाध्ये^१ तथा मुस्तारसा^० ईसाकी १३वीं और वि०की १४वीं शताब्दीका विद्वान् स्थिर करते हैं तो उनके इस

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण १ पृ० ११६। २ देखो, स्वामी-समन्तभद्र पृ० २२४ का फुटनोट।

उल्लेख से महाभाष्यके विषयमे कोई विशेष प्रकाश नहीं पडता । प्रथम तो यह, कि यह उल्लेख मुस्तारसा० के प्रदर्शित उल्लेखो के समसामयिक है, उसका शृङ्खलावद्ध पूर्वाधार अभी प्राप्त नहीं है जो स्वामीसमन्तभद्रके समय तक पहुँचाये । दूसरे यह, कि अभयचन्द्रसूरि इस उल्लेखके विषयमे अभ्रान्त प्रतीत नहीं होते । कारण, वे अकलङ्कदेवकी लघीयस्त्रयगत जिस कारिकाके 'अन्यत्र' पदका 'स्वामीसमन्तभद्रादिसूरि' शब्दका अव्याहार करके 'तत्त्वार्थमहाभाष्य' व्याख्यान करते हैं वह सूक्ष्म समीक्षण करने पर अकलङ्कदेवको अभिप्रेत मालूम नहीं होता । बात यह है कि अकलङ्कदेव वहाँ 'अन्यत्र' पदके द्वारा कालादिलक्षणको जाननेके लिये अपने पूर्वरचित तत्त्वार्थ राजवार्त्तिकभाष्यकी सूचना करते जान पडते हैं, जहा (राजवार्त्तिक ४—४२) उन्होंने स्वयं कालादि आठका विस्तारसे विचार किया है ।

यद्यपि प्रक्रियासंग्रहमे भी अभयचन्द्र सूरि ने सामन्तभद्री महाभाष्यका उल्लेख किया है और इस तरह उनके ये दो उल्लेख हो जाते हैं । परन्तु इनका पूर्वाधार क्या है? सो कुछ भी मालूम नहीं होता । अतः प्राचीन साहित्य परसे इसका अनुसन्धान करनेकी अभी भी आवश्यकता बनी हुई है ।

२ अवतक जितने भी शिलालेखो आदिका संग्रह किया गया है उनमे महाभाष्य या तत्त्वार्थमहाभाष्यका उल्लेखवाला कोई शिलालेखादि उपलब्ध नहीं है । जिससे इस ग्रन्थके अस्तित्व विषयमे कुछ सहायता मिल सके । तत्त्वार्थसूत्रके तो शिलालेख मिलते भी हैं पर उसके महाभाष्यका कोई शिलालेख नहीं मिलता ।

३ जनश्रुति—परम्परा जरूर ऐसी चली आ रही है कि स्वामी समन्तभद्रने तत्त्वार्थसूत्रपर 'गन्धहस्ति' नामका भाष्य लिखा है जिसे महाभाष्य और

१ अभूदुमास्वातिमुनि पवित्रे वशे तदीये सकलार्थवेदी ।

सूत्रीकृत येन जिनप्रणीत शास्त्रार्थजात मुनिपुङ्गवेन ॥—शि० १०८ ।

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्र प्रकटीचकार ।

यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यताना पाथेयमर्घ्यंभवति प्रजानाम् ॥—शि० १०५ (२५४)

तत्त्वार्थभाष्य या तत्त्वार्थमहाभाष्य भी गढ़ा जाता है और आत्ममीमांसा उसका पहला प्रकरण है। परन्तु जनश्रुतिवा पुष्ट और पुगना कोई आधार नहीं है। मालूम होता है कि इनके कारण मिलने प्रयत्नमें ही है अभी गत ३१ अक्टूबर (सन् १९०४) में कलकत्ता में हुए, वीरशासन-महोत्सवपर श्री सत्करण नेटी मिले। उन्होंने कहा कि गन्धर्वहस्ति महाभाष्य एक जगह सुरक्षित है और वह मिल सकता है। उनकी इस बातको सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई और प्रेरणा की कि उनको उपनधि आदि-की पूर्ण कोशिश करके उनकी सूचना हमें दें। इस कार्य में होनेवाले व्ययके भारको उठाने के लिये वीरसेवा मन्दिर, सरमावा प्रस्तुत है। परन्तु उन्होंने आज तक कोई सूचना नहीं की। इस तरह जनश्रुतिवा आधारभूत पुष्ट प्रमाण नहीं मिलनेसे महाभाष्यका अस्तित्व सदिग्ध कोटिमें आज भी स्थित है।

आ० अभिनव धर्मभूषणके सामने अभयचन्द्र मूर्तिके उपर्युक्त उल्लेख रहे हैं और जन्हीके आधारपर उन्होंने न्यायदीपिकामें स्वामिनमन्-भद्रकृत महाभाष्यका उल्लेख किया जान पड़ता है। उन्हें यदि इस ग्रन्थकी प्राप्ति हुई होती तो वे उसके भी-किमी वाक्यादिको जरूर उद्धृत करते और अपने विषयको उससे ज्यादा प्रमाणित करते। अतः यह निश्चयरूपसे कहा जा सकता है कि आचार्य धर्मभूषण यतिका उल्लेख महाभाष्यकी प्राप्ति-हालतका मालूम नहीं होता। केवल जनश्रुतिके आधार और उसके भी आधारभूत पूर्ववर्ती ग्रन्थोलेखोपरसे किया गया जान पड़ता है।

४. जनेन्द्रव्याकरण—यह आचार्य पूज्यपादका, जिनके दूसरे नाम देवनाग्नि और जनेन्द्रबुद्धि, प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण व्याकरणग्रन्थ

१ “यो देवनाग्निप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जनेन्द्रबुद्धिः।

श्रीपूज्यपादोज्जनि देवताभिर्यत्पूजित पादयुग यदीयम्।।”

अवण० शि० न० ४० (व४)

है^१। श्रीमाम् प० नाथूरामजी प्रेमीके शब्दोंमें यह 'पहला जैन व्याकरण' है। इस ग्रंथकी जैनपरम्परामें बहुत प्रतिष्ठा रही है। भट्टकलङ्कदेव आदि अनेक बड़े बड़े आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें 'इसके सूत्रोंका बहुत उपयोग किया है। महाकवि धनजय^२ (नाममालाके कर्ता) ने तो इसे 'अपश्चिम रत्न' (वेजोड रत्न) कहा है^३। इस ग्रन्थपर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इस समय केवल निम्न चार टीकाएँ उपलब्ध हैं—१ अभयनन्दिकृत महावृत्ति, २ प्रभाचन्द्रकृत गव्दाम्भोजभास्कर, ३ आर्य श्रुतिकीर्तिकृत पञ्चवस्तु प्रक्रिया और ४ प० महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र। इस ग्रंथ के कर्ता आ० पूज्यपादका समय ईसाकी पाँचवी और विक्रमकी छठी शताब्दी माना जाता है। जैनेन्द्रव्याकरणके अतिरिक्त इनकी रची हुई—१ तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), २ समाधितन्त्र, ३ इष्टोपदेश, ४ और देशभक्ति (संस्कृत) ये कृतियाँ उपलब्ध हैं। सारसग्रह, गव्दावतारन्यास, जैनेन्द्रन्यास और वैद्यकका कोई ग्रंथ ये अनुपलब्ध रचनाएँ हैं जिनके, ग्रन्थों, शिलालेखों आदिमें उल्लेख मिलते हैं। अभिनव, वर्मभूषणने, न्यायदीपिका पृ० ११ पर इस ग्रंथके नामोल्लेखके विना और पृ० १३ पर नामोल्लेख करके दो सूत्र उद्धृत किये हैं।

आप्तमीमांसाविवरण—ग्रंथकारने न्यायदीपिका पृ० ११५ पर इसका नामोल्लेख किया है और उसे श्रीमदाचार्यपादका बतलाकर उसमें कपिलादिकोंकी आप्ताभासताको विस्तारसे जाननेकी प्रेरणा की है। यह आप्तमीमांसाविवरण आप्तमीमांसापर लिखी गई अकलङ्कदेवकी 'अष्टशती' नामक विवृत्ति और आचार्य विद्यानन्दरचित आप्तमीमांसालंकार-^१

^२ इस ग्रन्थ और ग्रन्थकारके विशेष परिचयके लिये 'जैन साहित्य और इतिहासके देववर्मा और उनका जैनेन्द्रव्याकरण' निबन्ध और सम वितन्त्रकी प्रस्तावना देखें। ^३ "प्रमाणामेकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षण । धन-ज्जयकवे काव्य रत्नत्रयमपश्चिमम्।"—नाममाला ।

सहस्त्रीको छोड़कर कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है और न अकलङ्कदेव तथा विद्यानन्दके सिवाय कोई 'श्रीमदाचार्यपाद' नामके आचार्य ही हैं। वसु-नन्दि ने भी यद्यपि 'आप्तमीमासा' पर देवागमवृत्ति' टीका लिखी है परन्तु वह आप्तमीमासाकी कारिकाओंका शब्दानुसारी अर्थस्फोट ही करती हैं—उसमें कपिलादिकोंकी आप्ताभासताका विस्तारसे वर्णन नहीं है। अतः न्यायदीपिकाकारको 'आप्तमीमासाविवरण'से अष्टशती और अष्टसहस्त्री विवक्षित हैं। ये दोनों दार्शनिक टीकाकृतियाँ बहुत ही महत्वपूर्ण और गूढ़ हैं। अष्टशती तो इतनी दुरूह और जटिल है कि बिना अष्टसहस्त्रीके उसके मर्मको समझना बहुत मुश्किल है। जैनदर्शनसाहित्यमें ही नहीं, समग्र भारतीय दर्शनसाहित्यमें इनकी जोड़का प्रायः विरला ही कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ या टीकाग्रन्थ हो।

राजवार्तिक और भाष्य—गौतमके न्यायसूत्रपर प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकरके 'न्यायवार्तिक' की तरह आ० उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थ-सूत्रपर अकलङ्कदेवने गद्यात्मक 'तत्त्वार्थवार्तिक' नामक टीका लिखी है। जो राजवार्तिकके नामसे भी व्यवहृत होती है। और उसके वार्तिकोपर उद्योतकरकी ही तरह स्वयं अकलङ्कदेवका रचागया भाष्य है जो 'तत्त्वार्थ-वार्तिकभाष्य' या 'राजवार्तिकभाष्य' भी कहा जाता है। यह भाष्य राजवार्तिकके प्रत्येक वार्तिकका विशद व्याख्यान है। इसकीभाषा बड़ी सरल और प्रसन्न है जबकि प्रत्येक वार्तिक अत्यन्त गम्भीर और दुरूह है। एकही जगह अकलङ्कदेवकी इस चेतश्चमत्कारी प्रतिभाकी विविधताको पाकर सहृदय पाठक साश्चर्य आनन्दविभोर हो उठता है और श्रद्धासे उसका मस्तक नत होजाता है। अकलङ्कदेवने अपना यह राजवार्तिक आ० पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिको आधार बनाकर लिखा है जो तत्त्वार्थसूत्रकी समग्र टीकाओं में पहली टीका है उन्होंने उसके अर्थगौरवपूर्ण प्रायः प्रत्येक वाक्यको राजवार्तिकका वार्तिक बनाया है। फिरभी राजवार्तिकमें सर्वार्थसिद्धिसे कुछभी पुनरुक्ति एवं निरर्थकता मालूम नहीं होती। राजवार्तिककी यह विशेषता है

वह प्रत्येक विषयकी अन्तिम व्यवस्था अनेकान्तका आश्रय लेकर करता है। तत्त्वार्थसूत्रकी समस्त टीकाओंमें राजवार्त्तिक प्रधान टीका है। या श्रीमान् प० सुखलालजीके शब्दोंमें यो कह सकते हैं कि “राजवार्त्तिक गद्य, सरल और विस्तृत होनेसे तत्त्वार्थके संपूर्ण टीका ग्रन्थोंकी गरज अकेला ही पूरी करता है।” वस्तुतः जैनदर्शनका बहुविध एवं प्रामाणिक अभ्यास करनेके लिए केवल राजवार्त्तिकका अध्ययन पर्याप्त है। न्यायदीपिकाकारने न्या० दी० पृ० ३१ और ३५ पर राजवार्त्तिकका तथा पृ० ६ और ३२ पर उनके भाष्यका जुदा जुदा नामोल्लेख करके कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं।

न्यायविनिश्चय—यह अकलङ्कदेवकी उपलब्ध दार्शनिक कृतियोंमें अन्यतम कृति है। इसमें तीन प्रस्ताव (परिच्छेद) हैं और तीनों प्रस्तावोंकी मिलाकर कुल ४८० कारिकाएँ हैं। पहला प्रत्यक्ष प्रस्ताव है जिसमें दर्शनान्तरीय प्रत्यक्षलक्षणोंकी आलोचनाके साथ जैनसम्मत प्रत्यक्ष-लक्षणका निरूपण किया गया है और प्रासंगिक कतिपय दूसरे विषयोंका भी विवेचन किया गया है। दूसरे अनुमान प्रस्तावमें अनुमानका लक्षण साधन, साधनाभास, साध्य, साध्याभास आदि अनुमानके परिकरका विवेचन है और तीसरे प्रस्तावमें प्रवचनका स्वरूप आदिका विगिष्ट निश्चय किया गया है। इस तरह इस न्यायविनिश्चयमें जैन-न्यायकी रूपरेखा वाधकर उसकी प्रस्थापना की गई है। यह ग्रन्थ भी अकलङ्कदेवके दूसरे ग्रंथोंकीही तरह दुर्बोध और गम्भीर है। इसपर आ० स्याद्वादावद्यापति वादिराजसूरिकी न्यायविनिश्चयविवरण अथवा न्याय-विनिश्चयालकार नामकी वैदुष्यपूर्ण विशाल टीका है। अकलङ्कदेवकी भी इसपर स्वोपज्ञ विवृत्ति होनेकी सम्भावना की जाती है, क्योंकि लघीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रहपर भी उनकी स्वोपज्ञ विवृत्तियाँ हैं। तथा कतिपय वैसे उल्लेख भी मिलते हैं। न्यायविनिश्चय मूल अकलङ्कग्रन्थत्रयमें मुद्रित हो चुका है। वादिराज सूरिकृत टीका अभी अमुद्रित है। आ० धर्मभूषणने इस ग्रन्थके नामोल्लेखके साथ न्यायदीपिका पृ० २४ पर

इसकी अर्धकारिका और पृष्ठ ७० एक पूरी कारिका उद्धृत की है ।

परीक्षामुख—यह आचार्य माणिक्यनन्दिनी असाधारण और अपूर्व कृति है । तथा जैनन्यायका प्रथम सूत्रग्रन्थ है । 'यद्यपि अकलङ्कदेव जैन-न्यायकी प्रस्थापना कर चुके थे और अनेक महत्वपूर्ण स्फुट प्रकरण भी लिख चुके थे । परंतु गौतमके न्यायसूत्र, दिग्नागके न्यायप्रवेश, न्यायमुख आदिकी तरह जैनन्यायको सूत्रवद्ध करनेवाला 'न्यायसूत्र' ग्रन्थ जैन-परम्परामे अब तक नहीं बन पाया था । इस कमीकी पूर्त्तिको सर्वप्रथम आ० माणिक्यनन्दिने प्रस्तुत 'परीक्षामुख' लिखकर किया । माणिक्यनन्दि-की यह अकेली एक ही अमर रचना है जो भारतीय न्यायसूत्रग्रन्थोंमे अपना विशिष्ट स्थान रखती है । यह अपूर्व ग्रन्थ सस्कृत नापामे निबद्ध है । छह परिच्छेदोंमे विभक्त है और इसकी सूत्रसंख्या सब मिलाकर २०७ है । सूत्र बड़े सरल, सरस तथा नपे-तुले हैं । साथमे गम्भीर, तलस्पर्शी और अर्थगौरवको लिए हुए हैं । आदि और अन्तमे दो पद्य हैं । अकलकदेवके द्वारा प्रस्थापित जैनन्यायको इसमें बहुत ही सुन्दर ढंगसे ग्रथित किया गया है । लघु अनन्तवीर्यने तो इसे अकलकके वचनरूप समुद्र-को मथकर निकाला गया 'न्यायविद्यामृत—न्यायविद्याका अमृत वतलाया है' । इस ग्रन्थरत्नका महत्व इसीसे व्यापित हो जाता है कि इसपर अनेक महत्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गई हैं । आ० प्रभाचन्द्रने १२ हजार श्लोकप्रमाण 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामकी विशालकाय टीका

१ अकलङ्कके वचनोंसे 'परीक्षामुख' कैसे उद्धृत हुआ है, इसके लिए मेरा 'परीक्षामुखसूत्र और उसका उद्गम' शीर्षक लेख देखें । 'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण ३-४ पृ० ११६-१२८ ।

२ "अकलङ्कवचोऽभोवेद्दध्रे येन वीमता ।

न्यायविद्यामृत तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥" प्रमेयर० पृ० २ ।

लिखी है। इनके पीछे १२ वीं शताब्दीके विद्वान् लघु अनन्तवीर्यने प्रसन्न रचनाशैलीवाली 'प्रमेयरत्नमाला' टीका लिखी है। यह टीका है तो छोटी, पर इतनी विशद है कि पाठकको विना कठिनाईके सहजमे ही अर्थबोध हो जाता है। इनकी शब्दरचनामे हेमचन्द्राचार्य भी प्रभावित हुए हैं और उन्होंने अपनी प्रमाणमीमामामे शब्दश. तथा अर्थश. उसका अनुसरण किया है। न्यायदीपिकाकारने परीक्षामुखके अनेक सूत्रोको नामनिर्देश और विना नामनिर्देशके उद्धृत किया है। वस्तुतः आ० धर्मभूषणने इस सूत्र-ग्रन्थका खूब ही उपयोग किया है। न्यायदीपिकाके आधारभूत ग्रन्थोमे परीक्षामुखका नाम लिया जा सकता है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और भाष्य—आ० उमास्वातिके तत्त्वार्थ-सूत्रपर कुमारिलके 'मीमांसाश्लोकवार्त्तिक' और धर्मकीर्तिके 'प्रमाण-वार्त्तिक' की तरह पद्यात्मक विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक रचा है और उसके पद्यवार्त्तिकोंपर उन्हीने स्वयं गद्यमे भाष्य लिखा है जो तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकभाष्य' और 'श्लोकवार्त्तिकभाष्य' इन नामोसे कथित होता है। आचार्यप्रवर विद्यानन्दने इसमे अपनी दार्शनिक विद्याका पूरा ही खजाना खोलकर रख दिया है और प्रत्येकको उसका आनन्दरसास्वाद लेने-के लिये निःस्वार्थ आमन्त्रण दे रखा है श्लोकवार्त्तिकके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक चले जाइये, सर्वत्र तार्किकता और गहन विचारणा समव्याप्त है। कहीं मीमांसादर्शनके नियोग भावनादिपर उनके सूक्ष्म एवं विशाल पाण्डित्यकी प्रखर किरणें अपना तीक्ष्ण प्रकाश डाल रहीं हैं तो कहीं न्यायदर्शनके निग्रहस्यानादिरूप प्रगाढ तमको निष्कासित कर रही हैं और कहीं बौद्ध दर्शनकी हिममय चट्टानोको पिघला-पिघला कर दूर कर रही हैं। इस तरह श्लोकवार्त्तिकमे हमे विद्यानन्दके अनेकमुख पाण्डित्य और सूक्ष्म-प्रज्ञताके दर्शन होते हैं। यही कारण है कि जैनतार्किकोमे आचार्य विद्यानन्दका उन्नत स्थान है। श्लोकवार्त्तिक के अलावा विद्यानन्दमहोदय, अष्ट-सहस्री, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा और

युक्त्यनुमाननालङ्कार आदि दार्शनिक रचनाएँ उनकी बनाई हुई है। इनमें विद्यानन्दमहोदय, जो श्लोकवार्त्तिककी रचनासे भी पहलेकी^१ विशिष्ट रचना है और जिसके उल्लेख तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० २७२, ३८५) तथा अष्टसहस्री (पृ० २८६, २९०) में पाये जाते हैं, अनुपलब्ध है। शेषकी रचनाएँ उपलब्ध हैं और सत्यज्ञासनपरीक्षाको छोड़कर मुद्रित भी हो चुकी हैं। आ० विद्यानन्द अकलङ्कदेवके उत्तरकालीन और प्रभाचन्द्राचार्यके पूर्ववर्ती है। अतः इनका अस्तित्व-समय नवमी गताब्दी माना जाता है^२। अभिनव धर्मभूषणने न्यायदीपिकामें इनके श्लोकवार्त्तिक और भाष्यका कई जगह नामोल्लेख करके उनके वाक्योंको उद्धृत किया है।

प्रमाणपरीक्षा—विद्यानन्दकी ही यह अन्यतम कृति है। यह अकलङ्कदेवके प्रमाणसंग्रहादि प्रमाणविषयक प्रकरणोंका आश्रय लेकर रची गई है। यद्यपि इसमें परिच्छेद-भेद नहीं है तथापि प्रमाणमात्रको अपना प्रतिपद्य विषय बनाकर उसका अच्छा निरूपण किया गया है। प्रमाणका सम्यग्ज्ञानत्व लक्षण करके उसके भेद, प्रभेदों, प्रमाणका विषय तथा फल और हेतुओंकी इसमें सुन्दर एवं विस्तृत चर्चा की गई है। हेतु-भेदोंके निदर्शक कुछ संग्रहश्लोकोंको तो उद्धृत भी किया है। जो पूर्ववर्ती किन्हीं जैनाचार्योंके ही प्रतीत होते हैं। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक^३ और अष्टसहस्री^४ की तरह यहाँ^५ भी प्रत्यभिज्ञानके दो ही भेद गिनाये हैं। जबकि अक-

१ पूर्ववर्तित्वके लिए 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक मेरा द्वितीय लेख देखें, अनेकान्त वर्ष ५ किरण १०-११ पृ ३८०। देखो, न्यायकुमुद द्वि० भा० की प्रस्तावना पृ० ३० और स्वामी समन्तभद्र पृ० ४८। ३ 'तद्विधैकत्वसादृश्यगोचरत्वेन निश्चितम्'—त० श्लो० पृ० १६०। ४ 'तदेवेदं तत्तदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्यविषयस्य द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्य'—अष्टस० पृ० २७६। ५ 'द्विविध हि प्रत्यभिज्ञान' प्रमाणप० पृ० ६६।

लङ्क^१ और माणिक्यनन्दिने^२ दोसे ज्यादा कहे हैं और यही मान्यता जैन-परम्परामे प्रायः सर्वत्र प्रतिष्ठित हुई है इससे मालूम होता है कि प्रत्यभिज्ञानके दो भेदोंकी मान्यता विद्यानन्दकी अपनी है। आ० वर्मभूषणने पृ० १७ पर इस ग्रन्थकी नामोल्लेखके साथ एक कारिका उद्धृत की है।

पत्रपरीक्षा—यह भी आचार्य विद्यानन्दकी रचना है। इसमें दर्शनान्तरीय पत्रलक्षणोंकी समालोचनापूर्वक जैनदृष्टिसे पत्रका बहुत सुन्दर लक्षण किया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवोंको ही अनुमानाङ्ग बतलाया है। न्यायदीपिका पृ० ८१ पर इसग्रन्थका नामोल्लेख हुआ है और उसमें अवयवोंके विचारकोंको विस्तारसे जाननेकी सूचना की है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड—यह आ० माणिक्यनन्दिके 'परीक्षामुख' सूत्र-ग्रन्थपर रचा गया प्रभाचन्द्राचार्यका वृहत्काय टीकाग्रन्थ है। इसे पिछले लघु अनन्तवीर्य (प्रमेयरत्नमालाकार) ने 'उदारचन्द्रिका' की उपमा दी और अपनी कृति—प्रमेयरत्नमालाको उसके नामने जुगुप्सुके सदृश बतलाया है इससे प्रमेयकमलमार्तण्डका महत्व ख्यापित हो जाता है। नि सन्देह मार्तण्डके प्रदीप्त प्रकाशमें दर्शनान्तरीय प्रमेय स्फुटतया भासमान होते हैं। स्वतत्त्व, परतत्त्व और यथार्थता, अयथार्थताका निर्णय करनेमें कठिनाई नहीं मालूम होती। इस ग्रन्थके रचयिता आ० प्रभाचन्द्र ईसाकी १० वीं और ११वीं शताब्दी (६८०से१०६५ ई०) के विद्वान् माने जाते हैं^३। इन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्डके अलावा न्यायकुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, शाकटायनन्यास, दाब्दाम्भोजभास्कर, प्रवचनसारसरोजभास्कर, गद्य-कथाकोश, रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका और समाधितत्रटीका आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। इनमें गद्यकथाकोश स्वतन्त्र कृति है और शेष

१ देखो, लघीय०का० २१। २ देखो, परीक्षामु० ३-५ से ३-१०।

३ देखो, न्यायकुमुद द्वि० भा० प्र० पृ० ५८ तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रस्ता० पृ० ६७।

टीका कृतियाँ हैं। धर्मभूषणने न्यायदीपिका पृ० ३० पर तो इन ग्रन्थका केवल नामोल्लेख और ५४ पर नामोल्लेखके साथ एक वाक्यको भी उद्धृत किया है।

प्रमाण-निर्णय—न्यायविनिश्चयविवरणटीकाके कर्ता आ० वादि-राजसूरिका यह स्वतन्त्र तार्किक प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें प्रमाणलक्षण-निर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय, परोक्षनिर्णय और आगमनिर्णय ये चार निर्णय (परिच्छेद) हैं, जिनके नामोंसे ही ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट मालूम हो जाता है। न्या० दी० पृ० ११ पर इस ग्रन्थके नामोल्लेखके साथ एक वाक्यको उद्धृत किया है।

कारुण्यकलिका—यह सन्दिग्ध ग्रन्थ है। न्यायदीपिकाकारने पृ० १११ पर इस ग्रन्थका निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

‘प्रपञ्चितमेतदुपाधिनिराकरणं कारुण्यकलिकायामिति विरम्यते’ परन्तु बहुत प्रयत्न करनेपर भी हम यह निर्णय नहीं कर सके कि यह ग्रन्थ जैनरचना है या जैनेतर। अथवा स्वयं ग्रन्थकारकी ही न्यायदीपिकाके अलावा यह अन्य दूसरी रचना है। क्योंकि अब तकके मुद्रित जैन और जैनेतर ग्रन्थोंकी प्राप्ति सूचियोंमें भी यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। अतः ऐसा मालूम होता है कि यह या तो नष्ट हो चुका है या किसी लायब्रेरीमें असुरक्षित रूपमें पड़ा है। यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी लायब्रेरीमें है तो इसकी खोज होकर प्रकाशमें आना चाहिए। यह बहुत ही महत्वपूर्ण और अच्छा ग्रन्थ मालूम होता है। न्यायदीपिकाकारके उल्लेखसे विदित होता है कि उसमें विस्तारसे उपाधिका निराकरण किया गया है। सम्भव है गदाधरके ‘उपाधिवाद’ ग्रन्थका भी इसमें खण्डन हो।

स्वामीसमन्तभद्र—ये वीरशासनके प्रभावक, सम्प्रसारक और खास युगके प्रवर्तक महान् आचार्य हुये हैं सुप्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलङ्कदेवने इन्हे कलिकालमें स्याद्वादरूपी पुण्योदधिके तीर्थका प्रभावक बतलाया

है^१। आचार्य जिनसेनने इनके वचनोको भ० वीरके वचनतुल्य प्रकट किया है^२ और एक शिलालेखमें^३ तो भ० वीरके तीर्थकी हजारगुणी वृद्धि करनेवाला भी कहा है। आ० हरिभद्र और विद्यानन्द जैसे बड़े बड़े आचार्योंने उन्हें 'वादिमुख्य' 'आद्यस्तुतिकार' 'स्याद्वादन्यायमार्गका' प्रकाशक' आदि विशेषणों द्वारा स्मृत किया है इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर-वर्ती आचार्योंने जितना गुणगान स्वामी समन्तभद्रका किया है उतना दूसरे आचार्योंका नहीं किया। वास्तवमें स्वामी समन्तभद्रने वीरशासनकी जो महान् सेवा की है वह जैनवाङ्मयके इतिहासमें सदा स्मरणीय एवं अमर रहेगी। आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र), युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र रत्नकरण्डश्रावकाचार और जिनशतक (जिनस्तुतिशतक) ये पांच उपलब्ध कृतियाँ इनकी प्रसिद्ध है। तत्त्वानुशासन, जीवसिद्धि, प्रमाणपदार्थ, कर्म-प्राभृतटीका और गन्वहस्तिमहाभाष्य इन ५ ग्रन्थोंके भी इनके द्वारा रचे जानेके उल्लेख ग्रन्थान्तरोमें मिलते हैं^४। परन्तु अभी तक कोई उपलब्ध नहीं हुआ। गन्वहस्तिमहाभाष्य (महाभाष्य) के सम्बन्धमें मैं पहिले विचार कर आया हूँ। स्वामीसमन्तभद्र बौद्ध विद्वान् नागार्जुन (१८१ई०) के समकालीन या कुछ ही समय बादके और दिग्नाग (३४५-४२५ई०) के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं^५। अर्थात् इनका अस्तित्व-समय प्रायः ईसाकी दूसरी और तीसरी शताब्दी है कुछ विद्वान् इन्हें दिग्नाग (४२५ई०) और धर्मकीर्ति (६३५ई०) के उत्तरकालीन अनुमानित करते हैं^६।

१ देखो, अष्टशती पृ० २। २ देखो, हरिवंशपुराण १-३०। ३ देखो, वेलूर ताल्लुकेका शिलालेख न० १७। ४ इन ग्रन्थोंके परिचयके लिये मुस्तार सा० का 'स्वामीसमन्तभद्र' ग्रन्थ देखें। ५ देखो, 'नागार्जुन और स्वामीसमन्तभद्र' तथा 'स्वामीसमन्तभद्र और दिग्नागमें पूर्ववर्ती कौन' शीर्षक दो मेरे निबन्ध 'अनेकान्त' वर्ष ७ किरण १-२ और वर्ष ५ कि० १२। ६ देखो, न्यायकुमुद द्वि० भा० का प्राक्कथन और प्रस्तावना।

अर्थात् ५वीं और सातवीं शताब्दी बतलाते हैं। इस सन्दर्भमें जो उनकी दलीले हैं उनका युक्तिपूर्ण विचार अन्यत्र^१ किया है। अतः इस सक्षिप्त स्थानपर पुनः विचार करना शक्य नहीं है। न्यायदीपिकाकारने न्याय-दीपिकामें अनेक जगह स्वामी समन्तभद्रका नामोल्लेख किया है और उनके प्रसिद्ध दो स्तोत्रो—देवागमस्तोत्र (आप्तमीमासा) और स्वयम्भूतोत्र-से अनेक कारिकाओं को उद्धृत किया है।

भट्टाकलङ्कदेव—ये 'जैनन्यायके प्रस्थापक' के रूपमें स्मृत किये जाते हैं जैनपम्पराके सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर तार्किक इनके द्वारा प्रतिष्ठित 'न्यायमार्ग' पर ही चले हैं। आगे जाकर तो इनका वह 'न्यायमार्ग' 'अकलङ्कन्याय'के नामसे प्रसिद्ध हो गया। तत्त्वार्थवार्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चय, लवीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रह आदि इनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ये प्रायः सभी दार्शनिक कृतियाँ हैं और तत्त्वार्थ-वार्तिकभाष्यको छोड़कर सभी गूढ़ एवं दुरवगाह हैं। अनन्तवीर्यादि टीकाकारोंने इनके पदोंकी व्याख्या करनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया है। वस्तुतः अकलङ्कदेवका वाङ्मय अपनी स्वाभाविक जटिलताके कारण विद्वानोंके लिए आज भी दुर्गम और दुर्वोच बना हुआ है। जबकि उनपर टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। जैन साहित्यमें ही नहीं, बल्कि भारतीय दर्शनसाहित्यमें अकलङ्कदेवकी सर्व कृतियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनकी कतिपय कृतियोंका कुछ परिचय पहले करा आये हैं। श्रीमान् प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने इनका अस्तित्वकाल अन्तःपरीक्षा आदि प्रमाणोंके आधारपर ईसाकी आठवीं शताब्दी (७२०से७८० ई०) निर्धारित किया है^२। न्यायदीपिकामें धर्मभूषणजीने कई जगह इनके नाम-

१ देखो, 'क्या स्वामीसमन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन हैं ?' नामक मेरा लेख, जैनसिद्धान्तभास्कर भा० ११ किरण १ । २ देखो, अकलङ्कग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना पृ० ३२ ।

का उल्लेख किया है और तत्त्वार्थवातिक तथा न्यायविनिश्चयसे कुछ वाक्योको उद्धृत किया है ।

कुमारनन्दि भट्टारक—यद्यपि इनकी कोई रचना इस समय उपलब्ध नहीं है, इससे इनका विशेष परिचय कराना अशक्य है फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि ये आ० विद्यानन्दके पूर्ववर्ती विद्वान् हैं और अच्छे जैनताक्तिक हुए हैं । विद्यानन्दस्वामीने अपने प्रमाण-परीक्षा, पत्रपरीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवाक्तिकमे इनका और इनके 'वाद-न्याय'का नामोल्लेख किया है तथा उसकी कुछ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं । इससे इनकी उत्तरावधि तो विद्यानन्दका समय है अर्थात् ९वीं शताब्दी है । और अकलङ्कदेवके उत्तरकालीन मालूम होते हैं, क्योंकि अकलङ्कदेवके समकालीनका अस्तित्व परिचायक इनका अब तक कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है । अतः अकलङ्कदेवका समय (८वीं शताब्दी) इनकी पूर्वावधि है । इस तरह ये ८वीं, ९वीं सदीके मध्यवर्ती विद्वान् जान पड़ते हैं । चन्द्रगिरि पर्वतपर उत्कीर्ण शिलालेख न० २२७ (१३६) में इनका उल्लेख है जो ९ वीं शताब्दीका अनुमानित किया जाता है^१ । इनका महत्वका 'वादन्याय' नामका तर्कग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं जिसके केवल उल्लेख मिलते हैं । आ० धर्मभूषणने न्यायदी० पृ० ६६ और ८२ पर 'तदुक्त कुमारनन्दिभट्टारकं' कहकर इनके वादन्यायकी एक कारिकाके पूर्वाद्धि और उत्तरार्धको अलग अलग उद्धृत किया है ।

माणिक्यनन्दि—ये कुमारनन्दि भट्टारककी तरह नन्दिसघके प्रमुख आचार्योंमे है । इनकी एकमात्र कृति परीक्षमुख है । जिसके सम्बन्धमे हम पहले प्रकाश डाल आए हैं । इनका समय १०वीं शताब्दीके लगभग माना जाता है । ग्रन्थकारने न्यायदीपिकामे कई जगह इनका नामोल्लेख किया है । एक स्थान (पृ० १२०) पर तो 'भगवान्' और

^१ देखो, जैनशिलालेखस० पृ० १५२, ३२१ ।

‘भट्टारक’ जैसे महनीय विशेषणों सहित इनके नामका उल्लेख करके परीक्षामुखके सूत्रको उद्धृत किया है ।

स्याद्वादविद्यापति—यह आचार्य वादिराजसूरिकी विशिष्ट उपाधि थी जो उनके स्याद्वादविद्याके अधिपतित्व—अगाध पाण्डित्यको प्रकट करती है । आ० वादिराज अपनी इस उपाधिसे इतने अभिन्न एव तदात्म जान पड़ते हैं कि उनकी इस उपाधिसे ही पाठक वादिराजसूरिको जान लेते हैं । यही कारण है कि न्यायविनिश्चयविवरणके सन्धिवाक्योंमें ‘स्याद्वादविद्यापति’ उपाधिके द्वारा ही वे अभिहित हुए हैं^१ । न्याय-दीपिकाकारने भी न्यायदीपिका पृ० २४ और ७० पर इसी उपाधिसे उनका उल्लेख किया है और पृ० २४ पर तो इसी नामके साथ एक वाक्य-को भी उद्धृत किया है । मालूम होता है कि ‘न्यायविनिश्चय’ जैसे दुरूह तकग्रंथपर अपना वृहत्काय विवरण लिखनेके उपलक्ष्यमें ही इन्हें गुरुजनो अथवा विद्वानों द्वारा उक्त गौरवपूर्ण स्याद्वादविद्याके धनीरूप उच्च पदवी-से सम्मानित किया होगा । वादिराजसूरि केवल अपने समयके महान् तार्किक ही नहीं थे, बल्कि वे सच्चे अर्हद्भूक्त एव आज्ञाप्रधानी, वैयाकरण और अद्वितीय उच्च कवि भी थे^२ । न्यायविनिश्चयविवरण, पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, प्रमाणनिर्णय और एकीभावस्तोत्र आदि इनकी कृतियाँ हैं । इन्होंने अपना पार्श्वनाथचरित शकसम्बन् ६४७ (१०२५ ई०) में समाप्त किया है । अतः-ये ईसाकी ११वीं सदीके पूर्वार्द्धके विद्वान् हैं ।

१ इसका एक नमूना इस प्रकार है—इत्याचार्यस्याद्वादविद्यापति-विरचित न्यायविनिश्चयकारिकाविवरणे प्रत्यक्षप्रस्ताव प्रथम ।—
लि० पत्र ३०६ ।

२ ‘वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंह ।

वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहाय । ।’

—एकीभावस्तोत्र २६ ।

२. अभिनव धर्मभूषण

प्रासंगिक—

जैनसमाजने अपने प्रतिष्ठित महान् पुरुषो—तीर्थकरो, राजाओ, आचार्यों, श्रेष्ठिवरो, विद्वानो तथा तीर्थक्षेत्रो, मन्दिरों और ग्रथागारों आदिके इतिवृत्तको सकलन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर बहुत कुछ उपेक्षा एवं उदासीनता रखी है। इसीसे आज सब कुछ होते हुए भी इस विषयमें हम दुनियाँ की नजरोंमें अकिञ्चन समझे जाते हैं। यद्यपि यह प्रकट है कि जैन इतिहासकी सामग्री विपुलरूपमें भारतके कोने-कोनेमें सर्वत्र विद्यमान है पर वह विखरी हुई असम्बद्धरूपमें पड़ी हुई है। यही कारण है कि जैन इतिहासको जाननेके लिए या उसे सम्बद्ध करनेके लिए अपरिमित कठिनाइयाँ आती हैं और अन्वेरे में टटोलना पड़ता है। प्रसन्नताकी बात है कि कुछ दूरदर्शी श्रीमान् विद्वान् वर्गका अब इस ओर ध्यान गया। और उन्होंने इतिहास तथा साहित्यके सकलन, अन्वेषण आदिका क्रियात्मक प्रयत्न आरम्भ कर दिया है।

आज हम अपने जिन ग्रन्थकार श्री अभिनव धर्मभूषण का परिचय देना चाहते हैं उनको जाननेके लिये जो कुछ साधन प्राप्त हैं वे यद्यपि पूरे पर्याप्त नहीं हैं। उनके माता-पितादिका क्या नाम था? जन्म और स्वर्गवास कब, कहाँ हुआ? आदिका उनसे कोई पता नहीं चलता है। फिर भी सौभाग्य और सन्तोषकी बात यही है कि उपलब्ध साधनोंसे उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व, गुरुपरम्परा, और समयका कुछ प्रामाणिक परिचय मिल जाता है। अतः हम उन्हीं शिलालेख, ग्रन्थोल्लेख आदि साधनोंपरसे ग्रन्थकारके सम्बन्धमें कुछ कहनेके लिये प्रस्तुत हुए हैं।

ग्रन्थकार और उनके अभिनव तथा यति विशेषण—

इस ग्रन्थके कर्त्ता अभिनव धर्मभूषण यति हैं। न्यायदीपिकाके पहले और दूसरे प्रकाशके पुष्पिकावाक्योंमें 'यति' विशेषण तथा तीसरे

प्रकाशके पुष्पिकावाक्यमे 'अभिनव' विशेषण इनके नामके साथ पाये जाते हैं । जिमसे मालूम होता है कि न्यायदीपिकाके रचयिता धर्मभूषण अभिनव और यति दोनों कहलाते थे । जान पड़ता है कि अपने पूर्ववर्ती धर्मभूषणोंसे अपनेको व्यावृत्त करनेके लिये 'अभिनव' विशेषण लगाया है । क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि एक नामके अनेक व्यक्तियोंमे अपने को जुदा करने के लिये कोई उपनाम रख लिया जाता है । अतः 'अभिनव' न्यायदीपिकाकारका एक व्यावर्तक विशेषण या उपनाम समझना चाहिए । जैनसाहित्यमे ऐसे और भी कई आचार्य हुए हैं जो अपने नामके साथ अभिनव विशेषण लगाते हुए पाये जाते हैं । जैसे अभिनव पण्डिताचार्य^१ (शक० १२३३) अभिनव श्रुतमुनि^२ अभिनव गुणभद्र^३ और अभिनव पण्डितदेव^४ आदि । अतः पूर्ववर्ती अपने नामवालोंसे व्यावृत्त-के लिये 'अभिनव' विशेषण यह एक परिपाटी है । 'यति' विशेषण तो स्पष्ट ही है क्योंकि वह मुनिके लिये प्रयुक्त किया जाता है । अभिनव धर्मभूषण अपने गुरु श्रीवद्वंमान भट्टारकके पट्टके उत्तराधिकारी हुए थे और वे कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमे हुए हैं । इसलिये इस विशेषणके द्वारा यह भी निश्चिन्त ज्ञात हो जाता है कि ग्रन्थकार दिगम्बर जैन मुनि थे और भट्टारक नामसे लोकविश्रुत थे^५ ।

१ देखो, शिलालेख० न० ४२१ । २ देखो, जैनशिलालेखस० पृ० २०१, शिलाले० १०५ (२४५) । ३ देखो, 'सी पी एण्ड वरार कैटलाग' रा० व० हीरालालद्वारा सम्पादित । ४ देखो, जैनशिलालेख स० पृ० ६४५ शिलालेख न० ३६२ (२५७) ।

५ " शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिकः ।

भट्टारकमुनि श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः ॥ "

—विजयनगरशिला० न० २ ।

धर्मभूषण नाम के दूसरे विद्वान्—

ऊपर कहा गया है कि ग्रन्थकारने दूसरे पूर्ववर्ती धर्मभूषणोमे भिन्नत्व ख्यापित करनेके लिए अपने नामके साथ 'अभिनव' विशेषण लगाया है। अतः यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन-परम्परामे धर्मभूषण नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं। एक धर्मभूषण वे हैं जो भट्टारक धर्मचन्द्र के पट्टपर बैठे थे और जिनका उल्लेख बरार-प्रान्तके मूर्तिलेखोमे बहुलतया पाया जाता है^१। ये मूर्तिलेख शकसम्बत् १५२२, १५३५, १५७२ और १५७७ के उत्कीर्ण हुए हैं। परन्तु ये धर्मभूषण न्यायदीपिकाकारके उत्तरकालीन हैं। दूसरे धर्मभूषण वे हैं जिनके आदेशानुसार केगववर्णीने अपनी गोम्मटसारकी जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक टीका शकसम्बत् १२८१ (१३५६ ई०) मे बनाई है^२। तीसरे धर्मभूषण वे हैं जो अमरकीर्तिके गुरुये तथा विजयनगरके शिलालेख नं० २ मे उल्लिखित तीन धर्मभूषणोमे पहले नम्बरपर जिनका उल्लेख है और जो ही सम्भवतः विन्ध्यगिरि पर्वतके शिलालेख नं० १११ (२७४)मे भी अमरकीर्तिके गुरुरूपसे उल्लिखित हैं। यहाँ उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' भी कहा गया है। चौथे धर्मभूषण वे हैं जो अमरकीर्तिके शिष्य और विजयनगर शिलालेख नं० २ गत पहले धर्मभूषणके प्रशिष्य हैं एवं सिंहनन्दीव्रतीके सधर्मा हैं तथा विजयनगरके शिलालेख नं० २ के ११वे पद्य मे दूसरे नं० के धर्मभूषणके रूपमे उल्लिखित हैं।

१ 'सहस्रनामाराधना' के कर्त्ता देवेन्द्रकीर्त्तिने भी 'सहस्रनामाराधना' मे इन दोनो विद्वानोका अपने गुरु और प्रगुरुरूपसे उल्लेख किया है। देखो, जैनसिद्धान्तभवन आरासे प्रकाशित प्रशस्ति सं० पृ० ६४।

२ देखो, डा० ए० एन० उपाध्येका 'गोम्मटसारकी जीवतत्त्व-प्रदीपिका टीका' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ४ किरण १ पृ० ११८।

प्रकाशके पुष्पिकावाक्यमे 'अभिनव' विशेषण इनके नामके साथ पाये जाने हैं । जिमसे मालूम होता है कि न्यायदीपिकाके रचयिता धर्मभूषण अभिनव और यति दोनो कहलाते थे । जान पडता है कि अपने पूर्ववर्ती धर्मभूषणोंसे अपनेको व्यावृत्त करनेके लिये 'अभिनव' विशेषण लगाया है । क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि एक नामके अनेक व्यक्तियोंमें अपने को जुदा करने के लिये कोई उपनाम रख लिया जाता है । अतः 'अभिनव' न्यायदीपिकाकारका एक व्यावर्त्तक विशेषण या उपनाम समझना चाहिए । जैनसाहित्यमें ऐसे और भी कई आचार्य हुए हैं जो अपने नामके साथ अभिनव विशेषण लगाते हुए पाये जाते हैं । जैसे अभिनव पण्डिताचार्य^१ (शक० १२३३) अभिनव श्रुतमुनि^२ अभिनव गुणभद्र^३ और अभिनव पण्डितदेव^४ आदि । अतः पूर्ववर्ती अपने नामवालोंसे व्यावृत्तिके लिये 'अभिनव' विशेषण यह एक परिपाटी है । 'यति' विशेषण तो स्पष्ट ही है क्योंकि वह मुनिके लिये प्रयुक्त किया जाता है । अभिनव धर्मभूषण अपने गुरु श्रीवर्द्धमान भट्टारकके पट्टके उत्तराधिकारी हुए थे और वे कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें हुए हैं । इसलिये इस विशेषणके द्वारा यह भी निश्चित ज्ञात हो जाता है कि ग्रन्थकार दिगम्बर जैन मुनि थे और भट्टारक नामसे लोकविश्रुत थे^५ ।

१ देखो, शिलालेख० न० ४२१ । २ देखो, जैनशिलालेखस० पृ० २०१, शिलाले० १०५ (२४५) । ३ देखो, 'सी पी एण्ड वरार कंटलाग' रा० व० हीरालालद्वारा सम्पादित । ४ देखो, जैनशिलालेख स० पृ० ६४५ शिलालेख न० ३६२ (२५७) ।

५ " शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिकः ।

भट्टारकमुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः ॥ "

—विजयनगरशिला० न० २ ।

धर्मभूषण नाम के दूसरे विद्वान्—

ऊपर कहा गया है कि ग्रन्थकारने दूसरे पूर्ववर्ती धर्मभूषणोमे भिन्नत्व स्थापित करनेके लिए अपने नामके साथ 'अभिनव' विशेषण लगाया है। अतः यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन-परम्परामे धर्मभूषण नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं। एक धर्मभूषण वे हैं जो भट्टारक धर्मचन्द्र के पट्टपर बैठे थे और जिनका उल्लेख वरार-प्रान्तके मूर्तिलेखोमे बहुलतया पाया जाता है^१। ये मूर्तिलेख शकसम्बत् १५२२, १५३५, १५७२ और १५७७ के उत्कीर्ण हुए हैं। परन्तु ये धर्मभूषण न्यायदीपिकाकारके उत्तरकालीन हैं। दूसरे धर्मभूषण वे हैं जिनके आदेशानुसार केशववर्णीने अपनी गोम्मटसारकी जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक टीका शकसम्बत् १२८१ (१३५६ ई०) मे बनाई है^२। तीसरे धर्मभूषण वे हैं जो अमरकीर्तिके गुरु थे तथा विजयनगरके शिलालेख न० २ मे उल्लिखित तीन धर्मभूषणोमे पहले नम्बरपर जिनका उल्लेख है और जो ही सम्भवतः विन्ध्यगिरि पर्वतके शिलालेख न० १११ (२७४)मे भी अमरकीर्तिके गुरुरूपसे उल्लिखित हैं। यहाँ उन्हें 'कलि-कालसर्वज्ञ' भी कहा गया है। चौथे धर्मभूषण वे हैं जो अमरकीर्तिके शिष्य और विजयनगर शिलालेख न० २ गत पहले धर्मभूषणके प्रशिष्य हैं एवं सिंहनन्दीव्रतीके सवर्मा हैं तथा विजयनगरके शिलालेख न० २ के ११वें पद्य मे दूसरे न० के धर्मभूषणके रूपमे उल्लिखित हैं।

१ 'सहस्रनामाराधना' के कर्त्ता देवेन्द्रकीर्त्तिने भी 'सहस्रनामाराधना' मे इन दोनो विद्वानोका अपने गुरु और प्रगुरुरूपसे उल्लेख किया है। देखो, जैनसिद्धान्तभवन आरासे प्रकाशित प्रशस्ति सं० पृ० ६४।

२ देखो, डा० ए० एन० उपाध्येका 'गोम्मटसारकी जीवतत्त्व-प्रदीपिका टीका' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ४ किरण १ पृ० ११८।

ग्रन्थकार धर्मभूषण और उनकी परम्परा—

प्रस्तुत ग्रन्थके कर्त्ता धर्मभूषण उपर्युक्त धर्मभूषणों से भिन्न हैं और जिनका उल्लेख उसी विजयनगरके शिलालेख न० २ मे तीसरे नम्बरके धर्मभूषणके स्थान पर है तथा जिन्हे स्पष्टतया श्रीवर्द्धमान भट्टारक शिष्य बतलाया है । न्यायदीपिकाकारने स्वयं न्यायदीपिकाके अन्तिम पद्य^१ और अन्तिम (तीसरे प्रकाशगत) पुष्पिकावाक्यमे^२ अपने गुरुका नाम श्रीवर्द्धमान भट्टारक प्रकट किया है । मेरा अनुमान है कि मङ्गलाचरण पद्यमे भी उन्होंने 'श्रीवर्द्धमान' पदके प्रयोग द्वारा वर्द्धमान तीर्थंकर और अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारक दोनोंको स्मरण किया है । क्योंकि अपने परापरगुरुका स्मरण करना सर्वथा उचित ही है । श्रीधर्मभूषण अपने गुरुके अत्यन्त अनन्य भक्त थे । वे न्यायदीपिका के—उसी अन्तिम पद्य^१ और पुष्पिकावाक्यमे^२ कहते हैं कि उन्हें अपने उक्त गुरुकी कृपासे ही सरस्वतीका प्रकर्ष (सारस्वतोदय) प्राप्त हुआ था और उनके चरणोंकी स्नेहमयी भक्ति-सेवासे न्यायदीपिका की पूर्णता हुई है । अतः मङ्गलाचरणपद्यमे अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारकका भी उनके द्वारा स्मरण किया जाना सर्वथा-सम्भव एव सङ्गत है ।

विजयनगरके उस शिलालेखमे जो शकसम्बत् १३०७ (१३८५ ई०) मे उत्कीर्ण हुआ है, ग्रन्थकार की जो गुरु परम्परा दी गई है उसके सूचक शिलालेखगत प्रकृतके उपयोगी कुछ पद्योंको यहां दिया जाता है —

“यत्पादपङ्कज रजो हरति मानसम् ।

स जिन श्रेयसे भूयाद् भूयसे करुणालयम् ॥१॥

श्रीमत्परमगाम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनायस्य शासनं जिनशासनम् ॥२॥

श्रीमूलसधेऽजनि नन्दिसघस्तस्मिन् बलात्कारगणेतिसन्न ।
 तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ॥३॥
 आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वकृग्रीवो महामुनिः ।
 एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥४॥
 केचित्तदन्वये चारुमुनय खनयो गिराम् ।
 जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिव्यतेजस ॥५॥
 तत्रासीच्चारुचारित्ररत्नरत्नाङ्करो गुरु ।
 धर्मभूषणयोगीन्द्रो भट्टारकपदाचित ॥६॥
 भाति भट्टारको धर्मभूषणो गुणभूषण ।
 यद्यशः कुसुमामोदे गमन भ्रमरायते ॥७॥
 शिष्यस्तस्य गुरोरासीदनर्गलत्तपोनिधि ।
 श्रीमानमरकीर्त्यार्यो देशिकाग्रेसर शमी ॥८॥
 निजपक्षपुटकवाट घटयित्वाऽनिलनिरोधितो हृदये ।
 अविचलितबोधदीप तमममरकीर्ति भजे तमोहरणम् ॥९॥
 केऽपि स्वोदरपूरणे परिणता विद्याविहीनान्तरा ।
 योगीशा भुवि सम्भवन्तु बहव किं तैरनन्तैरिह ॥
 धीर स्फूर्जन्ति दुर्जयातनुमदध्वसी गुणैरुज्जित-
 राचार्योऽमरकीर्ति शिष्यगणभृच्छ्रीसिहनन्दीव्रती ॥१०॥
 श्रीधर्मभूषोऽजनि तस्य पट्टे श्रीसिहनन्द्यार्यगुरोस्सवर्मा ।
 भट्टारक श्रीजिनधर्महर्म्यस्तम्भायमान कुमुदेन्दुकीर्ति ॥११॥
 पट्टे तस्य मुनेरासीद्वर्द्धमानमुनीश्वर ।
 श्रीसिहनन्दियोगिन्द्रचरणाम्भोजपट्पद ॥१२॥
 शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिक ।
 भट्टारकमुनि श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जित ॥१३॥”

इन पद्योमे अभिनव धर्मभूषणकी इस प्रकार गुरुरम्परा बतलाई गई है—

१ इसके आगेके लेखमे १५ पद्य और हैं जिनमे राजवशका ही वर्णन है ।

मूलसङ्घ, नन्दिसङ्घ—वलात्कारगणके सारस्वतगच्छमे
पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य)

|
धर्मभूषण भट्टारक I

|
अमरकीर्ति-आचार्य (जिनके शिष्योंके शिक्षक-दीक्षक
सिहनन्दी व्रती थे)

|
श्रीधर्मभूषण भट्टारक II (सिहनन्दीव्रतीके सधर्मा)

|
वर्द्धमानमुनीश्वर (सिहनन्दीव्रतीके चरणमेवक)

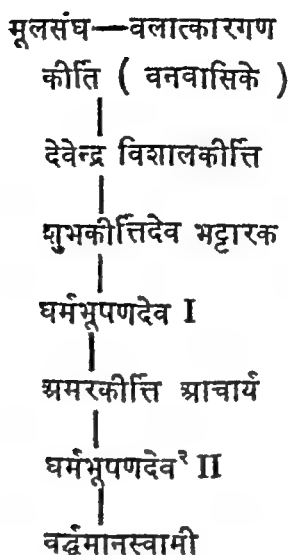
|
धर्मभूषण यति III (ग्रन्थकार)

यह शिलालेख शकसम्बत् १३०७ मे उत्कीर्ण हुआ है। इसी प्रकार का एक शिलालेख न० १११ (२७४) का है जो विन्ध्यगिरि पर्वतके अखण्ड वागिलुके पूर्वकी ओर स्थित चट्टान पर खुदा हुआ है और जो शक सं० १२९५ मे उत्कीर्ण हुआ है। उसमे इस प्रकार परमरा दी गई है —

१ “श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादामोघ-लाञ्छन ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासन जिन-शासन ॥१॥

श्रीमूल-सङ्घपय पयोधिवर्द्धनसुधाकरा श्रीवलात्कारगणकमल-कलिका-
कलाप-विकचन दिवाकरा • वनवा तर्कीर्तिदेव-तत्शिष्या. राय-भुज-
सुदाम • आचार्य महा वादिवादीश्वर राय-वादि-पितामह सकल-
विद्वज्जन-चक्रवर्ति देवेन्द्रविशाल-कीर्ति-देवा. तत्शिष्या. भट्टारक-
श्रीशुभकीर्तिदेवास्तत्शिष्या कलिकाल-सर्वज्ञ-भट्टारक-धर्मभूषणदेवाः
तत्शिष्या श्रीअमरकीर्त्याचार्या तत्शिष्या मालिर्वा • ति-नृपाणा प्रथ-
मानल रसित • नुत-पा • यमुल्लासक •
देमक • “चार्यपट्टविपुलायाचला” • करण-मार्तण्डमण्डलाना भट्टारक-



इस दोनो लेखोको मिलाकर ध्यानसे पढ़नेसे विदित होता है कि प्रथम धर्मभूषण, अमरकीर्ति आचार्य धर्मभूषण द्वितीय और वर्द्धमान ये चार विद्वान् सम्भवतः दोनोंके एक ही हैं। यदि मेरी यह सम्भावना ठीक है तो यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है वह यह कि विन्ध्यगिरिके लेख (शक १२६५) में वर्द्धमानका तो उल्लेख है पर उनके शिष्य (पट्टके उत्तराधिकारी) तृतीय धर्मभूषणका उल्लेख नहीं है। जिससे जान पड़ता है कि उस समय तक तृतीय धर्मभूषण वर्द्धमानके पट्टाधिकारी नहीं बन सके होंगे और इसलिये उक्त शिलालेखमें उनका उल्लेख नहीं आया।

धर्मभूषण-देवाना • ...तत्त्वार्थ-वाद्धिवर्द्धमान-हिमाशुना..... 'वर्द्धमान-स्वामिना कारितोऽह [य] आचार्यणा • स्वस्तिशक-वर्ष १२६५ परि-धावि संवत्सर वैशाख-शुद्ध ३ बुधवारः।"—उद्धृत जैनशि०पृ० २२३ से।

१ प्रो० हीरालालजीने इनकी निषद्या बनवाई जानेका समय शक सम्बत् १२६५ दिया है। देखो, शिलालेखस० पृ० १३६।

किन्तु इस शिलालेखके कोई १२ वर्ष बाद शक स० १३०७ (१३८५ ई०) में उत्कीर्ण हुए विजयनगरके उल्लिखित शिलालेख न० २ में उनका (तृतीय धर्मभूषणका) स्पष्टतया नामोल्लेख है। अतः यह सहजमें अनुमान हो सकता है कि वे अपने गुरु वर्द्धमानके पट्टाधिकारी शक सम्वत् १२६५ से १३०७ में किसी समय वन चुके थे। इस तरह अभिनव धर्मभूषणके साक्षात् गुरु श्रीवर्द्धमानमुनीश्वर और प्रगुरु द्वितीय धर्मभूषण थे। अमरकीर्ति दादागुरु और प्रथमधर्मभूषण परदादा गुरु थे। और इसीसे मेरेत्यालमें उन्होंने अपने इन पूर्ववर्ती पूज्य प्रगुरु (द्वितीय धर्मभूषण) तथा परदादागुरु (प्रथमधर्मभूषण) से पश्चाद्वर्ती एव नया वतलानेके लिये अपनेको अभिनव विशेषणसे विशेषित किया जान पड़ता है जो कुछ हो, यह आवश्यक है कि वे अपने गुरुके प्रभावशाली और मुख्य शिष्य थे।

समय-विचार—

यद्यपि अभिनव धर्मभूषणकी निश्चित तिथि वताना कठिन है तथापि जो आधार प्राप्त हैं उनपरसे उनके समयका लगभग निश्चय होजाता है। अतः यहाँ उनके समयका विचार किया जाता है।

विन्ध्यगिरिका जो शिलालेख प्राप्त है वह शक सम्वत् १२६५ का उत्कीर्ण किया हुआ है। मैं पहले वतला आया हूँ कि इसमें प्रथम और द्वितीय इन दो ही धर्मभूषणोंका उल्लेख है और द्वितीय धर्मभूषणके शिष्य वर्द्धमानका अन्तिमरूपसे उल्लेख है। तृतीय धर्मभूषणका उल्लेख उसमें नहीं पाया जाता। प्रो० हीरालालजी एम ए. के उल्लेखानुसार द्वितीय धर्मभूषणकी निपट्या (नि सही) शकस० १२६५ में वनवाई गई है। अतः द्वितीय धर्मभूषणका अस्तित्वसमय शकस० १२६५ तक ही समझना चाहिए। मेरा अनुमान है कि केशववर्णीको अपनी गोम्मटसार की जीवतत्वप्रदीपिका टीका बनानेकी प्रेरणा एव आदेश जिन धर्मभूषणसे मिला वे धर्मभूषण भी यही द्वितीय धर्मभूषण होना चाहिये। क्योंकि इनके

पट्टका समय यदि २५ वर्ष भी हो तो इनका पट्टपर बैठने का समय शक स० १२७० के लगभग पहुँच जाता है उस समय या उसके उपरान्त केशववर्णी को उपर्युक्त टीकाके लिखने में उनसे आदेश एव प्रेरणा मिलना असम्भव नहीं है। चूँकि केशववर्णीने अपनी उक्त टीका शकस० १२८१ में पूर्ण की है। अतः उस जैसी विशाल टीकाके लिखनेके लिए ११ वर्ष जितना समय का लगना भी आवश्यक एव सङ्गत है। प्रथम व तृतीय धर्मभूषण केशववर्णीके टीकाप्रेरक प्रतीत नहीं होते। क्योंकि तृतीय धर्मभूषण जीवतत्त्वप्रदीपिकाके समाप्ति काल (शक० १२८१) से करीब १६ वर्ष बाद गुरुपट्ट के अधिकारी हुए जान पड़ते हैं और उस समय वे प्रायः २० वर्ष के होंगे अतः जी० त० प्र० के रचनारम्भसमय-में तो उनका अस्तित्व ही नहीं होगा तब वे केशववर्णीके टीका-प्रेरक कैसे हो सकते ? और प्रथम धर्मभूषण भी उनके टीकाप्रेरक सम्भव प्रतीत नहीं होते। कारण, उनके पट्टपर अमरकीर्ति और अमरकीर्तिके पट्टपर द्वितीय धर्मभूषण (शक १२७०-१२६५) बैठे हैं। अतः अमरकीर्तिका पट्टसमय अनुमानतः शकस० १२४५-१२७० और प्रथम धर्मभूषणका शकस० १२२०-१२४५ होता है। ऐसी हालतमें यह सम्भव नहीं है कि प्रथम धर्मभूषण शकस १२२०-१२४५ में केशववर्णीको जीवतत्त्वप्रदीपिकाके लिखने का आदेश दें और वे ६१ या ३६ वर्षों जैसे इतने बड़े लम्बे समय में उसे पूर्ण करें। अतएव यही प्रतीत होता है कि द्वितीय धर्मभूषण (शक० १२७०-१२६५) ही केशववर्णी (शक० १२८१) के उक्त टीकाके लिखनेमें प्रेरक रहे हैं। अस्तु।

पीछे मैं यह निर्देश कर आया हूँ कि तृतीय धर्मभूषण (ग्रन्थकार) शकस० १२६५ में और शकस० १३०७ के मध्यमें किसी समय अपने वर्द्धमानगुरुके पट्टपर आसीन हुए हैं। अतः यदि वे पट्टपर बैठने के समय (करीब शक १३०० में) २० वर्ष के हो, जैसा कि सम्भव है तो उनका जन्मसमय शकस० १२८० (१३५८ ई०) के करीब होना चाहिए। विजय-

नगर साम्राज्यके स्वामी प्रथम देवराय और उनकी पत्नी भीमादेवी जिन वर्द्धमानगुरुके शिष्य धर्मभूषणके परम भक्त थे और जिन्हें अपना गुरु मानते थे तथा जिनसे प्रभावित होकर जैनधर्मकी अतिशय प्रभावनामें प्रवृत्त रहते थे वे यही तृतीय धर्मभूषण न्यायदीपिकाकार हैं। पद्मावती-वस्तीके एक लेखसे ज्ञात होता है कि “राजाधिराजपरमेश्वर देवराय प्रथम वर्द्धमानमुनिके शिष्य धर्मभूषण गुरुके, जो बड़े विद्वान् थे, चरणों में गमस्कार किया करते थे।” इसी बातका समर्थन शकस० १४४० में अपने ‘दणभक्त्यादिमहाशास्त्र’ को समाप्त करनेवाले कवि वर्द्धमानमुनीन्द्रके इसी ग्रन्थगत निम्न श्लोकसे भी होता है —

“राजाधिराजपरमेश्वरदेवरायभूपालमौलिलसदघ्निसरोजयुग्म ।

श्रीवर्द्धमानमुनिवल्लभमौढ्यमुख्य श्रीधर्मभूषणमुखी जयति क्षमाढ्य १ ॥”

यह प्रसिद्ध है कि विजयनगरनरेश प्रथम देवराय ही ‘राजाधिराजपरमेश्वर’ की उपाधि से भूषित थे^१। इनका राज्य समय सम्भवत १४१८ ई० तक रहा है क्योंकि द्वितीय देवराय ई० १४१९ से १४४६ तक माने जाते हैं^२। अतः इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि वर्द्धमानके शिष्य धर्मभूषण तृतीय (ग्रन्थकार) ही देवराय प्रथमके द्वारा सम्मानित थे^३। प्रथम अथवा द्वितीय धर्मभूषण नहीं, क्योंकि वे वर्द्धमानके शिष्य

१ प्रशस्तिस० पृ० १२५ से उद्धृत। २-३ देखो, डा० भास्कर आनन्द सालेतोरका ‘Mediaeval Jainism’ P 300-301। मालूम नहीं डा० सा० ने द्वितीय देवराय (१४१९-१४४६ ई०) की तरह प्रथम देवरायके समय का निर्देश क्यों नहीं किया? ४ डा० सालेतोर दो ही धर्मभूषण मानते हैं और उनमें प्रथम का समय १३७८ ई० और दूसरे का ई० १४०३ बताते हैं तथा वे इस भ्रमे में पड़ गए हैं कि कौन से धर्मभूषण का सम्मान देवराय प्रथमके द्वारा हुआ था? (देखो, मिडियावल जैनज्म पृ० ३००)। मालूम होता है कि उन्हें विजयनगर का

नहीं थे । प्रथम धर्मभूषणतो शुभकीर्तिके और द्वितीय धर्मभूषण अमर-
कीर्तिके शिष्य थे । अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभि-
नव धर्मभूषण देवरायप्रथमके समकालीन हैं । अर्थात् ग्रन्थकारका अन्तिम-
काल ई० १४१८ होना चाहिये । यदि यह मान लिया जाय तो उनका
जीवनकाल ई० १३५८से१४१८ ई० तक समझना चाहिये । अभिनव
धर्मभूषण जैसे प्रभावशाली विद्वान् जैन साधुके लिये ६० वर्ष की उम्र
पाना कोई ज्यादा नहीं है । हमारी सम्भावना यह भी है कि वे देवराय
द्वितीय' (१४१६-१४४६ ई०) और उनके श्रेष्ठि सकप्पके द्वारा भी
प्रणुत रहे हैं । हो सकता है कि ये अन्य धर्मभूषण हो, जो हो, इतना
अवश्य है कि वे देवराय प्रथमके समकालिक निश्चितरूपसे हैं ।

ग्रन्थकारने न्यायदीपिका (पृ० २१) में 'वालिसा' शब्दोंके साथ सायण-
के सर्वदर्शनसंग्रहमें एक पंक्ति उद्धृत की है । सायणका समय शकस० की
१३वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है । क्योंकि शकस० १३१२-
का उनका एक दानपत्र मिला है जिसमें वे इसी समयके विद्वान् ठहरते हैं ।
न्यायदीपिकाकारका 'वालिसा' पदका प्रयोग उन्हें सायणके समकालीन
होनेकी ओर संकेत करता है । साथ ही दोनों विद्वान् नजदीक ही नहीं,
एक ही जगह—विजयनगरके रहनेवाले, भी थे इसलिए यह पूरा सम्भव
है कि धर्मभूषण और सायण समसामयिक होंगे । या १०-५ वर्षआगे
पीछेके होंगे । अतः न्यायदीपिकाके इस उल्लेखसे भी पूर्वोक्त निर्धारित
शकस० १२८०से१३४० या १३५८से१४१८ समय ही सिद्ध पूर्वोक्त

शिलालेख न० २ आदि प्राप्त नहीं हो सका । अन्यथा वे इस निष्कर्षपर
न पहुँचते ।

प्रशस्ति सं० पृ० १४५ में इनका समय ई० १४२६-१४५१ दिया है ।
२ इसके लिये जैनसिद्धान्तभवन आरासे प्रकाशित प्रशस्ति सं० में परिचय
कराये गये वर्द्धमान मुनीन्द्र 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' देखना चाहिये ।
३ देखो, सर्वदर्शनसंग्रहकी प्रस्तावना पृ० ३२ ।

होता है। अर्थात् ये ईसाकी १४ वीं सदीके उत्तरार्ध और १५वीं सदीके प्रथम पादके विद्वान् हैं।

डा० के० वी० पाठक और मुस्तार सा० इन्हें अकत० १३०७ (ई० १३८५) का विद्वान् बतलाते हैं जो विजयनगरके पूर्वोक्त शिलालेख न० २ के अनुसार सामान्यता ठीक है। परन्तु उपर्युक्त विशेष विचारसे ई० १४१८ तक इनकी उत्तरावधि निश्चित होती है। डा० मतीशचन्द्र विद्याभूषण 'हिस्टरी आफ दि मिडियावल स्कूल ऑफ इंडियन लॉजिक' में इन्हें १६०० A D का विद्वान् सूचित करते हैं। पर वह ठीक नहीं है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचनसे प्रकट है। मुस्तारना० ने भी उनके इस समयको गलत ठहराया है।

आचार्य धर्मभूषणके प्रभाव एवं व्यक्तित्वमूचक जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे मालूम होता है कि वे अपने समय के सबसे बड़े प्रभावक और व्यक्तित्वशाली जैनगुरु थे। प्रथम देवराय, जिन्हें राजाधिराजपरमेश्वरकी उपाधि थी, धर्मभूषणके चरणोंमें मस्तक भुकाया करते थे। पद्मावतीवस्ती के शासनलेखमें उन्हें बड़ा विद्वान् एवं वक्ता प्रकट किया गया है। माय में मुनियों और राजाओंमें पूजित बतलाया है। इन्होंने विजयनगरके राजघरानेमें जैनधर्मकी अतिशय प्रभावनाकी है। मैं तो समझता हूँ कि इस राजघराने में जैनधर्मकी महती प्रतिष्ठा हुई उसका विशेष श्रेय इन्हीं अभिनव धर्मभूषणजीको है जिनकी विद्वत्ता और प्रभावके सब कायल थे। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार असाधारण प्रभावशाली व्यक्ति थे।

जैनधर्मकी प्रभावना करना उनके जीवनका व्रत था ही, किन्तु ग्रन्थ-रचनाकार्य भी उन्होंने अपनी अनोखी शक्ति और विद्वत्ताका बहुत ही सुन्दर उपयोग किया है। आज हमें उनकी एक ही अमर रचना प्राप्त है और वह अकेली यही प्रस्तुत न्यायदीपिका है। जो जैनन्यायके वाङ्मयमें अपना विशिष्ट स्थान रखे हुए है और ग्रन्थकारकी घबलकीर्तिको अक्षुण्ण

बनाये हुए है। उनकी विद्वत्ताका प्रतिबिम्ब उसमे स्पष्टतया आलोकित हो रहा है। इसके सिवाय उन्होंने और भी कोई रचना की या नहीं इसका कुछ भी पता नहीं चलता है। पर मैं एक सम्भावना पहिले कर आया हूँ कि इस ग्रन्थका इस प्रकारसे उल्लेख किया है कि जिससे लगता है कि ग्रन्थकार अपनी ही दूसरी रचनाको देखनेका इङ्गित कर रहे हैं। यदि सचमुचमे यह ग्रन्थ ग्रन्थकारकी रचना है तो मालूम होता है कि वह न्याय-दीपिकासे भी अधिक विशिष्ट एव महत्वपूर्ण ग्रन्थ होगा। श्रन्वेपकोको इस महत्वपूर्ण ग्रन्थका अवश्य ही पता चलना चाहिए।

ग्रन्थकारके प्रभाव और कार्यक्षेत्रसे यह भी प्रायः मालूम होता है कि उन्होंने कर्णाटकदेशके उपर्युक्त विजयनगरको ही अपनी जन्म-भूमि बनायी होगी और वही उनका शरीर त्याग एव समाधि हुई होगी। क्योंकि वे गुरु परम्परासे चले आये विजयनगरके भट्टारकी पट्टपर आसीन हुए थे। यदि यह ठीक है तो कहना होगा कि उनके जन्म और समाधिका स्थान भी विजयनगर है।

उपसंहार

इस प्रकार ग्रन्थकार अभिनव धर्मभूषण और उनकी प्रस्तुत अमर कृतिके सम्बन्धमे ऐतिहासिक दृष्टिसे दो शब्द लिखनेका प्रथम साहस किया। इतिहास एक ऐसा विषय है जिसमे चिन्तनकी आवश्यकता हमेशा बनी रहती है और इसीलिये सच्चा ऐतिहासिक अपने कथन एव विचारको अन्तिम नहीं मानता। इसलिये सम्भव है कि धर्मभूषणजीके ऐतिहासिक जीवनपरिचयमे अभी परिपूर्णता न आ पाई हो। फिर भी उपलब्ध साधनोपरसे जो निष्कर्ष निकाले जा सके हैं उन्हें विद्वानोके समक्ष विशेष विचारके लिये प्रस्तुत किया है। इत्यलम्।

चैत्र कृष्ण १० वि० २००२ }
ता० ७-४-४५, देहली }

दरबारीलाल जैन, कोठिया

विषय-सूची



विषय	पृष्ठ	संस्कृत	हिन्दी
१. प्रथम-प्रकाश			
१ मगलाचरण और ग्रन्थप्रतिज्ञा	१		१३५
२ प्रमाण और नयके विवेचन की भूमिका	४		१३८
३ उद्देशादिरूपसे ग्रन्थकी प्रवृत्तिका कथन	५		१३९
४ प्रमाणके सामान्यलक्षणका कथन	६		१४४
५ प्रमाणके प्रामाण्यका कथन	१४		१४९
६ बौद्धके प्रमाण-लक्षण की परीक्षा	१८		१५३
७ भाट्टोके प्रमाण-लक्षणकी परीक्षा	१८		१५३
८ प्राभाकरोके प्रमाण-लक्षणकी परीक्षा	१९		१५४
९ नैयायिकोके प्रमाण-लक्षणकी परीक्षा	२०		१५४
२ द्वितीय-प्रकाश			
१० प्रमाणके भेद और प्रत्यक्षका लक्षण	२३		१५६
११ बौद्धोके प्रत्यक्ष-लक्षणका निराकरण	२५		१५७
१२ यौगाभिमत सन्निकर्षका निराकरण	२६		१६०
१३ प्रत्यक्षके दो भेद करके साव्यवहारिक प्रत्यक्षका लक्षण और उसके भेदो का निरूपण	३१		१६२
१४ पारमार्थिक प्रत्यक्षका लक्षण और उसके भेदोका कथन	३४		१६४
१५. अवधि आदि तीनो ज्ञानोको अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष न हो सकनेकी शङ्का और समाधान	३७		१६६

विषय	पृष्ठ	
१६ प्रसङ्गवश शङ्का-समाधानपूर्वक सर्वज्ञकी सिद्धि	४१	१६८
१७ सामान्यसे सर्वज्ञको सिद्ध करके अर्हन्तमे सर्वज्ञताकी सिद्धि	४४	१७०
३ तृतीय-प्रकाश		
१८. परोक्ष प्रमाणका लक्षण	५१	१७३
१९ परोक्ष प्रमाणके भेद और उनमे ज्ञानान्तर की सापेक्षता का कथन	५३	१७४
२० प्रथमतः उद्दिष्ट स्मृतिका निरूपण	५३	१७४
२१ प्रत्यभिज्ञानका लक्षण और उसके भेदोका निरूपण	५६	१७६
२२ तर्क प्रमाणका निरूपण	६२	१७९
२३. अनुमान प्रमाण का निरूपण	६५	१८२
२४. साधनका लक्षण	६९	१८४
२५ साध्यका लक्षण	६९	१८४
२६ अनुमानके दो भेद और स्वार्थानुमानका निरूपण	७१	१८६
२७. स्वार्थानुमानके अङ्गोका कथन	७२	१८६
२८. धर्मीकी तीन प्रकारसे प्रसिद्धिका निरूपण	७३	१८७
२९ परार्थानुमानका निरूपण	७५	१८९
३०. परार्थानुमानकी अङ्गसम्पत्ति और उसके अवयवोका प्रतिपादन	७६	१९०
३१ नैयायिकाभिमत पाँच अवयवोका निराकरण	७७	१९०
३२ विजिगीषुकथामे प्रतिज्ञा और हेतुरूप दो ही अवयवोकी सार्थकताका कथन	७९	१९२

विषय		पृष्ठ
३३ वीतरागकथामे अधिक अवयवोंके बोले जानेके औचित्यका समर्थन	८२	१६४
३४ बौद्धोंके त्रैरूप्य हेतुका निराकरण	८३	१६४
३५ नैयायिकसम्मत पाँचरूप्य हेतुका कथन और उसका निराकरण	८४	१६६
३६. अन्यथानुपपत्तिको ही हेतु-लक्षण होनेकी सिद्धि	६४	२०४
३७ हेतुके भेदों और उपभेदों का कथन	६५	२०५
३८ हेतुभासका लक्षण और उनके भेद	६६	२०६
३९ उदाहरणका निरूपण	१०३	२१२
४० उदाहरणके प्रसङ्गसे उदाहरणभासका कथन	१०५	२१३
४१ उपनय, निगमन और उपनयाभास तथा निगमनाभासके लक्षण	१११	२१७
४२ आगम प्रमाणका लक्षण	२१२	२१७
४३. आप्तका लक्षण	११३	२१८
४४ अर्थका लक्षण और उसका विगेष कथन	११६	२२०
४५. सत्त्वके दो भेद और दोनोंमें अनेकान्तात्मकताका कथन	१२२	२२३
४६ नयका लक्षण, उसके भेद और सप्तभङ्गी का प्रतिपादन	१२५	२२५
४७ ग्रन्थकार का अन्तिम निवेदन	१३२	२३०



श्रीसर्मन्तभद्राय नमः

श्रीमदभिनव-धर्मभूषण-यति-विरचिता

— ०. —

न्याय-दीपिका

[प्रकाशाख्यटिप्पणोपेता]

१. प्रमाणसामान्यप्रकाशः

— ❀ —

'श्रीवर्द्धमानमर्हन्तं नत्वा बाल-प्रबुद्धये ।

विरच्यते मित-स्पष्ट-सन्दर्भ-न्यायदीपिका ॥१॥

❀ प्रकाशाख्य-टिप्पणम् ❀

महावीर जिन नत्वा बालानां सुख-बुद्धये ।

'दीपिकाया' विशेषार्थं 'प्रकाशेन' प्रकाश्यते ॥१॥

१ प्रकरणारम्भे, स्वकृतेनिर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थम्, शिष्टाचारपरिपाल-
नार्थम्, शिष्यशिक्षार्थम्, नास्तिकनापरिहारार्थम्, कृतज्ञताप्रकाशनार्थं वा
प्रकरणकार श्रीमदभिनवधर्मभूषणनामा यति स्वेष्टदेवतानमस्कारात्मक
मङ्गल विदधाति—श्रीवर्द्धमानेति ।

श्रीवर्द्धमानमहन्त चतुर्विंशतितम तीर्थकर महावीरम् । अथवा, श्रिया
—अनन्तचतुष्टयस्वरूपान्तरङ्गलक्षणया समवसरणादिवहिरङ्गस्वभावया
च लक्ष्म्या—, वर्द्धमान—वृद्धे परमप्रकर्षं प्राप्त, अर्हन् परमार्हत्समूह-
स्तम् । नत्वा नमस्कृत्य, कायवाङ्मनसा त्रिशुद्ध्या प्रणम्येत्यर्थः । बालानां
मन्दबुद्धीनाम् । बालास्त्रिविधा प्रोक्ता—मतिकृता, कालकृता, शरीर-
परिमाणकृताश्चेति । तत्रेह मतिकृता बाला गृह्यन्ते नान्ये, तेषा व्यभिचारात् ।
कश्चिदष्टवर्षीयोऽपि निखिलज्ञानसयमोपपन्न सर्वज्ञ, कुब्जको वा सकल-
शास्त्रज्ञो भवति । न च तौ व्युत्पाद्यौ । अथ मतिकृता अपि बाला किल-
क्षणा इति चेत्, उच्यते, अव्युत्पन्न-सदिग्ध-विपर्यस्तास्तत्त्वज्ञानरहिता
बाला । अथवा, ये यत्रानभिज्ञास्ते तत्र बाला । अथवा, ग्रहणधारणपटवो
बाला, न स्तनन्वया । अथवा, अघीतव्याकरण-काव्य-कोशा अनघीत-
न्यायशास्त्रा बाला । तेषा प्रबुद्धये प्रकर्षेण सशयादिव्यवच्छेदेन बोधा-
र्थम् । मितो मानयुक्त परिमितो वा । स्पष्टो व्यक्त । सन्दर्भो रचना
यस्या सा चासौ 'न्यायदीपिका'—प्रमाण-नयात्मको न्यायस्तस्य दीपिका
प्रकाशिका । समासतो न्यायस्वरूपव्युत्पादनपरो ग्रन्थो 'न्यायदीपिका' इति
भावः । विरच्यते मया धर्मभूषणयतिना इति क्रियाकारकसम्बन्धः ।

ननु मङ्गल न करणीय निष्फलत्वात् । न हि तस्य किञ्चित्फलमुप-
लभ्यते । न च निर्विघ्नपरिसमाप्तिस्तत्फलमुपलभ्यत एवेति वाच्यम् समा-
प्तेर्मङ्गलफलत्वानुपपत्तेः । तथा हि—मङ्गल समाप्तिं प्रति न कारणम्,
अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचाराभ्याम् । सर्वत्र ह्यन्वयव्यतिरेकविधया कार्य-
कारणभावः समधिगम्यते । कारणसत्त्वे कार्यसत्त्वमन्वयः, कारणभावे
कार्याभावो व्यतिरेकः । न चेमा प्रकृते सम्भवतः, मङ्गलसत्त्वेऽपि साक्ष्यमार्ग-
प्रकाशादौ समाप्त्यदर्शनात् । मङ्गलाभावेऽपि च परीक्षामुखादौ समाप्ति-
दर्शनात् । अतोऽन्वयव्यभिचारो व्यतिरेकव्यभिचारश्च । कारणसत्त्वे कार्या-
सत्त्वमन्वयव्यभिचारः । कारणभावे कार्यसत्त्व च व्यतिरेकव्यभिचार इति न
चेतसि विधेयम्, मङ्गलस्य सफलत्वसिद्धे निष्फलत्वानुपपत्तेः । तद्यथा—

मङ्गल सफलम् शिष्टाचारविषयत्वात् इत्यनुमानेन मङ्गलस्य साफल्य-
सिद्धे, तच्च फल ग्रन्थारम्भे कर्तुर्हृदि 'प्रारब्धमिदं कार्यं निर्विघ्नतया परि-
समाप्यताम्' इति कामनाया अवश्यम्भावित्वात्—निर्विघ्नसमाप्ति कल्प्यते ।
यच्चोक्तम्—अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचाराभ्यामिति, तदयुक्तम्, मोक्षमार्ग-
प्रकाशादौ विघ्नबाहुल्येन मङ्गलस्य च न्यूनत्वेन समाप्त्यदर्शनात् । प्रचुर-
स्यैव हि मङ्गलस्य प्रचुरविघ्ननिराकरणकारणत्वम् । किञ्च, यावत्साधन-
सामर्थ्यभावान्न तत्र समाप्तिदर्शनम् । 'सामग्री जनिका हि कार्यस्य नैक
कारणम्' इति । तथा चोक्तं श्रीवादिराजाचार्यैः—समग्रस्यैव हेतुत्वात् ।
असमग्रस्य व्यभिचारेऽपि दोषाभावात् । अन्यथा न पावकस्यापि धूमहेतु-
त्वमार्द्रैन्धनादिविकलस्य व्यभिचारात् । तस्मात्—

आर्द्रैन्धनादिसहकारिसमग्रतायां
यद्वत्करोति नियमादिह धूममग्नि ।
तद्वद्विशुद्धचतिशयादिसमग्रताया
निर्विघ्नतादि विदधाति जिर्नस्तवोऽपि ॥'

—न्यायविनिश्चयवि० लि० प० २

अतो मोक्षमार्गप्रकाशादौ कारणान्तराभावान्न परिसमाप्ति । ततो
नान्वयव्यभिचार । नापि परीक्षामुखादौ व्यतिरेकव्यभिचार, तत्र वाचि-
कस्य निवद्धरूपस्य मङ्गलस्याकरणेऽप्यनिवद्धस्य वाचिकस्य मानसिकस्य
कायिकस्य वा तस्य सम्भवात् । मङ्गलं हि मनोवच कायभेदात् त्रिधा
भिद्यते । वाचिकमपि निवद्धाऽनिवद्धरूपेण द्विविधम् । यत्तैरेवोक्तम्—
'नाप्यसति तस्मिन् तद्भवस्तस्य निवद्धस्याभावेऽप्यनिवद्धस्य तस्य परमगुरु-
गुणानुस्मरणात्मनो मङ्गलस्यावश्यम्भावात् तदस्तित्वस्य च तत्कायदेवानु-
मानात् । धूमादे प्रदेशादिव्यवहितपावकाद्यनुमानवत् । मङ्गलसामग्रीवैक-
ल्यस्य च क्वचित्तत्कार्यस्य वैकल्यादेवानुमानाद्धूमाभावात् तदुत्पादनसमर्थ-
दहनाभावानुमानवत् ।'—न्यायविनिश्चयवि लि प २ । विद्यानन्दस्वामि-
भिरप्युक्तम्—'तस्य (मङ्गलस्य) शास्त्रे निवद्धस्यानिवद्धस्य वा वाचिकस्य

[प्रमाण-नय-विवेचनस्य पीठिका]

§ १ “प्रमाणनयैरधिगमा” इति महाशास्त्रतत्त्वार्थसूत्रम्^१
[१-६] । तत्त्वलु परमपुरुषार्थ^२ निःश्रेयससाधनसम्यग्दर्शनादि^३-
विषयभूतजीवादि^४ तत्त्वाधिगमोपायनिरूपणपरम् । प्रमाणानया-
भ्या हि^५ विवेचिता^६ जीवादयः सम्यग्धिगम्यन्ते^७ । तद्व्यतिरेकेण^८
जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात्^९ । तत्^{१०} एव जीवाद्यधिग-
मोपायभूतौ प्रमाणनयावपि विवेक्तव्यौ^{११} । तद्विवेचनपरा^{१२}
प्राक्तनग्रन्था^{१३} सन्त्येव, तथापि ते^{१४} केचिद्विस्तृताः^{१५}, केचिद्

मानसस्य वा विस्तरतः सक्षेपतो वा शास्त्रकारैरेव व्यवहृताः । तदकरणे
तेषां तत्कृतोपकारविस्मरणादनावृत्त्वप्रसङ्गात् । सायूना कृतस्योपकारस्या-
विस्मरणप्रसिद्धे । ‘न हि कृतमुपकारसायवो विस्मरन्ति’ इति वचनात् ।
—आप्तपरी०^१ पृ० ३ । परमेष्ठिगुणस्तोत्ररूपस्य मङ्गलस्य पुण्यावाप्तिरवर्म-
प्रध्वंसफलमिति तु तत्त्वम् । अतो ग्रन्थादौ मङ्गलमवश्यमाचरणीयमिति ।

१ मोक्षशास्त्रापरनामधेयम् । २ सूत्रम् । ३ चत्वारः पुरुषार्थाः—
वैमर्त्यकाममोक्षाः, तेषु परमपुरुषार्थो मोक्षः, स एव निःश्रेयसमित्युच्यते ।
सकलप्राणिभिर्मुख्यसाध्यत्वेनाभीष्टत्वान्मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वमिति
भावः । ४ आदिपदात्सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्र्यचगृह्येते । ५ अत्रादि-
पदेनाऽजीवास्तववन्वसवरनिर्जरामोक्षतत्त्वानि गृहीतव्यानि । ६ पृथक्कृता
विश्लेषिता इत्यर्थः । ७ जायन्ते । ८ प्रमाणनयाभ्यां विना । ९ प्रमाण-
नयातिरिक्ततृतीयादिप्रकारस्याभावात् । १० प्रकारान्तरासम्भवादेव ।
११ व्याख्यातव्यौ । १२ प्रमाणनयव्याख्यानतत्परा । १३ अकलङ्कादि-
प्रणीता न्यायविनिश्चयादयः । १४ प्रमेयकमलमार्तण्ड-न्यायकुमुद-

१ द आ प्रत्यो ‘हि’ पाठो नास्ति । २ प म मु प्रतिषु ‘ते’ पाठो नास्ति ।

गम्भीरा' इति न तत्र वालाना^३मधिकार^१ । ततस्तेषा सुखो-
पायेन^५ प्रमाण-नयात्मकन्याय^४स्वरूपप्रतिबोधकशास्त्राधिकार-
सम्पत्तये 'प्रकरणमिदमारभ्यते ।

[त्रिविधाया प्रकरणप्रवृत्ते कथनम्]

§ २ उह^२ हि प्रमाण-नयविवेचनमुद्देश-लक्षणनिर्देश-परीक्षा-
द्वारेण^६ क्रियते । अनुद्दिष्टस्य^७ लक्षणनिर्देशानुपपत्ते । अनिर्दिष्ट-
लक्षणस्य परीक्षितुमशक्यत्वात् । अपरीक्षितस्य विवेचनायोगात् ।
लोकशास्त्रयोरपि तथैव^{१०} वस्तुविवेचनप्रसिद्धे ।

§ ३ तत्र^{११} विवेक्तव्यनाममात्रकथन^{१२}मुद्देश । व्यतिकीर्ण-

चन्द्र-न्यायविनिश्चयविवरणादय ।

१ न्यायविनिश्चय-प्रमाणसंग्रहलोकवार्त्तिकादय । २ प्रोक्तलक्ष-
णानाम् । ३ प्रवेश । ४ अक्लेशेन । ५ निपूर्वादिणगतावित्यस्माद्धातो
करणे घञ्प्रत्यये सति न्यायशब्दसिद्धिः, नितरामियते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति
न्यायः, अर्थपरिच्छेदकोपायो न्याय इत्यर्थः । स च प्रमाण-नयात्मक एव
'प्रमाणनयैरधिगम' इत्यभिहितत्वादिति, लक्षण-प्रमाण-नय-निक्षेप-
चतुष्टयात्मको न्याय इति च । लक्षण-प्रमाणाभ्यामर्थसिद्धिरित्यतो लक्ष-
णप्रमाणे न्याय इत्यन्ये । प्रमाणैरर्थपरीक्षण न्याय इत्येके । पञ्चा-
वयववाक्यप्रयोगो न्याय इत्यपि केचित् । ६ न्यायदीपिकाख्यम् । ७ अत्र
प्रकरणे । ८ अत्रेद वोध्यम्—उद्देशस्य प्रयोजन विवेचनीयस्य वस्तुन
परिज्ञानम् । लक्षणस्य व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा प्रयोजनम् । परीक्षायाश्च
लक्षणे दोषपरिहार प्रयोजनम् । अत एव शास्त्रकारा उद्देशलक्षण-
निर्देश-परीक्षाभिः शास्त्रप्रवृत्तिं कुर्वाणा दृष्टा । ९ अकृतोद्देशस्य
पदार्थस्य । १० उद्देशादिद्वारेण । ११ उद्देशादिषु मध्ये । १२ विवेचन-

वस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्' । तदाहुर्वार्त्तिककारपादाः^१ "परस्पर-
व्यतिकरे^२ सति येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्" [तत्त्वार्थ-
वा० २-८] इति ।

§ ४ द्विविधः १ लक्षणम्^३, आत्मभूतमनात्मभूतं चेति । तत्र^४
यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम्^५, यथाऽग्नेरौष्ण्यम् । औष्ण्यं
ह्यग्नेः स्वरूपं ३ सदग्निमवादिभ्यो^६ व्यावर्त्तयति । 'तद्विपरीतम-
नात्मभूतम्^७, यथा दण्डः पुरुषस्य । दण्डिनमानयेत्युक्ते हि दण्ड
पुरुषाननुप्रविष्ट एव पुरुषः^८ व्यावर्त्तयति । ५ यद्भाष्यम् "तत्रात्म-

योग्यस्य नाममात्रनिरूपणम्, यथा घटविवेचनप्रारब्धे घट एव विवेक्तव्यो
भवति ।

१ परस्परमिलिताना वस्तूना व्यावृत्तिजनकं यत् तल्लक्षणमिति
भावः । अत्र लक्षणं लक्ष्यं, शेषं तस्य लक्षणम् । २ तत्त्वार्थवार्त्तिककारा
श्रीमद्भट्टकलङ्कदेवाः । "पादा भट्टारको देवः प्रयोज्याः पूज्यनामतः ।"
आ० प० १ । ३ समानवर्मावारतया परस्परविषयगमनं व्यतिकर इति,
एव यत्रान्योन्यव्यतिकरे सति, इति भावः । ४ परस्परमिलितपदार्थव्या-
वृत्तिकारकेण । ५ तयोर्मध्ये । ६ कथंचिद्विष्वक्भावात्यतादात्म्यसम्बन्धा-
वच्छिन्नधर्मस्यात्मभूतलक्षणत्वम् । ७ जलादिभ्यः । ८ यद्वस्तुस्वरूपानु-
प्रविष्टं तदनात्मभूतम् । भवति हि दण्डः पुरुषस्य लक्षणम्, न च
नाऽऽत्मभूतः, पुरुषादन्यत्राऽप्युपलभ्यमानत्वात् । अत एवात्मभूतलक्षणाद-
नात्मभूतलक्षणस्य भेदः । ९ कथञ्चिद्विष्वक्भावात्यसयोगादिसम्बन्धा-
वच्छिन्नस्यानात्मभूतलक्षणत्वम् । १० अदण्डिनः सकाशात् पृथक्करोति ।

१ 'तद्विविधम्' इति आ प्रतिपाठः । २ 'लक्षण' इति पाठः आ प्रतौ
नास्ति । ४ 'चेति' द प्रतौ पाठः । ३, ५ 'तद्' म प मु प्रतिषु पाठः ।

भूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूत देवदत्तस्य दण्डः” [राजवा० भा० २-८]
इति ।

§ ५ ‘असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्’ इति केचित्^१, तदनुप-
न्नम्^२, लक्ष्यधर्मवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभा-
वप्रसङ्गात्^३, दण्डादेरतद्धर्मस्यापि^४ लक्षणत्वाच्च । किञ्चाव्या-
प्ताभिधानस्य लक्षणाभासस्यापि^५ तथात्वात्^६ । तथा हि—त्रयो
लक्षणाभासभेदाः, अव्याप्तमतिव्याप्तमसम्भवि चेति । तत्र लक्ष्यै-
कदेशवृत्त्यव्याप्तम्, यथा गो शावलेयत्वम् ।^७ लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यति-
व्याप्तम्, यथा तस्यैव पशुत्वम् । बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि, यथा
नरस्य विषाणित्वम् । अत्र हि लक्ष्यैकदेशवृत्तिन^८ पुनरव्याप्तस्या-

१ नैयायिका, हेमचन्द्राचार्या वा । २ तदयुक्तम्, सदोपत्वात् । अत्र
हि लक्षणस्य लक्षणे त्रयो दोषा सम्भवन्ति—अव्याप्तिरतिव्याप्तिर-
सम्भवश्चेति । तत्र लक्ष्यधर्मवचनादिनाऽसम्भवो दोष उक्तः । दण्डादेरि-
त्यादिनाऽव्याप्तिः प्रदर्शिता । किञ्चेत्यादिना चातिव्याप्तिः कथिता ।
एतच्च परिशिष्टे स्पष्टम् । अत्रासाधारणत्व तदितरावृत्तित्वं ग्राह्यम्,
लक्ष्येतरावृत्तित्वमित्यर्थः । ३ सामानाधिकरण्यं द्विधा—आर्थं शाब्दञ्च ।
तत्रैकाधिकरणवृत्तित्वमर्थम्, यथा रूपरसयोः । शाब्दं त्वेकार्थप्रतिपाद-
कत्वे सति समानविभक्तिकत्वं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामेकस्मिन्नर्थे वृत्ति-
त्वरूपं वा, यथा नील कमलमित्यत्र । प्रकृते शाब्दं सामानाधिकरण्यं
ग्राह्यं वचनशब्दप्रयोगात् । वचनेन हि वचनस्य शाब्द-सामानाधिकरण्यम् ।
तच्चासाधारणधर्मवचनस्य लक्षणत्वेऽसम्भवि । शेषं परिशिष्टे दृष्टव्यम् ।
४ पुरुषानसाधारणधर्मस्यापि—दण्डादिर्न पुरुषस्यासाधारणधर्मस्तथापि
लक्षणं भवतीति भावः । ५ सदोपलक्षणं लक्षणाभासम् । ६ असाधारण-
धर्मत्वात् । ७ यस्य लक्षणं क्रियते तल्लक्ष्यं तद्भिन्नमलक्ष्यं ज्ञेयम् ।

१ ‘असाधारणधर्मो लक्षणम्’ इति म प प्रत्यो पाठः ।

साधारणधर्मत्वमस्ति, न तु लक्ष्यभूत^१गोमात्र^२ व्यावर्तकत्वेम् । तस्माद्यथोक्तमेव^३ लक्षणम्, तस्य कथन लक्षणनिर्देश ।

§ ६ विरुद्धनानायुक्तिप्रावल्यदीर्घल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचार. परीक्षा^४ । सा खल्वेव चेदेव स्यादेव चेदेव न स्यादित्येव^५ प्रवर्तते ।

§ ७ प्रमाणनययोरप्युद्देश. सूत्र^६ एव कृत । लक्षणमिदानीं निर्देष्टव्यम् । परीक्षा च 'यथौचित्य^३ भविष्यति । 'उद्देशानुसारेण^४ लक्षणकथनम्' इति न्यायात्प्रधानत्वेन^५ प्रथमोद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमनुशिष्यते^६ ।

१ गोत्वावच्छिन्नसकलगी २ व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुरित्येव ।
 ३ 'लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते नवेति विचार. परीक्षा'—(तर्कन पदकृ० पृ० ५) । ४ 'प्रमाणनयैरधिगम' इति तत्त्वार्थसूत्रस्य पूर्वोल्लिखिते सूत्रे । ५ यथावसरम् । ६ उद्देशक्रमेण, यथोद्देशस्तथा निर्देश इति भाव ।
 ७ अयं प्रमाणनययोर्मध्ये प्रमाणापेक्षया नयस्याल्पात्तत्त्वात्प्रथमतस्तस्यैवोद्देश कर्तव्योऽन आह प्रधानत्वेनेति । ननु तथापि कथं प्रमाणस्य प्रवान्तत्वं ? येन प्रथमं तदुद्दिश्यत इति चेदुच्यते, प्रमाणस्याभ्यहितत्वात्प्रधानत्वम्, अभ्यहितत्वं च 'प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तेर्व्यवहारहेतुत्वात् । यतो हि प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तिर्व्यवहारहेतुर्भवति नान्येष्वतोऽभ्यहितत्व प्रमाणस्य । अथवा समुदासविषय प्रमाणमवयवविषयानया । तथा चोक्तम्—“सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन.” इति ।—(तत्त्वार्थवा १-६) । ८ कथ्यते ।

१ 'मात्रस्य' इति द प्रतिपाठ । २ 'खल्वेवं' चेदेव स्यादेव न स्यादित्येव' इति आ प्रतिपाठ । ३ नु प्रतिषु 'न' पाठो नास्ति ३ 'यथोचित' इति द प्रतिपाठ ।

[प्रमाणसामान्यस्य लक्षणकथनम्]

§ ८ सम्यग्ज्ञान प्रमाणम् । अत्र प्रमाणं लक्ष्यं सम्यग्ज्ञानत्व^१ तस्य लक्षणम् । गोरिव सास्नादिमत्त्वम्, अग्नेरिवौष्ण्यम् । अत्र^२ सम्यक्पदं सशयविपर्ययानध्यवसायनिरासाय क्रियते, अप्रमाण-त्वादेतेषा^३ ज्ञानानामिति ।

§ ९ तथा हि—विरुद्धानेककोटिस्पर्शि^४ ज्ञानं सशयं, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । स्थाणुपुरुष^५ साधारणोर्ध्वतादिधर्मदर्शना-त्तद्विशेषस्य^६ वक्रकोटरगिर.पाण्यादेः साधकप्रमाणाभावादानेक-कोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य । विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः, यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानम्^७ । अत्रापि सादृश्यादि-निमित्तवगाच्छुक्तिविपरीते रजते निश्चयः । किमित्यालोचन-मात्रमनध्यवसाय^८, यथा पथि^९ गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम् । इदं^{१०} हि नानाकोट्यवलम्बनाभावान्न सशयः । विपरीतैककोटिनिश्च-

१ यावत्सम्यग्ज्ञानवृत्तिः सामान्यरूपो वर्म सम्यग्ज्ञानत्वम् ।
 २ 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' मित्यत्र । ३ सशयादीनाम् । ४ कोटि—पक्षः, अवस्था वा । ५ उभयवृत्तिः सामान्यरूपः ऊर्ध्वतादिधर्मः साधारणः ।
 ६ स्थाणुपुरुषविशेषस्य, स्थाणोर्विशेषो वक्रकोटरादिः । पुरुषस्य तु गिर-पाण्यादिरिति भावः । ७ तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं विपर्ययः, यथा रजतत्वाभाववति शुक्तिशकले रजतत्वप्रकारकं 'शुक्तौ इदं रजतम्' इति ज्ञानमित्याशयः । ८ आदिपदेन चाकचिक्यादिग्रहणम् । ९ अनिश्चय-स्वरूपं सशय-विपर्ययभिन्नजातीयं ज्ञानम् । १० अनध्यवसायाख्यज्ञानस्य

याभावान्न विपर्यय इति पृथगेव^१ । एतानि^२ च स्वविषयप्रमिति-
जनकत्वाभावादप्रमाणानि ज्ञानानि भवन्ति, सम्यग्ज्ञानानि तु न
भवन्तीति सम्यक्पदेन व्युदस्यन्ते^३ । ज्ञानपदेन^४ प्रमातु प्रमितेश्च^५
व्यावृत्ति । अस्ति हि निर्दोषत्वेन तत्रापि^६ सम्यक्त्व न तु ज्ञान-
त्वम् ।

§ १० ननु प्रमितिकर्तुं प्रमातुर्ज्ञातृत्वमेव न ज्ञानत्वमिति
यद्यपि ज्ञानपदेन व्यावृत्तिस्तथापि प्रमितिर्न व्यावर्त्तयितुं शक्या,
तस्या अपि 'सम्यग्ज्ञानत्वादिति चेत्; भवेदेवम्', यदि 'भावसाधन-

सशय-विपर्ययाभ्यां ज्ञानान्तरत्वं प्रसाधयति इदमिति, इदम्—अनध्यव-
सायाख्यं ज्ञानम् । इदमत्र तात्पर्यम्—सशये नानाकोट्यवलम्बनात्,
विपर्यये च विपरीतैककोटिनिश्चयात् । अनध्यवसाये तु नैकस्या अपि
कोटिर्निश्चयो भवति । ततस्तदुभयभिन्नविषयत्वेन कारणस्वरूपभेदेन च
ताभ्यामिदं ज्ञानं भिन्नमेव । तथा चोक्तम्—'अस्य (अनध्यवसायस्य)
ज्ञानवधारणात्मकत्वेऽपि कारणस्वरूपादिभेदान्न सशयता । अप्रतीतविशेष-
विषयत्वेनाऽपि अस्य सम्भवादुभयविशेषानुस्मरणजसशयतो भेद एवेति
कन्दलीकारा ।'—प्रगस्तपा० टि० पृ० ६१ ।

१ सशय-विपर्ययाभ्याम् । २ सशयादीनि । ३ निराक्रियन्ते ।
४ सम्यक्पदस्य कृत्यं प्रदर्श्य ज्ञानपदस्य कृत्यं प्रदर्शयति ज्ञानपदेनेति । ५
ननु ज्ञानपदेन यथा प्रमातु प्रमितेश्च व्यावृत्ति कृता तथा प्रमेयस्य कथं
न कृता तस्यापि ज्ञानत्वाभावात्, इति चेत्तस्यापि चशब्दाद् ग्रहणं बोध्यम् ।
यद्यपि स्वपरिच्छेद्यापेक्षया ज्ञानस्य प्रमेयत्वमस्त्येव तथापि घटपटादि-
वहिरूपपेक्षया प्रमेयत्वं नास्तीत्यतो युक्तं चशब्दात्तस्य ग्रहणम् । ६
प्रमातरि प्रमितौ प्रमेये च । ७ भावसाधनपक्षे । ८ प्रमितेरव्यावर्त्तनम् ।
९ ज्ञप्तिमात्रं ज्ञानमिति ।

मिह ज्ञानपदम् । करणसाधन खल्वेतज्ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति ।
 “करणाधारे चानट्” [जैनेन्द्रव्या० २।३।११२] इति करणेऽप्यनट्-
 प्रत्ययानुशासनात्^१ । भावसाधन तु ज्ञानपद प्रमितिमाह^१ । अन्यद्वि
 भावसाधनात्करणसाधन^२ पदम् । ^३एवमेव ^४प्रमाणपदमपि प्रमी-
 यतेऽनेनेति करणसाधन कर्त्तव्यम् । ^५अन्यथा सम्यग्ज्ञानपदेन
 सामानाधिकरण्याघटनात्^६ । तेन प्रमितिक्रिया प्रति यत्करण
 तत्प्रमाणमिति सिद्धम्^७ । तदुक्त प्रमाणनिर्णये—“इदमेव हि
 प्रमाणस्य प्रमाणत्व यत्प्रमितिक्रिया प्रति साधकतमत्वेन^८ करण-
 त्वम्” [प्रत्यक्षनिर्णय पृ० १] इति ।

§ ११ नन्वेवमप्यक्षलिङ्गादावतिव्याप्तिर्लक्षणस्य^९, त-
 त्रापि^{१०} प्रमितिरूप फल प्रति करणत्वात् दृश्यते हि चक्षुषा

१ विधानात् । २ ज्ञानपदवत् । ३ ‘सम्यग्ज्ञान प्रमाणम्’ इत्यत्र
 प्रमाणलक्षणे प्रयुक्त ‘प्रमाणम्’ इति पदम् । ४ प्रमाणपद करणसाधन
 नो चेत् । ५ प्रोक्तलक्षणशब्दसामानाधिकरण्यानुपपत्ते । ६ सुनिश्चितम् ।
 ७ अतिशयेन साधकमिति साधकतम नियमेन कार्योत्पादकमित्यर्थ ।
 ८ सशयादौ प्रमात्रादौ च प्रोक्तप्रमाणलक्षणस्य व्यावृत्तावपि, अथ च
 प्रमाणपदस्य करणसाधनत्वेऽपि । ९ आदिपदेन धूमादेर्ग्रहणम् । १०
 अयमत्राण्य —यदि ‘प्रमितिक्रिया प्रति यत्करण तत्प्रमाणम्’ इति प्रमा-
 णार्थं कक्षीक्रियते तर्हि प्रमितिरूप फल प्रति करणत्वेनाक्ष-लिङ्गादेरपि
 प्रमाणत्वप्रसङ्गात् । अक्षलिङ्गादि —इन्द्रिय-धूम-शब्दादि । ११ अक्ष-
 लिङ्गादौ ।

प्रमीयते, वूमेन प्रमीयते, गव्देन प्रमीयत इति व्यवहारः^१ इति चेत्; न', अक्षादे प्रमितिं प्रत्यसाधकतमत्वात् ।

§ १२ तथा हि—प्रमिति. प्रमाणस्य फलमिति न कस्यापि^२ विप्रतिपत्तिः^३ । 'सा चाज्ञाननिवृत्तिरूपा, 'तदुत्पत्तौ^४ करणेन^५ सता^६ तावदज्ञानविरोधिना भवितव्यम् । न चाक्षादिकमज्ञान-विरोधि^४, अचेतनत्वात् । तस्मादज्ञानविरोधिनश्चेतनधर्मस्यैव^७ करणत्वमुचितम् । लोकेऽप्यन्धकारविघटनाय तद्विरोधी प्रकाश^८ एवोपास्यते^९ न पुनर्घटादि, तद^{१०} विरोधित्वात् ।

§ १३ किञ्च, अस्वसविदितत्वादक्षादेर्नार्थप्रमितौ साधक-त्वमत्वम्, स्वावभासनाशक्तस्य परावभासकत्वायोगात्^५ । ज्ञान तु स्वपरावभासक^{११} प्रदीपादिवत्प्रतीतम् । तत स्थित प्रमिताव-साधकतमत्वादकरण^{१२} मक्षादय इति ।

§ १४ चक्षुषा प्रमीयत इत्यादिव्यवहारे पुनरुपचार शरणम्,

१ 'तमाघत्ते नेति । २ वादिन प्रतिवादिनो वा । ३ विवाद । ४ प्रमिति । ५ प्रमित्युत्पत्तौ । ६ भवता । ७ ज्ञानरूपस्य । ८ प्रदीपादि । ९ अन्विष्यते । १० तेनान्धकारेण सह घटादेर्विरोधाभावात् । ११ स्वपरपरिच्छेदकम् । १२ प्रमितिं प्रति न करणम् ।

१ 'इति व्यवहारः' आ प्रती नास्ति । २ 'तदुत्पत्तौ तु' इति द प्रतीपाठ । ३, 'भवता' इति पाठो म प मु प्रतिषु अधिक । ४ '... दिक् तद्विरोधि' इति द ५ ' अधिक पाठो म प प्रत्यो ।

उपचारप्रवृत्तौ च सहकारित्व निबन्धनम्^१ । न हि सहकारित्वेन
 'तत्साधकमिदं'मिति करण नाम, 'साधकविशेषस्यातिशयवत्'^२
 करणत्वात् । तदुक्तं जैनेन्द्रे—“साधकतम करणम्” [१।२।११४]
 इति^३ । तस्मान्न लक्षणस्याक्षादावतिव्याप्ति ।

§ १५ अथापि^४ धारावाहिकबुद्धिष्वतिव्याप्तिस्तासां सम्य-
 ग्ज्ञानत्वात् । न च 'तासामार्हतमते प्रामाण्याभ्युपगम इति;
 उच्यते, एकस्मिन्नेव घटे घटविषयाज्ञानविघटनार्थमाद्ये ज्ञाने
 प्रवृत्ते तेन^५ घटप्रमितौ सिद्धाया पुनर्घटोऽय घटोऽयमित्येवमुत्पन्ना-
 न्युत्तरोत्तरज्ञानानि खलु धारावाहिकज्ञानानि भवन्ति^६ । न ह्ये-
 तेषा^७ प्रमितिं प्रति साधकतमत्वम्, प्रथमज्ञानेनैव प्रमिते^८ सिद्ध-
 त्वात् । कथं तत्र^९ लक्षणमतिव्याप्नोति ? तेषां^{१०} गृहीतग्राहित्वात् ।

§ १६ ननु घटे दृष्टे पुनरन्यव्यासङ्गेन^{११} पश्चात् घट एव दृष्टे
 पश्चात्तन ज्ञान पुनरप्रमाण प्राप्नोति धारावाहिकवदिति चेत्, न,

१ 'मुख्यभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचार प्रवर्तते' इति
 नियमात् । २ प्रमितिसाधकम् । ३ अक्षादिकम् । ४ असाधारणसाधकस्य
 ज्ञानस्य । ५ अत्रातिशयो नाम नियमेन कार्योत्पादकत्वम् । ६ अक्षलि-
 ङ्गादावतिव्याप्तिवारणेऽपि । ७ धारावाहिकबुद्धीनाम् । ८ आद्येन घट-
 ज्ञानेन । ९ धारावाहिकज्ञानानाम् । १० धारावाहिकबुद्धिषु । ११ धारा-
 वाहिकज्ञानानाम् । १२ अन्यस्मिन् कार्ये व्यापृते चित्तस्याभ्यासशक्तिर्व्या-
 सङ्गः । बुद्धेरन्यत्र सचारो विषयान्तराकृष्टत्व वा व्यासङ्गः ।

१ 'इति' पाठो भुवित्तप्रतिषु नास्ति । २ 'भवन्ति' स प सु प्रतिषु
 नास्ति । ३ 'एषा' इति स प सु प्रतिषु पाठः ।

‘दृष्टस्यापि मध्ये समारोपे’ सत्यदृष्टत्वात्’ । तदुक्तम् — “दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्” [परीक्षा० १-५] इति ।

§ १७ “एतेन निर्विकल्पके सत्तालोचनरूपे दर्शनेऽप्यतिव्याप्तिः परिहृता । “तस्याव्यवसायरूपत्वेन’ प्रमितिं प्रति करणत्वाभावात् । निराकारस्य१ ज्ञानात्वाभावाच्च । “निराकार दर्शन साकार ज्ञानम्” [सर्वार्थसि० २-६] इति प्रवचनात्” । तदेव२ प्रमाणस्य सम्यग्ज्ञानमिति लक्षणं नाऽतिव्याप्तम् । नाऽप्यव्याप्तम्, लक्ष्ययोः प्रत्यक्षपरोक्षयोर्व्याप्यवृत्तेः । नाऽप्यसम्भवि, ‘लक्ष्य-वृत्तेरबाधितत्वात्’ ।

[प्रमाणस्य प्रामाण्यनिरूपणम्]

§ १८ किमिदं “प्रमाणस्य प्रामाण्यं नाम ? प्रतिभातविष-

१ ज्ञातस्यापि । २ सशयविपर्ययानध्यवसायविस्मरणलक्षणे ३ ज्ञात-पदार्थोऽपि सति सशये, विपर्यये, अनध्यवसाये, विस्मरणे वाऽज्ञाततुल्यो भवति । अतस्तद्विषयकं ज्ञानं प्रमाणमेवेति भावः । अक्षलिङ्गशब्दवारा-वाहिकबुद्धिष्वतिव्याप्तिनिराकरणेन । ५ निर्विकल्पकदर्शनस्य । ६ अनिश्चयात्मकत्वेन । ७ आगमात् । ८ यावल्लक्ष्येषु वर्तमानत्वं व्याप्यवृत्तित्वम् । ९ लक्ष्ययोः प्रत्यक्षपरोक्षयोः । १० तदेव हि सम्यक् लक्षणं यदव्याप्यादि-दोषत्रयशून्यमित्यभिप्रेत्य ग्रन्थकृता दोषत्रयपरिहारं कृतः । ११ प्रामाण्यं स्वतोऽप्रामाण्यं परतः इति मीमांसकः, अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परतः इति तायागता, उभयं स्वतः इति सांख्याः, उभयमपि परतः इति नैयायिक-वैशेषिकाः, उभयमपि कथञ्चित्स्वतः कथञ्चित्परतः इति

१ म प मु प्रतिपु ‘दर्शनस्य’ इत्यधिकं पाठः । २ म प मु प्रतिपु ‘तस्मात्’ इति पाठः ।

याऽव्यभिचारित्वम्^१ । 'तस्योत्पत्ति कथम् ? स्वत एवेति
मीमांसकाः । प्रामाण्यस्य स्वत उत्पत्तिरिति ज्ञानसामान्यसामग्री-
मात्रजन्यत्वमित्यर्थ^२ । तदुक्तम्—“ज्ञानोत्पादकहेत्वन्तिरिक्त-
जन्यत्व^३ मुत्पत्तौ स्वतस्त्वम्” [] इति । ^४न ते मीमा-
सका, ज्ञानसामान्यसामग्र्या^५ संशयादावपि ज्ञानविशेषे^६
सत्त्वात् । वयं^७ तु ब्रूमहे ज्ञानसामान्यसामग्र्या^८ साम्येऽपि संश-
यादिरप्रमाण सम्यग्ज्ञान प्रमाणमिति विभागस्तावदनिवन्धनो^९
न भवति । ततः संशयादौ यथा हेत्वन्तरं^{१०} प्रामाण्ये दोषादिक-
मङ्गीक्रियते^{११} तथा प्रमाणेऽपि^{१२} “प्रामाण्यनिवन्धनमन्यदवश्य-
मभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा^{१३} प्रमाणाप्रमाणविभागानुपपत्ते^{१४} ।

स्याद्वादिनो जैना इत्येव वादिना विप्रतिपत्ते सद्भावात्संशय स्यात्तन्नि-
राकरणाय प्रामाण्याप्रामाण्यविचार प्रक्रम्यते किमिदमिति ।

१ प्रामाण्यस्य । २ येनैव कारणेन ज्ञान जन्यते तेनैव तत्प्रामा-
ण्यमपि न तद्भिन्नकारणेनेति भावः । ३ ज्ञानस्योत्पादको यो हेतुः
कारण तदतिरिक्तजन्यत्व ज्ञानोत्पादकारणोत्पाद्यत्वमित्यर्थः । ४ समा-
वृत्ते नेति, मीमांसका—विचारकुशला । ५ समग्र्याणां भावः—एककार्य-
कारित्वसामग्री—यावन्ति कारणानि एकस्मिन् कार्ये व्याप्रियन्ते तानि
सर्वाणि सामग्रीति कथ्यन्ते । ६ मिथ्याज्ञाने । ७ जैना । ८ अकारणः ।
९ एकस्माद्धेतोरन्यो हेतुः हेत्वन्तरं ज्ञानसामान्यकारणाद्भिन्नकारणमित्य-
र्थः । १० स्वीक्रियते, भवता मीमांसकेन । ११ गुणादिकम्—नैर्मल्यादि-
कम् । १२ गुणदोषकृतप्रामाण्याप्रामाण्यानभ्युपगमे । १३ इदं ज्ञान प्रमा-
णमिदमप्रमाणमिति विभागो न स्यात् ।

§ १९ 'एवमप्यप्रामाण्य परतः प्रामाण्य तु स्वत इति न' वक्तव्यम्, विपर्ययेऽपि समानत्वात् । शक्य हि वक्तुमप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्य तु परतः इति । तस्मादप्रामाण्यवत्प्रामाण्यमपि परतः एवोत्पद्यते । न हि पटसामान्यसामग्री रक्तपटेहेतुः । तद्वन्न ज्ञानसामान्यसामग्री प्रमाणज्ञाने हेतुः, भिन्नकार्ययोर्भिन्नकारण-प्रभवत्वावश्यम्भावादिति^१ ।

§ २० कथं तस्य^२ ज्ञप्तिः^३? अभ्यस्ते^४ विषये स्वतः, अनभ्यस्ते^५ तु परतः । कोऽयमभ्यस्तो विषयः को वाऽनभ्यस्तः ? उच्यते; परिचितस्वग्रामतटाकजलादिरभ्यस्तः, तद्व्यतिरिक्तोऽनभ्यस्तः । किमिदं स्वतः इति ? किं नाम परतः इति ? ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यज्ञप्तिः^६ १ स्वतः इति ? ततोऽतिरिक्ताज्ञप्तिः परतः इति ।

§ २१ तत्र तावदभ्यस्ते विषये^७ जलमिति^८ ज्ञाने जाते ज्ञानस्वरूपज्ञप्तिसमये एव तद्गतं प्रामाण्यमपि ज्ञायत एव । 'अन्यथोत्तर'^९ क्षण एव निःशङ्कप्रवृत्तिर्योगात्^{१०} । अस्ति हि जलज्ञानोत्तर-क्षण एव निःशङ्कप्रवृत्तिः^{११} ४। अनभ्यस्ते तु विषये जलज्ञाने जाते जल-

१ प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्भिन्नकारणसिद्धेऽपि । २ जैन उत्तरयति नेति । ३ निर्मलतादिगुणेभ्यः । ४ ज्ञानप्रामाण्ये भिन्नकारणजन्ये भिन्नकार्यत्वादप्रामाण्यवदित्यनुमानमत्र बोध्यम् । ५ प्रामाण्यस्य । ६ निश्चयः । ७ परिचिते । ८ अपरिचिते । ९ ज्ञानस्वरूपज्ञप्तिसमये प्रामाण्यनिश्चयो नो चेत् । १० जलज्ञानानन्तरसमये । ११ जले सन्देहरहिता प्रवृत्तिर्न

१ म प सु प्रतिपु 'प्रामाण्यस्य' इति पाठः । २ म सु 'अभ्यस्तविषये' इति पाठः । ३ म प सु 'जलमिदमिति' पाठः । ४ प सु 'निःशङ्का' पाठः ।

ज्ञान मम जातमिति ज्ञानस्वरूपनिर्णयेऽपि प्रामाण्यनिर्णयोऽन्यतः^१
एव, 'अन्यथोत्तरकाल सन्देहानुपपत्ते । अस्ति हि सन्देहो
'जलज्ञान मम जात तत्किं जलमुत मरीचिका'^२ इति । ततः^३ कमल-
परिमलशिशिरमरुत्प्रचारप्रभृतिभिरवधारयति—'प्रमाण'^४ प्रा-
क्तन जलज्ञान^५ कमलपरिमलाद्यन्यथानुपपत्ते^६ ' इति ।

§ २२ 'उत्पत्तिवत्प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिरपि परत एवेति यौगाः'^७ ।
तत्र^८ प्रामाण्यस्योत्पत्तिः परत इति युक्तम् । ज्ञप्तिः पुनरभ्यस्त-
विषये स्वत एवेति स्थितत्वात्^९ ज्ञप्तिरपि परत 'एवेत्यवधार-
णानुपपत्तिः^{१०} । ततो^{११} 'व्यवस्थितमेतत्प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव,
ज्ञप्ती तु 'कदाचित्स्वत^{१२} 'कदाचित्परत इति । तदुक्तं प्रमाण-
परीक्षायां ज्ञप्तिः प्रति'^{१३}—

'प्रमाणा^{१४} दिष्ट-ससिद्धि^{१५} 'रन्यथाऽतिप्रसङ्गत'^{१६} ।

प्रामाण्य तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्^{१७} परतोऽन्यथा^{१८} ॥ [प्र पृ ६३]

स्यात् । १ सवादज्ञानान्तरादर्थक्रियाज्ञानाद्वा । २ अनभ्यस्ते—अपरिचिते
विषये प्रामाण्यनिर्णयोऽन्यतो न स्यात् । ३ वालुपुञ्जः । ४ सन्देहान्तरम् ।
५ साध्यम् । ६ वर्ष्म । ७ यथा प्रामाण्यस्योत्पत्तिः परतन्तथा । ८ यौग-
शब्देन नैयायिक-वैशेषिकौ गृह्येते । ९ उत्पत्ति-ज्ञप्तयोर्मध्ये । १० निश्चित-
त्वात् । ११ अन्यनिवृत्तिरूपफलजनकावधारणपरकैवकारप्रयोगासम्भवात् ।
१२ मम्यग् निश्चितम् । १३ अभ्यामदशायाम् । १४ अनभ्यामदशायाम् । १५
ज्ञप्तिमभिप्रेत्य । १६ सम्यग्ज्ञानात् । १७ इष्टोऽर्थस्तस्य सम्यक्प्रकारेण
भिद्विर्ज्ञप्तिलक्षणाऽभिलपितप्राप्तिलक्षणा वा । उत्पत्तिलक्षणा तु सिद्धिर्नात्र
विवक्षिता, ज्ञापकप्रकरणात् । १८ प्रमाणाभासात् । १९ इष्टसमिद्धय-
भावः । २० अभ्यासदशायाम् । २१ अनभ्यासदशायाम् ।

१ 'मन्द' इत्यधिक पाठो मुद्रितप्रतिषु । २ 'नुपपत्ते' इति द्वा प्रतिपाठः ।

§ २३ तदेव सुव्यवस्थितेऽपि प्रमाणस्वरूपे दुरभिनिवेगवश-
गतै 'सौगतादिभिरपि कल्पित प्रमाणलक्षण सुलक्षणमिति येषा'
अमस्ताननुल्लीम' । तथा हि—

[सौगतीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २४ “अविसवादि ज्ञान प्रमाणम्” [प्रमाणवा० २-१] इति
बौद्धाः । तदिदमविसवादित्वमसम्भवित्वादलक्षणम्^१ । बौद्धेन
हि प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयमेवानुमन्यते । तदुक्त न्याय-
विन्दौ—“द्विविध सम्यग्ज्ञानम्”, “प्रत्यक्षमनुमान च” [न्याय-
विन्दु पृ० १०] इति । तत्र न तावत्प्रत्यक्षस्याविसवादित्वम्, तस्य
निर्विकल्पकत्वेन स्वविषयानिश्चायकस्य समारोपविरोधित्वा-
भावात्^२ । नाऽप्यनुमानस्य,^३ तन्मतानुसारेण^४ तस्याऽप्यपरमार्थ-
भूतसामान्यगोचरत्वादिति^५ ।

[कुमारिलभट्टीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २५ “अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायक प्रमाणम्” [शास्त्र-

१ मिथ्यात्वाभिप्रायं । २ जनानाम् । ३ उपकुर्म । ४ न निर्दो-
षलक्षणम् । ५ बौद्धतार्किकधर्मकीर्त्तिविरचिते न्यायविन्दुनाम्नि ग्रन्थे ।
६ यन्न समारोपविरोधि तन्नाविसवादि, यथा सगयादि, तथा च प्रत्यक्षम्,
तस्मान्न तदविसवादीति भावः । ७ अविसवादित्वमिति सम्बन्धः । ८ बौद्ध-
मतानुसारेण । ९ अनुमानस्यापि । १० अयमत्राशयः—बौद्धमते हि
द्विविधः प्रमेयः विशेषाख्यः स्वलक्षणमन्यापोहाख्यः सामान्यः च । तत्र स्व-
लक्षणः परमार्थभूतः प्रत्यक्षस्य विषयः स्वेनासाधारणेन लक्षणेन लक्ष्यमा-
णत्वात्, सामान्यः त्वपरमार्थभूतमनुमानस्य विषयः परिकल्पितत्वात् । तथा

दी० पृ० १२३] इति भाट्टाः । तदप्यव्याप्तम्, तैरेव प्रमाणत्वेना-
भिमतेषु 'धारावाहिकज्ञानेष्वनधिगतार्थनिश्चायकत्वाभावात् ।
'उत्तरोत्तरक्षणविशेषविशिष्टार्थविभासकत्वेन तेषामनधिगतार्थ-
निश्चायकत्वमिति 'नाऽऽशङ्कनीयम्, क्षणानामतिसूक्ष्माणामाल-
'क्षयितुमशक्यत्वात् ।

[प्रभाकरीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २६ "अनुभूति प्रमाणम्" [बृहती] १-१-५] इति
प्राभाकराः^१ । तदप्यसङ्गतम्, अनुभूतिशब्दस्य 'भावसाधनत्वे
करणलक्षणप्रमाणाव्याप्तेः, 'करणसाधनत्वे तु भावलक्षणप्रमा-
णाव्याप्तेः, करण-भावयोरुभयोरपि 'तन्मते प्रामाण्याभ्युपगमात् ।
तदुक्त शालिकानाथेन—

“यदा भावसाधन तदा सविदेव प्रमाण करणसाधनत्वे त्वा-
त्म-मन सन्निकर्ष ”^{१०} [प्रकरणप० प्रमाणपा० पृ० ६४] इति ।

चापरमार्थभूतसामान्यविषयत्वादनुमानस्य नाविसवादित्वमिति भाव ।

१ गृहीतार्थविषयकाण्युत्तरोत्तरजायमानानि ज्ञानानि धारावाहिकज्ञा-
नानि, तेषु । २ ननूत्तरोत्तरजायमानधारावाहिकज्ञानाना तत्तत्क्षणविशि-
ष्टघटाद्यर्थनिश्चायकत्वेनागृहीतार्थविषयकत्वमेव, ततो न तैरव्याप्तिरिति
शङ्कितुर्भावे । ३ शङ्का न कार्या । ४ आदर्शयितुम् । ५ 'प्रमाणमनुभूति'
—प्रकरणपञ्जि० पृ० ४२ । ६ प्रभाकरमतानुसारिण । ७ अनुभवोऽनु-
भूतिरित्येवभूते । ८ अनुभूयतेऽनेनेति अनुभूतिरित्येवरूपे । ९ प्राभाकराणा
मते । १० प्रभाकर-मतानुसारिणा शालिकानाथेन यदुक्त तत्प्रकरणपञ्जि-
कायामित्य वर्तते—'यदि प्रमिति प्रमाण इति भावसाधन मानमाश्रीयते

१ द प्रती 'लक्षयितुम्' इति पाठ ।

[नैयायिकाना प्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २७ “प्रमाकरण प्रमाणम्” [न्यायम० प्रमा० पृ० २५]
इति नैयायिकाः । ‘तदपि प्रमादकृत’ लक्षणम् ; ईश्वराख्य एव
“तदङ्गीकृते प्रमाणेऽव्याप्ते । अधिकरण’ हि महेश्वर प्रमायाः,
न’ तु करणम् । न चायमनुक्तो ‘पालम्भः, “तन्मे प्रमाणं शिव”

तदा सविदेव मानम् । तस्याञ्च व्यवहारागुणानुगुणस्वभावत्वाद्धानोपादानो-
पेक्षा फलम् । प्रमीयतेऽनेनेति करणत्वावने प्रमाणशब्दे आत्म-मनःसन्निक-
र्षात्मनो ज्ञानस्य प्रमाणत्वे तद्वलभाविनी फल (ल) सविदेव बाह्यव्यव-
हारोपयोगिनी सती” —प्रमाणपा० प० पृ० ६४ ।

१ चात्स्यायन-जयन्तभट्टादयस्नायिका । यथा हि ‘प्रमीयतेऽनेनेति
करणार्थाभिवान प्रमाणशब्दः, —न्यायभा० १. १ ३, ‘प्रमीयते येन त-
त्प्रमाणमिति करणार्थाभिवायिन प्रमाणशब्दात् प्रमाकरण प्रमाणमवग-
म्यते —न्यायम० प्रमाण० पृ० २५ । २ प्रमाकरण प्रमाणमिति नैया-
यिकाभिमतमपि । ३ सदोपम् । ४ महेश्वरे । ५ नैयायिकैरभ्युपगते ।
६ आश्रय । ७ तत्प्रमाया नित्यत्वात्करणत्वात्सम्भवात् । ८ अत्रायमा-
शय —उपालम्भो दोष (आरोपात्मक), स च ‘महेश्वर प्रमाणम्’ इत्ये-
वरूपो नानुक्तो भवता न स्वीकृत इति न, अपि तु महेश्वरस्य प्रमाणत्व
स्वीकृतमेव ‘तन्मे प्रमाणं शिव’ इति वचनात्, तथा चेश्वराख्यप्रमाणस्य
प्रमाया अधिकरणत्वेन प्रमाकरणत्वाभावादव्याप्तिदोषकयत्त अन्यकृता
सङ्गतमेवेति भावः । ९ सम्पूर्णं श्लोकस्त्वित्यर्थो वर्तते—

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थिनौ

भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रम ।

लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिबिगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः

शङ्कोन्मेषकलङ्घिभिः किमपरंस्तन्मे प्रमाणं शिवः ॥

1 ‘ईश्वराख्ये तदङ्गीकृत एव’ इति म प मु प्रतिषु पाठ

[न्यायकुसु० ४-६] इति 'यौगाग्रसरेणोदयनेनोक्तत्वात् । तत्परि-
हाराय^१ केचन^२ वालिशा "साधनाश्रययोरन्यतरत्वे" सति
प्रमाव्याप्त प्रमाणम्" [सर्वदर्शनस० पृ० २३५] इति वर्णयन्ति
तथापि साधनाश्रयान्यतरपर्यालोचनाया^३ साधनमाश्रयो वेति
फलति । तथा च परस्पराव्याप्तिर्लक्षणस्य ।

§२८ 'अन्यान्यपि पराभिमतानि प्रमाणसामान्यलक्षणा-

१ योगा — नैयायिकास्तेषामग्रेसर प्रधान प्रमुखो वा तेन । २ महे-
श्वरेऽव्याप्तिदोषनिराकरणाय । ३ सायणमाववाचार्याः । ४ सर्वदर्शनसंग्रहे
'साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे' इति पाठ । तट्टीकाकृता च तथैव व्याख्यात ।
यथा हि—'यथार्थानुभवः प्रमा, तस्या साधन करणम् । आश्रय आत्मा ।
तदुभयापेक्षया भिन्न यन्न भवति तथाभूत सद्यत्प्रमया नित्यसम्बद्ध तत्प्र-
माणमित्यर्थः ।' ५ प्रमासाधन-प्रमाश्रययोर्मध्ये प्रमासाधन प्रमाण प्रमा-
श्रयो वेति विचारे क्रियमाणे । ६ साधनाश्रययोरन्यतरस्य प्रमाणत्वाङ्गी-
कारे । ७ अयं भाव — प्रमासाधनस्य प्रमाणत्वाङ्गीकारे प्रमाश्रये प्रमाणेऽ-
व्याप्ति, प्रमाश्रयस्य च प्रमाणत्वस्वीकारे प्रमासाधने प्रमाणेऽव्याप्ति, यतो
ह्यन्यतरस्य प्रमाणत्वपरिकल्पनात् । उभयपरिकल्पने चासम्भवित्व स्पष्टमेव ।
न हि प्रमाणत्वेनाभ्युपगतस्यैकस्य (सन्निकर्षस्य महेश्वरस्य वा) कस्यचिदपि
प्रमासाधनत्व प्रमाश्रयत्व चोभय सम्भवि । इत्थं च नैयायिकाभिमतमपि
प्रमाकरण प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं न समीचीनमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यम् ।

८ 'इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्' इति साख्या, 'अव्यभिचारिणीमसदिग्धा-
मर्थोपलब्धिं विदधती वोधावोघस्वभावा सामग्री (कारकसाकल्य) प्रमाणम्'
(न्यायम० प्रमा० पृ० १४) इति जरन्नैयायिका (जयन्तभट्टादयः)
इत्यादीन्यपि परोक्तानि प्रमाणसामान्यलक्षणानि सन्ति, परं तेषां प्रमाण-

‘न्यलक्षणत्वाद्दुपेक्ष्यन्ते’ । ‘तस्मात्स्वपरावभासनसमर्थं सविकल्पमगृहीतग्राहकं’ सम्यग्ज्ञानमेवाज्ञानमर्थं ‘निवर्तयत्प्रमाणमित्यार्हतं’ मतम् ।

इति श्रीपरमार्हताचार्य-धर्मभूषण-यति-विरचिताया न्याय-दीपिकाया प्रमाणसामान्यलक्षणप्रकाश प्रथम- ॥१॥

त्वस्यैवाघटनान्न परीक्षार्हाणि, अपि तूपेक्षार्हाण्येव । ततो न तान्यत्र परीक्षितानि ग्रन्थकृता । नन्विन्द्रियवृत्ते कारकसाकल्यादेर्वा प्रमाणत्व कथं न घटते ? इति चेत् , उच्यते , इन्द्रियाणामज्ञानरूपत्वात्तद्वृत्तेरप्यज्ञानरूपत्वेन प्रमाणत्वायोगात् । ज्ञानरूपमेव ही प्रमाण भवितुमर्हति, तस्यैवाज्ञाननिवर्तकत्वात्प्रदीपादिवत् । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां वृत्तिर्हि तदुद्घाटनादिव्यापारः, स च जडस्वरूपः, ततो न तेनाज्ञाननिवृत्तिः सम्भवति घटादिवत् । तस्मादिन्द्रियवृत्तेरज्ञाननिवृत्तिरूपप्रमा प्रति करणत्वाभावान्न प्रमाणत्वमिति भावः ।

एव कारकसाकल्यस्याऽप्यवोघस्वभावस्याज्ञानरूपत्वेन स्व-परज्ञानकरणे साधकतमत्वाभावान्न प्रमाणत्वम् । अतिशयेन साधक साधकतमम्, साधक-तमं च करणम् । करणं खल्वसाधारणं कारणमुच्यते । तथा च सकलानां कारकाणां साधारणासाधारणस्वभावानां साकल्यस्य—परिसमाप्त्या सर्वत्र वर्तमानस्य सामस्त्यस्य—कथं साधकतमत्वमिति विचारणीयम् ? साधकतमत्वाभावे च न तस्य प्रमाणत्वम्, स्व-परपरिच्छिन्नौ साधकतमस्यैव प्रमाणत्वघटनात् । तेनैव ह्यज्ञाननिवृत्तिः सम्पादयितुं शक्येत्यलं विस्तरेण । ततः ‘सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्’ इत्येतदेव प्रमाणस्य सम्यक् लक्षणम् ।

१ लक्षणाभासत्वात्, लक्षणकोटौ प्रवेष्टुमयोग्यत्वादिति भावः । २ न परीक्षाविषयीक्रियन्ते । ३ उपसहारे ‘तस्मान्’ शब्दः । ४ अपूर्वार्थनिश्चयकम् । ५ घटादिपदार्थेष्वज्ञाननिवृत्तिं कुर्वन् । ६ जैनम् । ७ शासनम् ।

२. प्रत्यक्षप्रकाशः

— ० —

[प्रमाण द्विधा विभज्य प्रत्यक्षस्य लक्षणकथनम्]

§ १ अथ प्रमाणविशेषस्वरूपप्रकाशनाय प्रस्तूयते । प्रमाणं द्विविधम्^१—प्रत्यक्ष परोक्ष चेति । तत्र विशदप्रतिभास प्रत्यक्षम् । इह प्रत्यक्ष लक्ष्य विशदप्रतिभासत्व लक्षणम् । यस्य प्रमाणभूतस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदस्तत्प्रत्यक्षमित्यर्थः ।

१ प्रमाणसामान्यलक्षणनिरूपणान्तरमिदानीं प्रकरणकार प्रमाण-विशेषम्वरूपप्रतिपादनाय द्वितीय प्रकाश प्रारभते अयेति । २ पूर्वोक्त-लक्षणलक्षितम् । ३ विभागस्यावधारणफलत्वात्तेन द्विप्रकारमेव, न न्यून नाधिकमिति बोध्यम् । चार्वाकाद्यभिमतसकलप्रमाणभेदानामत्रैवान्तर्भावात् । तत्र प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणमिति चार्वाकाः, प्रत्यक्षमनुमान चेति द्वे एव प्रमाणे इति बौद्धाः । वैशेषिकाश्च, प्रत्यक्षानुमानोपमानानि त्रीण्येव प्रमाणानीति सांख्या, तानि च शाब्द चेति चत्वार्येव इति नैयायिकाः, सहाय्यपित्या च पञ्चेति प्राभाकराः, सहानुपलब्ध्या च पट् इति भाट्टाः । वेदान्तिनश्च, सम्भवतिह्याभ्यां सहाष्टौ प्रमाणानीति पौराणिका । तथा चोक्तम्—

प्रत्यक्षमेक चार्वाकः । कारणात्संगताः पुनः ।

अनुमानं च तच्चैव सांख्या शाब्दं च ते अपि ॥१॥

न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केन च ।

अर्थापित्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्राभाकराः ॥२॥

अभावपष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा ।

सम्भवतिह्याभ्यां तानि पौराणिका जगुः ॥३॥

तदेतेषां सर्वेषां यथायथं प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणयोरेवान्तर्भाव इति द्विविध-

§ २ किमिदं विशदप्रतिभासत्वं नाम ? उच्यते—ज्ञानावरणस्य' क्षयाद्विशिष्टक्षयोपशमाद्वा १ शब्दानुमानाद्य' सम्भवि-
यन्तैर्मल्यमनुभवसिद्धम्, दृश्यते खल्वग्निरस्तीत्याप्त'वचनाद्वू-
मादि'लिङ्गाच्च'त्यन्ताज्ज्ञानादय' मग्निरित्युत्पन्नस्यैन्द्रियकस्य'
ज्ञानस्य विशेष' । स'एव नैर्मल्यम्, वैशद्यम्, स्पष्टत्वमित्यादिभि
शब्दैरभिधीयते । तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कुदेवैर्न्यायविनिश्चये—

“प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा' ।” [का० ३]
इति । विवृत'च स्याद्वादविद्यापतिना'—“निर्मलप्रतिभासत्व-

मित्यनेन सूचितम् । विद्यानन्दस्वामिनाऽप्युक्तम्—‘एव प्रमाणलक्षणं व्यव-
सायात्मकं सम्यग्ज्ञानं परीक्षितम्, तत्प्रत्यक्षं परोक्षं चेति सक्षेपाद् द्वितयमेव
व्यवतिष्ठते, सकलप्रमाणभेदानामत्रैवाज्जन्तर्भावादिति विभावनात् ।’ ‘स्याद्वा-
दिना तु सक्षेपात्प्रत्यक्ष-परोक्षविकल्पात्प्रमाणद्वयं मिद्वयत्वेव, तत्र सकल-
प्रमाणभेदानां सग्रहादिति’—प्रमाणपरी० पृ० ६३-६४, ६७ । एतच्च प्रमेय-
कमलमार्तङ्गेऽपि (२-१) प्रपञ्चतो निरूपितम् ।

१ ज्ञानप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणाख्यं कर्म, तस्य सर्वथा क्षयाद्विशेषक्षयोपश-
माद्वा । २ आदिपदादुपमानार्थापत्त्यादीनां सग्रहः । ३ विञ्चनीयं पुरुष-
आप्तं, यथार्थवत्ता इति यावत् । ४ अत्रादिपदेन कृतकत्व-विगतात्वादीनां
परिग्रहः । ५ पुरो दृश्यमानः । ६ इन्द्रियजन्यस्य । ७ अनुमानाद्यपेक्षया
विशेषप्रतिभासरूपः । तदुक्तम्—अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धे—लघीय० का० ४ । ८ विशेषः । ९ अस्यां कारिकायां
उत्तरार्धमिदमस्ति—‘द्रव्य-पर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ।’ १० व्या-
ख्यातं न्यायविनिश्चयविवरणे । ११ श्रीमद्वादिराजाचार्येण ।

मेव स्पष्टत्वम्, स्वानुभवप्रसिद्धं चैतत्सर्वस्यापि परीक्षकस्येति नातीव निर्वाध्यते” [न्यायविनि० वि० का० ३] इति । तस्मात्सुष्ठूक्तं विशदप्रतिभासात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति^१ ।

[सौगतीयप्रत्यक्षस्य निरासः]

§ ३ “कल्पनापोढमभ्रान्तं ‘प्रत्यक्षम्’” [न्यायविन्दु पृ० ११] इति ताथागताः^२ । अत्र हि कल्पनापोढपदेन सविकल्पकस्य व्यावृत्तिः^३, अभ्रान्तमिति पदेन त्वाभासस्य^४ । तथा च^५ समीचीनं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति, तदेतद् बालचेष्टितम्, निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यमेव दुर्लभम्, समारोपाविरोधित्वात्, कुत प्रत्यक्षत्वम् ? व्यवसायात्मकस्यैव^६ प्रामाण्यव्यस्थापनात्^७ ।

१ तथा चोक्तम्—‘विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षत्वात्, यत्तु न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षं यथाऽनुमानादिज्ञानम्, प्रत्यक्षं च विवादाध्यामितम्, तस्माद्विशदज्ञानात्मकमिति ।’—प्रमाणपरी० पृ० ६७ । २ ‘अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना, तथा रहितम्’—न्यायविन्दु पृ० १३ । नाम-जात्यादियोजना वा कल्पना, तथाऽपोढम्, कल्पनास्वभावशून्यमित्यर्थः । ‘तत्र यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तम्’ न्यायविन्दुटीका पृ० १२ । ३ ‘प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् । यज्ज्ञानमर्थे रूपादी नाम-जात्यादिकल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्’—न्यायप्र० पृ० ७, ‘प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नाम-जात्याद्यसयुतम्’—प्रमाणस० का० ३ । अत्रेदं बोध्यम्—‘कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्’ इति दिग्नागस्य प्रत्यक्षलक्षणम्, अभ्रान्तविशेषणसहितं तु धर्मकीर्त्तं । ४ तथागतं भुगतो बुद्ध इत्यनर्थान्तरम्, तदनुयायिनो ये ते ताथागता बौद्धा । ५ व्यवच्छेदो निरास इति यावत् । ६ मिथ्या-ज्ञानस्य । ७ फलितलक्षणं प्रदर्शयति तथा चेति । ८ निश्चयात्मकस्यैव ज्ञानस्य । ९ ‘तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्’ (परीक्षा० १-३)

§ ४ 'ननु निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षप्रमाणमर्थजत्वात् । तदेव' हि 'परमार्थसत्त्वलक्षणजन्यं न तु सविकल्पकम्, तस्यापरमार्थ-भूतसामान्यविषयत्वेनार्थजत्वाभावादिति चेत्, न^१; अर्थस्यालोक-वज्ज्ञानकारणत्वानुपपत्तेः । तद्यथा—अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि^२ कार्यकारणभावः । तत्रालोकस्तावन्न ज्ञानकारणम्, 'तदभावेऽपि नक्तञ्चराणां मार्जारदीनां ज्ञानोत्पत्तेः, 'तदभावेऽपि [च]^३ घूकादीनां तदनुत्पत्तेः । 'तद्वदर्थोऽपि न ज्ञानकारणम्, 'तदभावेऽपि केशमशकादिज्ञानोत्पत्तेः^४ । तथा च कुतोऽर्थजत्वं ज्ञानस्य ? तदुक्तं परीक्षामुखे—“नार्थालोको कारणम्” [२-६] इति । प्रामाण्यस्य चार्थाव्यभिचारः^५ एव “निवन्धनं न त्वर्थजन्यत्वम्,

इत्यादिना निश्चयात्मकस्यैव ज्ञानस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापितम् ।

१ बौद्धं शङ्कते नन्विति । २ परमार्थभूतेन स्वलक्षणेन जन्यं 'परमार्थोऽङ्गविममनारोपितं रूपम्, तेनास्तीति परमार्थसत् । य एवार्थं सन्नि-वानासन्निवानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसन् स एव । स एव च प्रत्यक्षविषयो यतस्तस्मात्तदेव स्वलक्षणम्—न्यायवि० टी० पृ० २३, 'यदर्थक्रियासमर्थं तदेव स्वलक्षणमिति, सामान्यलक्षणं च ततो विपरीतम्'—प्रमाणम् पृ० ६ । ३ जैन उतरयति । ४ अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां विना न कार्यकारणभावावगम इत्येतत्प्रदर्शनार्थं 'हि' शब्दः । ५ आलोकाभावेऽपि । ६ आलोकसदभावेऽपि । ७ उलूकादीनाम् । ८ ज्ञानो-त्पत्त्यभावात् । ९ आलोकवत् । १० अर्थाभावेऽपि । ११ केशोण्डुकादि-ज्ञानस्य भावात् । १२ तदभाववद्बुद्धित्वं व्यभिचारस्तद्भिन्नोऽव्यभिचारः । तत्पदेनात्रार्थो ग्राह्यः । १३ कारणं प्रयोजकमित्यर्थः ।

स्वसवेदनस्य विषयाजन्यत्वेऽपि प्रामाण्याभ्युपगमात्^१ । न हि किञ्चित्स्वस्मादेव जायते ।

§ ५. 'नन्वतज्जन्यस्य ज्ञानस्य^१ कथं 'तत्प्रकाशकत्वम्' ? इति चेत्, 'घटाद्यजन्यस्यापि प्रदीपस्य तत्प्रकाशकत्व दृष्ट्वा सन्तोष्ट-व्यमायुष्मता'^२ । अथ कथमयं विषयप्रतिनियमः^३ ? यदुत 'घटज्ञानस्य घट एव विषयो न पट' इति । अर्थजत्व हि विषयप्रतिनियमकारणम्, तज्जन्यत्वात् तद्विषयमेव चैतदिति । 'तत्तु 'भवता नाऽभ्युपगम्यते इति चेत्, योग्यतैव विषयप्रतिनियमकारणमिति ब्रूमः^४ । का नाम योग्यता ? इति^५ । उच्यते—स्वावरणक्षयोप-गमः । तदुक्तम्—“स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति”^६ [परीक्षा० २-६] इति ।

१ बौद्धे । २ अत्र बौद्ध पुनराशङ्कते नन्विति । ३ अयं भावः—यदि ज्ञानं अर्थान्नोत्पद्यते तर्हि कथमर्थप्रकाशकं स्यात् ? तदेव हि ज्ञानमर्थ-प्रकाशकं यदर्थजन्यम्, अजन्यत्वे तु तस्यार्थो विषयो न स्यात् 'नाकारणविषयः' इति वचनात् । ४ उत्तरयति—घटाद्यजन्योऽपि हि यथा प्रदीपघटादिप्रकाशको भवति तथा ज्ञानमप्यर्थाजन्यं सत् अर्थप्रकाशकमिति किमनुपपन्नम् ? अर्थस्य ज्ञानकारणत्वनिरासस्तु पूर्वमेव कृतस्ततो नात्र किञ्चिद्वचनीयमस्ति । ५ सन्तोष करणीयो भवता । ६ अमुकज्ञानस्य अमुक एव विषयो नान्य इति विषयप्रतिनियमः, स न स्याद्यदि ज्ञानस्यार्थजन्यत्वं नो भवेदिति शङ्काया आशयः । ७ अर्थजन्यत्वम् । ८ जैनेन । ९ जैना । १० प्रतिनियतार्थव्यवस्थापको हि तत्तदावरणक्षयोपशमोऽर्थग्रहणशक्तिरूपः । तदुक्तम्—‘तल्लक्षणयोग्यता च शक्तिरेव । सैव ज्ञानस्य

१ आ प मु प्रतिषु 'अन्यस्य' इति पाठः । २ द प्रतौ 'इति' पाठो नास्ति

§ ६ 'एतेन 'तदाकारत्वात्तत्प्रकाशकत्वम्' इत्यपि प्रत्युक्तम्' ।
अतदाकारस्यापि प्रदीपादेस्तत्प्रकाशकत्वदर्शनात् । ततस्तदा-
कार'वत्तज्जन्यत्वमप्रयोजक प्रामाण्ये । 'सविकल्पकविषयभूतस्य

प्रतिनियतार्थव्यवस्थायामङ्गम् नार्थोत्पत्त्यादि ।'—प्रमेयक० २-१०,
'योग्यताविशेष पुन प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोप-
जमविशेष एव'—प्रमाणपरीक्षा पृ० ६७ ।

१ अर्थजन्यताया निराकरणेन, योग्यतायाञ्च प्रतिनियतार्थव्यवस्थापक-
त्वसमर्थनेन । २ निरस्तम् । ३ इत्य च तदाकारत्व तज्जन्यत्व चोभयमपि
प्रामाण्ये न प्रयोजकमिति बोध्यम् । ४ यच्चोक्तम्—सविकल्पकस्यापरमा-
र्थभूतसामान्यविषयत्वमिति, तन्न युक्तम्, सविकल्पकस्य विषयभूतसामा-
न्यस्य प्रमाणावाधितत्वात्परमार्थत्वमेव । यद्वि न केनापि प्रमाणेन बाध्यते
तत्परमार्थसत्, यथा भवदभिमत स्वलक्षणम्, प्रमाणावाधित च सामान्यम्,
तस्मात्परमार्थसत् । किञ्च, 'यथैव हि विशेष. (स्वलक्षणरूप) स्वेना-
साधारणेन रूपेण सामान्यासम्भविना विसदृशपरिणामात्मना लक्ष्यते तथा
सामान्यमपि स्वेनासाधारणेन रूपेण सदृशपरिणामात्मना विशेषासम्भविना
लक्ष्यते इति कथं स्वलक्षणत्वेन विशेषाद् भिद्यते ? यथा च विशेष. स्वा-
मर्थक्रिया कुर्वन् व्यावृत्तिज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारी तथा सामान्यमपि
स्वामर्थक्रियामन्वयज्ञानलक्षणा कुर्वत् कथमर्थक्रियाकारि न स्यात् तद्वाह्या
पुनर्वाह-दोहाद्यर्थक्रिया यथा न सामान्य कर्तुमुत्सहते तथा विशेषोऽपि केवल,
सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनो गवादेस्तत्रोपयोगात् । इत्यर्थक्रियाकारित्वे-
नापि तयोरभेद सिद्ध ।'—अष्टम० पृ १२१ । ततो यदुक्तं वर्मकीर्त्तिना—

यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् ।

अन्यत्सवृत्तिसत् प्रोक्ते ते स्वसामान्यलक्षणे ॥'

सामान्यस्य परमार्थत्वमेव, अवाधितत्वात् । प्रत्युत सौगताभिमत
एव स्वलक्षणे विवाद । तस्मान्न निर्विकल्पकरूपत्व प्रत्यक्षस्य ।

[नैयायिकाभिमतस्य सन्निकर्पस्य प्रत्यक्षत्वनिरास]

§ ७ 'सन्निकर्पस्य च यौगाभ्युपगतस्याचेतनत्वात् कुत 'प्रमि-
तिकरणत्वम्, कुतस्तत्रा प्रमाणत्वम्, कुतस्तत्रा प्रत्यक्षत्वम् ?

§ ८ 'किञ्च, रूपप्रमितेरसन्निकृष्टमेव चक्षुर्जनकम्, अप्राप्य-
कारित्वात्तस्य । ततः सन्निकर्पाभावेऽपि साक्षात्कारिप्रमोत्पत्तेर्न
सन्निकर्परूपतैव प्रत्यक्षस्य । न चाप्राप्यकारित्वं चक्षुषोऽप्रसिद्धम्,
प्रत्यक्षतस्तथैव' प्रतीते । ननु 'प्रत्यक्षागम्यामपि चक्षुषो विषय-
प्राप्तिमनुमानेन सावयिष्याम परमाणुवत् । यथा प्रत्यक्षासिद्धो-
ऽपि, परमाणु कार्यान्यथानुपपत्त्यानुमानेन' साध्यते तथा 'चक्षु
प्राप्तार्थप्रकाशक 'वहिरिन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्' इत्यनुमानात्

तन्निरस्तम्, 'सामान्यलक्षण-स्वलक्षणयोर्हि भेदाभावात्'—अष्टस० पृ० १२१

१ इन्द्रियायार्ययो सम्बन्ध सन्निकर्प । २ अज्ञाननिवृत्तिरूपप्रमा प्रति
करणत्वं प्रमितिकरणत्वम् । तच्च सन्निकर्पस्य न सम्भवति, जडत्वात् । प्रमि-
तिकरणत्वासम्भवे च न तस्य प्रमाणत्वम्, प्रमाकरणस्यैव प्रमाणत्वाभ्युपग-
मात् । तदभावे च न प्रत्यक्षत्वमिति भावः । ३ दोषान्तरमाह किञ्चेति ।
चक्षुर्हि अमम्बद्धमेव रूपज्ञानस्य जनक भवति, अप्राप्तार्थप्रकाशकत्वात् ।
न हि चक्षुः पदार्थं प्राप्य प्रकाशयति, अपि तु दूरादेव । ४ अप्राप्यकारित्व-
स्यैव । ५ प्रत्यक्षेणापरिच्छेद्याम् । ६ 'परमाणुरस्ति द्व्यणुकादिकार्योत्पत्त्य-
न्यथानुपपत्ते' इत्यनुमानेन । ७ वहिः पद मनोव्यवच्छेदार्थम्, मनो हि न
वहिरिन्द्रिय तस्यान्तःकरणत्वात् । तच्चाप्राप्यकारीति । अत्र व्याप्ति—यद्व-
हिरिन्द्रिय तत्प्राप्तार्थप्रकाशकम्, यथा स्पर्शनेन्द्रियम् । यन्न प्राप्तार्थप्रका-

प्राप्तिसिद्धि । प्राप्तिरेव हि सन्निकर्षस्ततो न सन्निकर्षस्या-
व्याप्तिरिति चेत्, न, अस्यानुमानाभासत्वात्^१ । तद्यथा —

§ ९. चक्षुरित्यत्र क. पक्षोऽभिप्रेत^२ ? किं लौकिकं चक्षुरु-
तालौकिकम् ? 'आद्ये हेतो 'कालात्यापदिष्टत्वम्, गोलकाख्य-
स्य^३ लौकिकचक्षुषो विषयप्राप्ते. प्रत्यक्षवाधितत्वात् । द्वितीये^४
त्वाश्रयासिद्धि, अलौकिकस्य^५ चक्षुषोऽद्याऽप्यसिद्धे. । शाखा-
सुधादीधिति^६ समानकाल^७ ग्रहणा^८ न्ययानुपपत्तेश्च^९ चक्षुरप्राप्य-
कारीति निश्चीयते । तदेव सन्निकर्षाभावेऽपि चक्षुषा रूपप्रतीति-
र्जायत इति सन्निकर्षोऽव्यापक^{१०} त्वात्प्रत्यक्षस्य स्वरूप न
भवतीति स्थितम् ।

§ १०. 'अस्य च प्रमेयस्य प्रपञ्च.' प्रमेयकमलमार्त्तण्डे

शक तन्न वहिरिन्द्रिम्, यथा मन, वहिरिन्द्रिय चेद चक्षु, तस्मात्प्राप्ता-
यंप्रकाशकमिति भाव ।

१ सदोषानुमानत्वमनुमानाभासत्वम् । २ स्वीकृतो भवता यौगेन । ३
प्रथमे पक्षे । ४ वाधितपक्षानन्तर प्रयुक्तो हि हेतु कालात्यापदिष्ट उच्यते ।
५ उत्तरविकल्पे—अलौकिक चक्षुरित्यभ्युपगमे । ६ किरणरूपस्य । ७
सुधादीधिति —चन्द्रमा । ८ शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणं दृष्ट ततो
जायते चक्षुरप्राप्यकारीति । प्राप्यकारित्वे तु क्रमश एव तयोर्ग्रहण स्यात् न
युगपत्, पर युगपत्तयोर्ग्रहण सर्वजनसाक्षिकमिति भाव । ९ अव्याप्तिदो-
षदुष्टत्वात् । १० एतस्य सन्निकर्षाप्रामाण्यविचारस्य । ११ विस्तर ।

१ 'क्षस्य' इति म मु प्रत्यो पाठ । २ 'ग्रहणाद्यन्यथानु' इति आ म
प मु प्रतिपाठ । ३ आ म मु प्रतिप् 'च' पाठो नास्ति ।

[१-१ तथा २-४] सुलभ^१ । सग्रहग्रन्थत्वात्तु नेह^२ प्रतन्यते^३ । एव च न सौगताभिमत निर्विकल्प प्रत्यक्षम्, नापि यौगाभिमत इन्द्रियार्थसन्निकर्ष^४ । किं तर्हि ? विशदप्रतिभास ज्ञानमेव प्रत्यक्ष सिद्धम् ।

[प्रत्यक्ष द्विधा विभज्य साव्यवहारिकस्य लक्षणपुरस्सर भेदनिरूपणम्]

§ ११ तत्प्रत्यक्ष द्विविधम्।—साव्यवहारिक पारमार्थिक चेति । तत्र देगतो विशद साव्यवहारिक प्रत्यक्षम् । यज्ज्ञान देशतो विशदमीषन्निर्मल तत्साव्यवहारिकप्रत्यक्षमित्यर्थ^५ । 'तच्चतुर्विधम्—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा चेति । 'तत्रेन्द्रियार्थ-समवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनान्तरभावी सत्तास्वान्तरजातिविशिष्टवस्तुग्रही^६ ज्ञानविशेषोऽवग्रह—यथाऽयं पुरुष इति । नाऽयं सशय, 'विषयान्तरव्युदासेन 'स्वविषयनिश्चायकत्वात् । 'तद्विपरीतलक्षणो हि सशय । 'यद्राजवार्त्तिकम्—'अनेकार्थानिग्विचिताऽप्युदासात्मक सशयस्तद्विपरीतोऽवग्रह'^७

१ सुवोच । २ अत्र न्यायदीपिकायाम् । ३ विस्तार्यते । ४ प्रत्यक्षमिति सम्बन्ध । ५ साव्यवहारिकप्रत्यक्षम् । ६ अवग्रहादिषु मध्ये । ७ इन्द्रियार्थयो समवधान सन्निपात सम्बन्ध इति यावत्, तत्पश्चादुत्पन्नो य सत्तालोचनरूप सामान्यप्रतिभासस्तस्यानन्तर जायमान, अथ चावान्तर-सत्ताविशिष्टवस्तुग्राहको यो ज्ञानविशेष सोऽवग्रह इति भाव । ८ स्वविषयादन्यो विषयो विषयान्तरम्, तस्य व्युदासो व्यवच्छेदस्तेन स्वविषयातिरिक्तविषयव्यवच्छेदेन । ९ स्वविषयभूतपरमार्थैककोटिनिश्चायको ह्यवग्रह । १० अवग्रहात्सर्वथा विपरीत सशय । ११ अवग्रह-सशययोर्भेदसाधक तत्त्वार्थराजवार्त्तिकीय लक्षण प्रदर्शयति यदिति । १२ अयमर्थ—नानार्थ-

[१-१५-८] इति । 'भाष्यं च—“सशयो हि निर्णय-
विरोधी नत्ववग्रहः” [१-१५-१०] इति । अवग्रहग्रहोता-
र्थसमुद्भूतसशयनिराशाय यतनमीहा । तद्यथा—पुरुष इति
निश्चितेऽर्थे किमय दाक्षिणात्यः उत्तौदीच्यः इति सशये
सति दक्षिणात्येन भवितव्यमिति तन्निरासायेहाख्यं ज्ञानं जायत
इति । भाषादिविशेषनिर्जानाद्याथात्म्यावगमनमवाय , यथा
दाक्षिणात्य एवायमिति । 'कालान्तराविस्मरणयोग्यतया तस्यैव

विषयक , अनिश्चयात्मक , विषयान्तरव्यवच्छेदक . सशयः । अवग्रहस्तु
तद्विपरीत —एकार्यविषयक , निश्चयात्मक , विषयान्तरव्यवच्छेदकश्चेति ।

१ तत्त्वार्थराजवार्तिकभाष्यम् । २ सति सशये पदार्थस्य निर्णयो न
भवति, अवग्रहे तु भवत्येवेति भावः । ३ ननु कथमीहाया ज्ञानत्वम् ?
यतो हीहाया इच्छारूपत्वाच्चेष्टात्मकत्वाद्वा, मैवम्, ईहा जिज्ञासा, सा
च विचाररूपा, विचारश्च ज्ञानम्, नातो कश्चिद्दोषः । तथा चोक्तम्—
'ईहा ऊहा तर्कं परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम् ।' तत्त्वार्था-
वि० भा० १-१५, 'ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयं तदुपयोगविशे-
पात् ।'—लघीय० स्वोपज्ञवि० का० ६, 'ज्ञानेने (ज्ञानमी)हाभिलाषात्मा
संस्कारात्मा न धारणा ॥ इति केचित्प्रभाषन्ते तच्च न व्यवतिष्ठते ।
विशेषवेदनस्येह दृढस्येहात्वसूचनात् ॥ × × अज्ञानात्मकताया तु संस्कार-
स्येह (हि)तस्य वा । ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव सास्ति च ।'—
तत्त्वार्थश्लोकवा० १-१५-१६, २०, २२, 'ईहा च यद्यपि चेष्टोच्यते
तथापि चेतनस्य सेति ज्ञानरूपैवेति युक्तं प्रत्यक्षभेदत्वमस्या'—प्रमाणमी०
१-१-२७, 'ईहा-धारणयोर्ज्ञानोपादानत्वात् ज्ञानरूपतोन्नेया'—प्रमाणमी०
१-१-३६ । ४ दक्षिणदेशीयः । ५ उत्तरदेशीयः । ६ अनुभवकालाद्भिन्न-
कालः कालान्तरमागामिसमय इत्यर्थः ।

ज्ञानं धारणा^१ । यद्वशादुत्तरकालेऽपि स^१ इत्येव स्मरण जायते ।

§ १२. ननु पूर्वपूर्वज्ञानगृहीतार्थग्राहकत्वादेतेषा^२ धारावाहिक-वदप्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेत्, न; विषयभेदेनागृहीतग्राहक-त्वात् । तथा हि—योज्वग्रहस्य विषयो नासावोहाया, य पुनरीहाया नायमवायस्य, यश्चावायस्य नैप^२ धारणाया इति परिशुद्धप्रति-भाना^३ सुलभमेवैतत् । 'तदेतदवग्रहादिचतुष्टयमपि यदेन्द्रियेण जन्यते तदेन्द्रियप्रत्यक्षमित्युच्यते, यदा पुनरनिन्द्रियेण तदाऽनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष गीयते'^४ । इन्द्रियाणि स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु श्रोत्राणि पञ्च, अनिन्द्रिय तु मन । तद्वयनिमित्तकमिदं 'लोकसव्यवहारे प्रत्यक्षमि-ति प्रसिद्धत्वात्साव्यवहारिक'^५ प्रत्यक्षमुच्यते । तदुक्तं परीक्षामुखे^३—

१ 'स्मृतिहेतुर्धारणा, सस्कार इति यावत्' लघी०स्वोपज्ञविवृ०का० ६ । ननु धारणाया कथं ज्ञानत्वम्, सस्काररूपत्वात् ? न च सस्कारस्य ज्ञान-रूपतेति चेत्, तन्न, उक्तमेव पूर्वम्—'ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वम्, तदु-पयोगविशेषात्' इति । 'अस्य ह्यज्ञानरूपत्वे ज्ञानरूपस्मृतिजनकत्वं न स्यात्, न हि सत्ता सत्तान्तरमनुविशति' (प्रमाणमी० १-१-२६) । 'अवग्रहस्य ईहा अवायस्य च धारणा व्यापारविशेष, न च चेतनोपादानो व्यापारविशेष अचेतनो युक्तोऽतिप्रसङ्गात्' (न्यायकुमु० पृ० १७३) । २ अवग्रहादीनाम् । ३ विशुद्धबुद्धीनाम् । ४ अवग्रहादिचतुष्टयस्यापि इन्द्रियानिन्द्रियजन्यत्वेन द्विविधत्वं प्रदर्शयति तदेतदिति । ५ कथ्यते । ६ लोकस्य य समीचीनो वावारहित प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपो व्यवहारस्तस्मिन् । ७ सव्यवहारप्रयोजनक साव्यवहारिकम्—अपारमार्थिकमित्यर्थ ।

१ 'स एवेत्येव' द प प्रतिपाठ । २ 'नैव' इति म प्रतिपाठ । ३ आ म मु प्रतिपु 'परीक्षामुखे' इति पाठो नास्ति ।

“इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशत साव्यवहारिकम्” (२-५) इति ।
 इदं चामुख्यप्रत्यक्षम्, उपचारसिद्धत्वात् । वस्तुतस्तु^१ परोक्षमेव,
 मतिज्ञानत्वात् । कुतो नु खल्वेतन्मतिज्ञानं परोक्षमिति ? उच्यते—
 “आद्ये परोक्षम्” [तत्त्वार्थमू० १-११] इति सूत्रणात् । आद्ये
 मति-श्रुतज्ञाने परोक्षमिति हि सूत्रार्थः । उपचारमूल^२ पुनरत्र
 देशतो वैगद्यमिति कृतं विस्तरेण ।

[पारमार्थिकप्रत्यक्षं लक्षयित्वा तद्भेदानां प्ररूपणम्]

§ १३ सर्वतो विगदं पारमार्थिकप्रत्यक्षम् । यज्ज्ञानं साक-
 ल्येन^३ स्पष्टं तत्पारमार्थिकप्रत्यक्षम्, मुख्यप्रत्यक्षमिति यावत् ।
 *तद् द्विविधम्—विकलं सकलं च । तत्र कतिपयविषयं विकलम् ।
 *तदपि द्विविधम्—अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं च^४ । तत्रावधिज्ञाना-
 वरणक्षयोपगमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमसहकृताज्जातं रूपिद्रव्य-
 मात्रविषयमवधिज्ञानम्^५ । मनःपर्ययज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोप-

१ ननु यदि प्रकृतं ज्ञानममुख्यतः प्रत्यक्षं तर्हि मुख्यतः किं स्यादित्यतः
 आह वस्तुतस्तुत्विति । २ इन्द्रियानिन्द्रियजन्यज्ञानस्योपचारतः प्रत्यक्षत्वकयने
 निमित्तम् । ३ सामस्येन । ४ पारमार्थिकप्रत्यक्षम् । ५ विकलमपि प्रत्यक्षम् ।
 ६ अवधिः सीमा मर्यादा इति यावत् । स विषयो यस्य ज्ञानस्य तदवधि-
 ज्ञानम् । अत एवेदं ज्ञानं सीमाज्ञानमपि कथ्यते । ‘अवायन्ति ब्रजन्तीत्य-
 वाया पुद्गलाः, तान् दधाति जानातीत्यवधिः’ × × ‘अवधानम् अवधिः ।
 कोऽर्थः ? अवस्ताद्बहुतरविषयग्रहणादवधिरुच्यते, देवाः खल्ववधिज्ञानेन-

१ सूत्रभणनात् इति मं प्रतिपाठः । २ ‘चेति’ पाठो मं आमुं प्रतिपुः ।

गमसमुत्थ परमनोगतार्थविषय मन पर्ययज्ञानम्^१ । मतिज्ञानस्ये-
वावधिमन पर्यययोरवान्तरभेदा^२ तत्त्वार्थराजवार्त्तिक-श्लोकवा-
त्तिकभाष्याभ्यामवगन्तव्या^३ ।

सप्तमनरकपर्यन्त पश्यन्ति । उपरि स्तोक पश्यन्ति, निजविमानध्वजदण्ड-
पर्यन्तमित्यर्थ^४ । '—तत्त्वार्थवृ० श्रु० १-६ । 'अवाग्वानात् (पुद्गलपरिज्ञा-
नात्) अवच्छिन्नविषयत्वाद्वा (रूपिविषयत्वाद्वा) अवधि ।' सर्वार्थ० १-६ ।

१ परिकीयमनोगतोऽर्थो-मन इत्युच्यते, साहचर्यात्तस्य पर्ययण परि-
गमन मन पर्यय ।' सर्वार्थ० १-६ । २ प्रभेदा । ३ तदित्यम्—'अनुगा-
म्यननुगामिवर्द्धमानहीयमानावस्थिताऽनवस्थितभेदात् षड्विधोऽवधि × ×
पुनरपरेऽववेस्त्रयो भेदा —देशावधि, परमावधि, सर्वावधिश्चेति । तत्र
देशावधिस्त्रेधा—जघन्य, उत्कृष्ट, अजघन्योत्कृष्टश्चेति । तथा परमा-
वधिरपि त्रिधा (जघन्य, उत्कृष्ट, अजघन्योत्कृष्टश्च) । सर्वावधिरवि-
कल्पत्वादेक एव । उत्प्रेषागुलासख्येयभागक्षेत्रो देगावधिर्जघन्य । उत्कृष्ट
कृत्स्नलोक । तयोरन्तरालेऽसख्येयविकल्प अजघन्योत्कृष्ट । परमावधिर्ज-
घन्य एकप्रदेशाधिकलोकक्षेत्र । उत्कृष्टोऽसख्येयलोकक्षेत्र, अजघन्योत्कृष्टो
मध्यमक्षेत्र । उत्कृष्टपरमावधिक्षेत्राद् बहिरसख्यातक्षेत्र. सर्वावधि । वर्द्ध-
मान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, अप्रति-
पाती, प्रतिपातीत्येतेऽष्टौ भेदा देगावधेर्भवन्ति । हीयमान-प्रतिपातिभेद-
वज्या इतरे षड्भेदा भवन्ति परमावधे । अवस्थितोऽनुगाम्यननुगाम्यप्रति-
पातीत्येते चत्वारो भेदा सर्वावधे ।'—तत्त्वार्थवा० १, २२, ४ । 'अनुगाम्यननु-
गामी वर्द्धमानो हीयमानोऽवस्थितोऽनवस्थित इति षड्विकल्पोऽवधि सप्रति-
पाताप्रतिपातयोरववान्तरभावात् । देगावधि परमावधि सर्वावधिरिति च
परमागमप्रसिद्धाना पूर्वोक्तयुक्त्या सम्भावितानामत्रोपसग्रहात् ।'—तत्त्वार्थ-
श्लो० भा० १-२२-१० । 'म मन पर्ययो द्वेधा । कुत ? सूत्रोक्तविकल्पात् ।
ऋजुमतिविपुलमतिरिति × × आद्य ऋजुमतिमन पर्ययस्त्रेधा । कुत ?
ऋजुमनोवावकायविषयभेदात् । ऋजुमनरकृतार्थज्ञ, ऋजुवाककृतार्थज्ञ,

§ १४ सर्वद्रव्यपर्यायविषय सकलम् । 'तच्च 'घातिसघात-
निरवशेषघातन।समुन्मीलित केवलज्ञानमेव । "सर्वद्रव्यपर्यायिषु
केवलस्य" [तत्त्वार्थसू० १-२६] इत्याज्ञापितत्वात् २ ।

§ १५ तदेवमवधि-मन पर्याय-केवलज्ञानत्रय सर्वतो वैशद्यात्
पारमार्थिकप्रत्यक्षम् । सर्वतो वैशद्य 'चात्ममात्रसापेक्षत्वात् ।

ऋजुकायकृतार्थश्चेति । द्वितीयो विपुलमति पोढा भिद्यते । कुत ?
ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात् । ऋजुविकल्पा पूर्वोक्ता, वक्रविकल्पाश्च
तद्विपरीता योज्या'—तत्त्वार्थवा० १, २३, ६-८ । एवमेव श्लोकवार्तिके
(१-२३) मन पर्यायभेदा प्रोक्ता ।

१ पारमार्थिकप्रत्यक्षमिति सम्बन्ध । २ सकलप्रत्यक्षम् । ३ घातिनां
ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयान्तरायकर्मणा संघात समूहस्तस्य निर-
वशेषेण सामस्त्येन घातनात् क्षयात्समुन्मीलित जातमित्यर्थ । ४ 'सर्व-
ग्रहण निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थम् । ये लोकालोकभिन्नास्त्रिकालविषया द्रव्य-
पर्याया अनन्ता, तेषु निरवशेषेषु केवलज्ञानविषयनिबन्ध इति प्रतिपत्त्यर्थ
सर्वग्रहणम् । यावाँल्लोकालोकस्वभावोऽनन्तस्तावन्तोऽनन्तानन्ता यद्यपि
स्युस्तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्यपरिमितमाहात्म्य केवलज्ञान वेदित-
व्यम् ।' तत्त्वार्थवा० १, २६, ६ । ५ विषयनिबन्ध (सम्बन्ध) इति शेष ।
६ आत्मानमेवापेक्ष्यतानि त्रीणि ज्ञानान्युत्पद्यन्ते, नेन्द्रियानिन्द्रियापेक्षा
अत्रास्ति । उक्तं च—' .. अत एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो
यथाऽऽलोकानपेक्षा ।'—अष्टश० का० ३, 'न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्ध-
सम्भवति साक्षात्परम्परया वा । ननु चावधि-मन पर्यायज्ञानिनोर्देशतो
विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शनयो कथमक्षानपेक्षा सलक्षणीया ? तदावरण-

१ म मु प्रत्यो 'घातनात्' इति पाठ । २ 'इत्यादिज्ञापितत्वात्' इति
व प प्रतिपाठ । ३ 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' इति म मु प्रतिपाठ ।

§ १६ 'नन्वस्तु केवलस्य पारमार्थिकत्वम् अवधि-मन.पर्ययोस्तु न युक्तम्, विकलत्वादिति चेत्, न', साकल्य-वैकल्ययोरत्र विषयोपाधिकत्वात्^१ । तथा हि—सर्वद्रव्यपर्यायविषयमिति केवल सकलम् । अवधि-मन पर्ययौ तु कतिपयविषयत्वाद्विकलौ । नैता-
वता तयो पारमार्थिकत्वच्युतिः^२ । केवलवत्तयोरपि वैशद्य स्व-
विषये साकल्येन समस्तीति तावपि पारमार्थिकावेव^३ ।

[अवध्यादित्रयस्यातीन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रतिपादनम्]

§ १७ 'कश्चिदाह—'अक्ष नाम चक्षुरादिकमिन्द्रियम्, 'तत्

क्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूम ।'—अष्टस० पृ ५० ।

१ अवधिमन पर्ययो पारमार्थिकत्वाभावमाशङ्कते नन्विति । २ समा-
वृत्ते नेति । अयं भाव —अत्र हि केवलस्य यत्सकलप्रत्यक्षत्वमवधिमन -
पर्ययोश्च विकलप्रत्यक्षत्वमुक्तं तद्विषयकृतम् । सकलरूप्यरूपिपदार्थविषयत्वेन
केवल सकलप्रत्यक्षमुच्यते, रूपिमात्रविषयत्वेन चावधिमन पर्ययौ विकलप्रत्य-
क्षौ कथ्येते । ततो न तयो पारमार्थिकत्वहानि । पारमार्थिकत्वप्रयोजक हि
स्वविषये साकल्येन वैशद्यम्, तच्च केवलवत्तयोरपि विद्यत एवेति । ३
विषय उपाधिनिमित्तं ययोस्तौ विषयोपाधिकौ विषयनिमित्तकौ तयोर्भाव-
न्तत्त्व तस्मात् विषयोपाधिकत्वात् विषयनिमित्तकत्वादित्यर्थः । ४ पारमा-
र्थिकत्वाभावः । ५ एवकारेणापारमार्थिकत्वव्यवच्छेदः, नेन नापारमार्थिकौ
इति फलति । ६ 'अक्षमक्ष प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्, अक्षाणि इन्द्रिया-
णि'—प्रशस्त०भा० पृ ६४ । 'अक्षमक्ष प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्'—
न्यायप्र० पृ ७ । ये खलु 'इन्द्रियव्यापारजनित प्रत्यक्षं—अक्षमक्ष प्रति
यद्वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्यभ्युपगमात्' (सर्वार्थ० १-१२) इति प्रत्यक्षलक्षण-
मामनन्ति तेषामियं शङ्का, ते च वंशेषिकादयः । ७ इन्द्रियमाश्रित्य ।

प्रतीत्य 'यदुत्पद्यते तदेव प्रत्यक्षमुचितम्, नान्यत्'^१ []
 इति, 'तदसत् आत्ममात्रसापेक्षाणामवधिमन पर्ययकेवलाना-
 मिन्द्रियनिरपेक्षाणामपि प्रत्यक्षत्वाविरोधात् । स्पष्टत्वमेव हि
 प्रत्यक्षत्वप्रयोजक^२ नेन्द्रियजन्यत्वम्^३ । अत एव^४ हि मतिश्रुतावधि-
 मन पर्ययकेवलाना ज्ञानत्वेन 'प्रतिपन्नाना मध्ये "आद्ये परोक्षम्"
 [तत्त्वार्थसू० १-११] "प्रत्यक्षमन्यत्" [तत्त्वार्थसू० १-१२] इत्या-
 द्ययोर्मतिश्रुतयो परोक्षत्वकथनमन्येषा त्ववधिमन पर्ययकेवलाना
 'प्रत्यक्षत्ववाचोयुक्ति ।

§ १८ कथ पुनरेतेषा^५ प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वम्^६ ? इति चेत्,
 रुढित^७ इति ब्रूम ।

१ यज्ज्ञानम् । २ नेन्द्रियनिरपेक्षम्, तथा च नावध्यादित्रय प्रत्यक्ष-
 मिति शङ्कितुराशय । ३ तदयुक्तम् । ४ प्रत्यक्षताया निवन्धनम् । ५ यतो
 हि 'यदि इन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञान प्रत्यक्षमिष्यते, एव सत्याऽऽप्तस्य प्रत्यक्ष-
 ज्ञान न स्यात् । न हि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगम ।—सर्वार्थ० १-१२ ।
 ६ स्पष्टत्वस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वदेव, यत एव स्पष्टत्व प्रत्यक्षत्वप्रयोजक
 तत एव इत्यर्थः । ७ अभ्युपगतानामवगतानामिति यावत् । ८ प्रत्यक्षत्व-
 प्रतिपादन सङ्गत सूत्रकाराणाम् । यदाह अकलङ्कदेवोऽपि 'आद्ये परोक्षमपर
 प्रत्यक्ष प्राहुराज्जसम् ।'—न्यायवि० का० ४७४ । ९ अवधिमन पर्यय-
 केवलानाम् । १० कथनयोग्यता, व्यपदेश इति यावत् । ११ अक्षमक्षं प्रति
 यद्वर्तते तत्प्रत्यक्षमितीम प्रत्यक्षशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थमनाश्रित्यार्थसाक्षात्कारि-
 त्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात् । 'अक्षाश्रितत्व च व्युत्पत्तिनिमित्त शब्दस्य
 (प्रत्यक्षशब्दस्य), न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन त्वक्षाश्रितत्वेन एकार्थ-
 नमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते तदेव च शब्दस्य (प्रत्यक्षशब्दस्य) प्रवृत्ति-

§ १६ अथवा^१ अक्षणोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तन्मात्रापेक्षोत्पत्तिक प्रत्यक्षमिति 'किमनुपपन्नम्' ? तर्हि इन्द्रिय-जन्यमप्रत्यक्ष प्राप्तमिति चेत्, हन्त विस्मरणशीलत्व वत्सस्य^२ । अवोचाम खल्वौपचारिक प्रत्यक्षत्वमक्षजज्ञानस्य^३ । ततस्तस्या-^४ 'प्रत्यक्षत्वं काम^५ प्राप्नोतु, का नो^६ हानि । 'एतेन "अक्षेभ्यः

निमित्तम् । ततश्च यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत्प्रत्यक्षमुच्यते । यदि चाक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यादिन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि, यथा गच्छतीति गौ इति गमनक्रियाया व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तोक्तोक्तिरिति तथा च गच्छति अगच्छति च गवि गोगवद सिद्धो भवति'—न्यायविन्दुटी० पृ० ११ । तथा प्रकृतेऽपि अक्षजन्येऽनक्षजन्ये च ज्ञाने प्रत्यक्षगवद प्रवर्तते । अतो युक्तमेवावध्यादित्रयाणामिन्द्रियनिरपेक्षाणामपि प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वम्, स्पष्टत्वापरनामार्थसाक्षात्कारित्वस्य तत्र प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावादिति भावः ।

१ यद्ययमाग्रहं स्याद्व्युत्पत्तिनिमित्तं नैव भाव्यमिति तदा तदप्याह अथवेति । यथोक्तं श्रीप्रभाचन्द्र^१रपि—'यदि वा, व्युत्पत्तिनिमित्तमप्यत्र विद्यत एव । तथा हि—अक्षशब्दोऽयमिन्द्रियवत् आत्मन्यपि वर्तते, अक्षणोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा इति व्युत्पत्तेः । तमेव क्षीणोपशान्तावरण क्षीणावरणं वा प्रति नियतस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षशब्दातिशयता सुघटैव ।'—न्यायकु० पृ० २६ । २ नायुक्तमिति भावः । ३ बालस्य, विस्मरणशील प्रायो बाल एव भवति, अत उक्तं वत्सस्येति । ४ इन्द्रियजन्यज्ञानस्य । ५ इन्द्रियजन्यज्ञानस्य । ६ यथेष्टम् । ७ अस्माकम्—जैनानाम् । ८ 'अक्षमक्ष प्रतीत्य यदुत्पद्यते तत्प्रत्यक्ष' इति, 'अक्षमक्ष प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्' इति वा प्रत्यक्षलक्षणनिरसनेन ।

परावृत्त' परोक्षम्" [] इत्यपि 'प्रतिविहितम्, अवै-
शद्यस्यैव परोक्षलक्षणत्वात्' ।

§ २० 'स्यादेतत् अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमस्तोत्यतिसाहसम्;
'असम्भावितत्वात् । यद्यसम्भावितमपि कल्प्येत, गगनकुसुमा-
दिकमपि कल्प्य स्यात्, न^१ स्यात्, गगनकुसुमादेऽप्रसिद्धत्वात्,
'अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य तु प्रमाणसिद्धत्वात् । तथा हि—केवलज्ञानं
तावत्किञ्चिज्ज्ञाना कपिलादीनामसम्भवदप्यर्हत् सम्भवत्येव ।
सर्वज्ञो हि स भगवान् ।

१ व्यावृत्त रहितमति यावत् । 'अक्षेभ्यो हि परावृत्त परोक्षम्—
तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८३ । २ निरस्तम् । ३ यदाहाऽकलङ्कदेव —'इतरस्य
(अविशदनिर्भासिनो ज्ञानस्य) परोक्षता'—लघी० स्वी० वि० का ३ ।
४ अतीन्द्रियप्रत्यक्षाभावमाशङ्कते स्यादेतदिति । ५ लोके खलु इन्द्रियैरुत्पन्न-
मेव ज्ञान प्रत्यक्षमुच्यते प्रसिद्ध च, नत्विन्द्रियनिरपेक्षम्, तदन्तरेण तदुत्पत्ते
रसम्भवादिति भावः । ६ इन्द्रियनिरपेक्षस्यापि प्रत्यक्षज्ञानस्योत्पत्ते सम्भ-
वात् । न हि सूक्ष्मान्तरितदूरार्थविषयक ज्ञानमिन्द्रियैः सम्भवति, तेषां
सन्निहितदेशविषयकत्वात्सम्बद्धवर्तमानार्थग्राहकत्वाच्च, 'सम्बद्ध वर्तमान
च गृह्यते चक्षुरादिना' (मी० श्लो० सू० ४ श्लो० ८४) इति भावत्क-
वचनात् । न च तज्ज्ञान प्रत्यक्षमेव नास्ति, चोदनाप्रभवत्वात् । 'चोदना
हि भूत भवन्त भविष्यन्त विप्रकृष्टमित्येवजातीयकमर्थमवगमयितुमल-
पुरुषविशेषान्' (गावरभा० १-१-२) इति वाच्यम्, तज्ज्ञानस्यावैशद्येन
परोक्षत्वात् । न हि शब्दप्रभवं ज्ञान विशद साक्षाद्रूप च । प्रत्यक्षज्ञान
तु विशद साक्षाद्रूप च । अत एव तयो साक्षात्त्वेनासाक्षात्त्वेन भेदः ।

१ आ प्रतौ 'इति चेन्न' इति पाठः । २ म मु प्रत्यो 'गगनकुसुमादि' पाठः ।

[प्रासङ्गिकी सर्वज्ञसिद्धि]

§ २१ 'ननु सर्वज्ञत्वमेवाप्रसिद्ध किमुच्यते' सर्वज्ञोऽर्हन्निति, क्वचिदप्यप्रसिद्धस्य^१ विषयविशेषे^२ व्यवस्थापयितुमशक्तेरिति चेत्, न, सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा, अनुमेयत्वात्, अग्न्यादिवत्, इत्यनुमानात्सर्वज्ञत्वसिद्धे । तदुक्त 'स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे'—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्था प्रत्यक्षा कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थिति ॥

[का० ५] इति । ।

§ २२ सूक्ष्मा स्वभावविप्रकृष्टा परमाण्वादय, 'अन्तरिता. कालविप्रकृष्टा रामादय, दूरा^२ देशविप्रकृष्टा मेवादय । एते

तथा चोक्त समन्तभद्रस्वामिभि—'म्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने । भेद साक्षादसाक्षाच्च . ' आप्नमी० १०५ । सम्भवति च सूक्ष्मादीना साक्षाद्रूप ज्ञानम् । साक्षात्कृतेरेव सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनत्ति (केवलाख्येन प्रत्यक्षेण केवली), नान्यत (नागमात्) इति' (अष्टश० का० १०५) इति वचनात् । अतोऽतीन्द्रिय प्रत्यक्षमस्तीति युज्यते ।

१ सर्वज्ञाभाववादी मीमांसकश्चावाकश्चात्र शङ्कते नन्विति । २ भवता जनेन । ३ कपिलादीना मध्ये कस्मिंश्चिदपि अग्रतीतस्य सर्वज्ञत्वस्य । ४ व्यक्तिविशेषे अर्हति । ५ समन्तभद्राचार्ये । ६ देवागमाभिवाप्त-मीमांसाप्रकरणे । ७ व्यवहिता कालापेक्षयेत्यर्थ ।

स्वभावकालदेगविप्रकृष्टा पदार्था धर्मित्वेन विवक्षिता । तेषा
कस्यचित्प्रत्यक्षत्व साध्यम् । 'इह प्रत्यक्षत्व प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वम्,
विषयिधर्मस्य' विषयेऽप्युपचारोपपत्ते । अनुमेयत्वादिति हेतुः ।
अग्न्यादिर्दृष्टान्तः । अग्न्यादावनुमेयत्व कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन सहो-
पलब्ध परमाण्वादावपि कस्यचित्प्रत्यक्षत्व साध्यत्येव । न चाण्वा-
दावनुमेयत्वमसिद्धम्^१, 'सर्वेषामप्यनुमेयमात्रे' विवादाभावात् ।

§ २२ 'अस्त्वेव सूक्ष्मादीना प्रत्यक्षत्वसिद्धिद्वारेण कस्यचि-
दशेषविषय प्रत्यक्षज्ञानम् । तत्पुनरतीन्द्रियमिति कथम्? इत्थम्—
यदि 'तज्ज्ञानमैन्द्रियिक' स्यात् अशेषविषय न स्यात्, इन्द्रियाणा
स्वयोग्यविषय एव ज्ञानजनकत्वशक्ते । सूक्ष्मादीनां च 'तदयोग्य-

१ अत्रानुमाने । २ ज्ञानधर्मस्य प्रतिभासस्य, अयमाशयः—'सूक्ष्मादया
कस्यचित्प्रत्यक्षा' इत्यत्र सूक्ष्मादीना यत्प्रत्यक्षत्वमुक्तं तद्वि प्रत्यक्षज्ञान-
वृत्तिर्धर्मो न तु सूक्ष्मादिपदार्थवृत्तिस्तत्कथं सूक्ष्मादीना प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनं
श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याणां सङ्गतम् ? अस्येदं समाधानम्—प्रत्यक्षत्वमत्र
प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वं विवक्षितम्, तथा च सूक्ष्मादीना प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वे-
नोपचारतस्तेषां प्रत्यक्षत्वमुक्तं 'घट प्रतिभासते, पट प्रतिभासते, घटज्ञानम्,
पटज्ञानम्' इति भवति हि व्यवहारो न च घटस्य प्रतिभासः पटस्य वा
प्रतिभासः, तस्य ज्ञानधर्मत्वात् । एव न घटस्य ज्ञानं पटस्य वा ज्ञानम्,
तस्यात्मनिष्ठत्वेन घटपटादिनिष्ठत्वासम्भवात्, आत्मनो हि तद् गुणस्तथापि
तथा व्यवहारो भवत्येव । एव प्रकृतेऽपि बोध्यम् । ३ वादिप्रतिवादिनाम् ।
४ अण्वादेरनुमानविषयतायाम् । ५ पुनरपि अतीन्द्रियप्रत्यक्षाभावमाशङ्कते
अस्त्वेवमिति । ६ सर्वज्ञज्ञानम् । ७ इन्द्रियजम् । ८ इन्द्रियायोग्यविषय-
त्वान्, न हीन्द्रियाणि सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमनम्, सम्बद्धवर्तमानार्थ-

त्वादिति । तस्मात्सिद्ध तदशेषविषय ज्ञानमनैन्द्रियकमेव' इति ।

विषयत्वात् । किञ्च, इन्द्रियाणि सकृत्सर्वार्थसाक्षात्करणे बाधकान्येव आवरणनिवन्धनत्वात् । तदुक्तम्—'भावेन्द्रियाणामावरणनिवन्धनत्वात् । कात्स्न्यतो ज्ञानावरणसक्षये हि भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् सिद्ध । न च सकलावरणमक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिवन्धनाना सम्भव, कारणाभावे कार्यानुपपत्ते' अष्टस० पृ० ४५ । श्रीमाणिक्यनन्द्याह—'सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिवन्धमम्भवात्' परीक्षा० २-१३ । अकलङ्कदेवैरप्युक्तम्—

कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्मपटलाच्छता ।

ससारिणा तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादय ॥

साक्षात्कर्तुं विरोधः क सर्वथाऽऽवरणात्यये ? ।

सत्यमर्थं तथा सर्वं ययाऽभूद्वा भविष्यति ॥'

न्यायवि० ३६१, ३६२ ।

अथ 'न कश्चिद्भवभूदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवास्तथा सम्भाव्यते, इत्यपि न शङ्का श्रेयसी, तस्य भवभूता प्रभुत्वात् । न हि भव-भृत्साम्ये दृष्टो धर्म सकलभवभृत्प्रभौ सम्भावयितुं शक्य, तस्य ससारिजन-प्रकृतिमभ्यतीतत्वात्' (अष्टस० पृ० ४५) । कथं ससारिजनप्रकृतिमभ्य-तीतोऽसौ ? इत्यत आह—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यत ।

तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद न ॥

स्वयभूस्तोत्र का० ७५ ।

ननस्तदशेषविषय ज्ञानमतीन्द्रियमेव, अशेषविषयत्वान्यथानुपपत्तेरिति ध्येयम् । प्रत्यक्ष विशदज्ञानात्मक 'प्रत्यक्षत्वात्' इति वत् 'विशेष धर्मिण कृत्वा मामान्य हेतु ब्रुवता दोषासम्भवात्' (प्रमाणप० पृ० ६७) ।
१ इन्द्रियेभ्यो निष्क्रान्तम्—अतीन्द्रियमित्यर्थ ।

। म सु 'अतीन्द्रियकमेव' इति पाठ ।

अस्मिञ्चार्ये' सर्वेषां सर्वज्ञवादिनां न विवादः । यद्वाह्या अप्याहुः
—“अदृष्टादयः कस्यचित्प्रत्यक्षा प्रमेयत्वात् ।” [] इति ।

[सामान्यतः प्रसिद्धस्य नार्वश्यम्यार्हति प्रमाद्यनम्]

§ २४ नन्वस्त्वेवमपेक्षविषयसात्कात्कारित्वलक्षणमतीन्द्रिय-
प्रत्यक्षज्ञानम्, तच्चार्हत इति कथम् ? कस्यचिदिति सर्वनाम्नः
सामान्यज्ञापकत्वादिति चेत्, सत्यम्, ‘प्रकृतानुमानात्सामान्यतः
सर्वज्ञत्वसिद्धिः । अर्हत एतदिति । पुनरनुमानान्तरात्’ । ‘तथा हि—
अर्हन् सर्वज्ञो भवितुमर्हति, निर्दोषत्वात्, यस्तु न सर्वज्ञो नासौ
निर्दोषः, यथा रथ्यापुरुष इति ‘केवलव्यतिरेकिलिङ्गकमनुमानम् ।

१ विषये, अनुमेयत्वादिहेतुना सूक्ष्मादीनां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसाधने
इति यावत् । २ जैनेतरा नैयायिकादयः । ३ यथा हि—स्वर्गादयः कस्य-
चित्प्रत्यक्षा वस्तुत्वादागमविषयत्वात्, यद्वस्तु यच्च कथ्यते तत्कस्य-
चित्प्रत्यक्षं भवति, यथा घटादि—न्यायवा० १-१-७, ‘वर्मं कस्यचित्प्रत्यक्ष-
प्रमेयत्वात् वानोवदिनि, यस्य प्रत्यक्षं स योगी’—प्रमाणसू० पृ० ६ ।
४ अदृष्टगद्देन पुण्यपापद्वयमुच्यते, अदृष्टमादिर्येषां ते अदृष्टादयः पुण्यपापा-
दयोऽनीन्द्रियार्थाः । ५ ‘सूक्ष्मान्तरितद्वारार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्’
इत्यस्मादनुमानात् । ६ सर्वज्ञत्वम् । ७ वक्ष्यमाणादव्यस्मादनुमानात् ।
८ अनुमानान्तरमेव प्रदर्शयति तथा हीति । ९ व्यतिरेकव्याप्तिकाल्लिङ्गात्
यदनुमानं क्रियते तद्व्यतिरेकिलिङ्गकानुमानमुच्यते । माध्याभावे साधना-
भावप्रदर्शनं व्यतिरेकव्याप्तिः । तथा च प्रकृतानुमाने सर्वज्ञत्वरूपसाध्याभावे
निर्दोषत्वरूपसाधनाभावः प्रदर्शितः । तत इदं व्यतिरेकिलिङ्गकानुमानम् ।
नन्वाशुबोधजनकमन्वयिलिङ्गकमेवानुमानं वाच्यम्, न केवलव्यतिरेक-

§ २५ आवरणरागादयो दोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्व हि निर्दोष-
त्वम् ।^१ तत्त्वलु सर्वज्ञत्वमन्तरेण । नोपपद्यते, किञ्चिज्ज्ञस्यावरणा-
दिदोषरहितत्वविरोधात् । ततो निर्दोषत्वमर्हति विद्यमान सार्वज्ञ्य
साधयत्येव । निर्दोषत्व पुनरर्हत्परमेष्ठिनि युक्ति-शास्त्राविरोधि-
वाक्त्वात्सिद्धयति । युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्त्व च ^२तदभिमतस्य
मुक्ति-ससारतत्कारण[त]त्त्वस्यानेकधर्मात्मकचेतनाचेतन^२तत्त्व-
स्य च^३ 'प्रमाणावाधितत्वात्मुव्यवस्थितमेव ।

लिङ्गकम्, तस्य वक्तृत्वेनाशु बोधजनकत्वाभावात् 'ऋजुमार्गेण सिद्धयन्त को
हि वक्रेण साधयेत्' (वैशे० सूत्रोप० २-१-१) इति वचनात् । किञ्च,
व्यतिरेकिणि लिङ्गिनि बहूनि दूषणानि सम्भवन्ति । तथा हि—

'साध्याप्रसिद्धिर्वैषम्य व्यर्थतोपनयस्य च ।

अन्वयेनैव सिद्धिश्च व्यतिरेकिणि दूषणम् ॥'

—वैशे० सूत्रोप० २-१-१ इति ।

ततो न तल्लिङ्गकमनुमान युक्तमिति चेत्, न, व्याप्तिमद्व्यतिरेकि-
णोऽपि लिङ्गस्यान्वयिवदाशुबोधजनकत्वात् । व्याप्तिशून्यस्य तूभयस्याऽप्य-
गमकत्वात् । अत एवान्तर्व्याप्त्यैव सर्वत्र साध्यसिद्धेरभ्युपगमात्स्याद्वादमि ।
यदुक्तम्—'बहिर्व्याप्तिमन्तरेणान्तर्व्याप्त्या सिद्धम् । यत इयमेवान्यत्रापि
प्रवाना' आप्तमी० वृ० ६ । सा च प्रकृते केवलव्यतिरेकिर्लिङ्गकानुमानेऽपि
विद्यत एव । ततो नोक्तदोष ।

१ निर्दोषत्वम् । २ अर्हदभिमतस्य । ३ प्रमाणेन वाधितुमशक्यत्वात् ।
तथा हि—तत्र तावद्भगवतोऽभिमत मोक्षतत्त्व न प्रत्यक्षेण वाच्यते, तस्य
तदविषयत्वेन तद्वाधकत्वायोगात् । नाऽप्यनुमानेन 'नास्ति कस्यचिन्मोक्ष ,

१ आ म मु 'सर्वज्ञमन्तरेण' पाठ । २ आ म मु प्रतिपु 'चेतनाचेत-
नात्मक' पाठ । ३ आ म प मु प्रतिपु 'च' पाठो नास्ति ।

§ २६ 'एवमपि सर्वज्ञत्वमर्हत् एवेति कथम् ? कपिलादीना-
मपि सम्भाव्यमानत्वादिति चेत्; उच्यते—कपिलादयो न सर्वज्ञा-
सदोषत्वात् । सदोषत्व तु तेषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात् । 'तच्च
'तदभिमतमुक्त्यादितत्त्वस्य सर्वथैकान्तस्य' च 'प्रमाणत्राविन-

सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वात्, कूर्मरोमादिवत्' इत्यादिरूपेण, तस्य
मिथ्यानुमानत्वात्, मोक्षस्यानुमानागमाम्यामस्तित्वव्यम्यापनात् । तद्यथा—
'क्वचिदात्मनि दोषावरणयोर्निश्शेषा हानिरस्ति, अतिशयानात् क्वचित्
कनकपापाणादौ किट्टिमादिमलक्षयवत्' इत्यनुमानात्मकलक्षयस्वभावस्य
मोक्षस्य प्रमिद्धे । 'वन्वहेत्वभाव-निर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष'
इत्यागमाच्च तत्प्रमिद्धे । तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि न प्रमाणेन बाध्यते,
प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षाप्रतीतेस्तेन तद्वाचनायोगात् । नाऽप्यनुमानेन, तस्य
मोक्षकारणस्यैव प्रसावकत्वात् । सकारणको मोक्ष प्रतिनियतकालादित्वात्
पटादिवदिति । तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र तत्सद्भावप्रसङ्ग स्यात्,
परापेक्षारहितत्वात् । आगमेनापि मोक्षकारणतत्त्व न बाध्यते, प्रत्युत तस्य
नत्सावकत्वात् । 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः' (तत्त्वार्थसू० १-१)
इति वचनात् । एव सभारततत्त्व ससारकारणतत्त्वमनेकान्तात्मकवस्तुतत्त्व च
प्रमाणेनाबाध्यमान बोद्धव्यमिति संक्षेपः । विस्तरतत्त्वष्टमहत्तया (देवा-
गमालङ्कारे) विद्यानन्दस्वामिभिर्निरूपितम्

१ निर्दोषत्वेन हेतुना अर्हत् सर्वज्ञत्वमिदवापि । २ न्यायोऽनुमानम्,
आगम शास्त्रम्, ताभ्या विरुद्धभाषिणो विपरीतवादिन, तेषा भावस्तत्त्व
तस्मात् । 'ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषा, यथा दुर्वैद्यादयः,
तथा चान्ये कपिलादयः' अष्टस० पृ० ६६ । ३ न्यायागमविरुद्धभाषित्व
च । ४ कपिलाद्यभिमतमुक्तिसभारतत्कारणतत्त्वस्य । ५ नित्याद्येकान्तस्य ।
६ प्रमाणेन बाध्यत्वात्, तद्यथा—कपिलस्य तावत् 'तदा दृष्टुं स्वरूपेऽव-

त्वात् । 'तदुक्त 'स्वामिभिरेव—

'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो 'यदिष्ट ते 'प्रसिद्धेन न 'वाध्यते ॥

स्थानम् (योगसू० १-३) स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानमात्मनो मोक्ष इत्यभिमतम्, तत्प्रमाणेन वाध्यते, चैतन्यविशेषेऽनन्तज्ञानादौ स्वरूपेऽवस्थानस्य मोक्षत्वप्रसाधनात् । न हि अनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूप सर्वज्ञत्वादि-विरोधात् । अथ सर्वज्ञत्वादि प्रधानस्य स्वरूपम्, नात्मन इति चेन्न, तस्या-चेतनत्वान्न सर्वज्ञत्वादि तत्स्वरूपम्, आकाशवत् । ज्ञानादयश्च नाचेतन-वर्मा, स्वसवेदनस्वरूपत्वादनुभववदिति न चैतन्यमात्रेऽवस्थान मोक्ष, अपि त्वनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेऽवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीते । एतेन बुद्ध्यादि-गुणोच्छेदो मोक्ष इति वैशेषिका, अनन्तसुखमेव मुक्तस्य न ज्ञानादिकमि-त्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष इति वेदान्तिनः, निराश्रयचित्तसन्तत्यु-त्पादो मोक्ष इति बौद्धाः, तेषां सर्वेषामपि मोक्षतत्त्व प्रमाणेन वाधित ज्ञेयम्, अनन्तज्ञानादिस्वरूपोपलब्धेरेव मोक्षत्वसिद्धे । एवमेव कपिलादिभिर्भाषित मोक्षकारणतत्त्व समारतत्त्व ससारकारणतत्त्व च न्यायागमविस्मृद्वोद्ध-व्यम् । इत्यष्टसहस्रत्रयां सक्षेपो विस्तरतस्तु तत्रैव दृष्टव्यः ।

१ प्रकरणसारं स्वीकृतमेव समन्तभद्राचार्यस्य कथनेन सह सङ्गमयति तदुक्तमिति । २ समन्तभद्राचार्यः । ३ 'प्रमाणवलात् सामान्यतो य सर्वज्ञो वीतरागश्च सिद्धः स त्वमेवाहं, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्, यो यत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टो, यथा क्वचिद् व्याध्युपगमे भिषग्वरः । युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्तिससारतत्कारणेषु, तन्मान्निर्दोष इति' अष्टस० पृ० ६२ । अविरोधश्च, यस्मादिष्ट मोक्षादिक तत्त्व ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न वाध्यते । तथा हि—'यत्र यस्याभिमत तत्त्व प्रमाणेन न वाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् यथा गेगम्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे भिषग्वरः, न वाध्यते च भगवतोऽभिमत मोक्षसमारतत्कारण-

तत्त्वम्, तस्मात्तत्र त्व युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् इति विषयस्य (भगवतो मुक्त्यादितत्त्वस्य) युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो युक्ति-शास्त्राविरोधित्वसाधन (समर्थन प्रतिपत्तव्यम्) '—अष्टसं० पृ० ७२ ।

ननु इष्ट इच्छाविषयीकृतमुच्यते, इच्छा च वीतमोहस्य भगवत कथं सम्भवति? तथा च नासौ युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्, तन्न, इष्ट मत शासनमित्युपचर्यते, तथा च उपचारेण सयोगिव्यानवत्तदभ्युपगमे दोषाभावात् । अनुपचारतोऽपि भगवतोऽप्रमत्तेच्छास्वीकारे न दोषः । तदुक्तम्—

अप्रमत्ता विवक्षेयं अन्यथा नियमात्पयात् ।

इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम् ? ॥

—न्यायवि० का० ३५६

वस्तुतस्तु भगवतो वीतमोहत्वान्मोहपरिणामरूपाया इच्छायास्तत्रा-सम्भवात् । 'तथा हि—नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तं प्रणष्टमोह-त्वात् । यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तं न स प्रणष्टमोहो यथा किञ्चिज्ज्ञः, प्रणष्टमोहश्च सर्ववित्प्रमाणतः साधितस्तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशन-निमित्तम् ।' अष्टसं० पृ० ७२ । न चेच्छामन्तरेण वाक्प्रवृत्तिर्न सम्भव-तीति वाच्यम्, नियमाभावात् । 'नियमाभ्युपगमे सुपुप्त्यादावपि निरभिप्राय-प्रवृत्तिर्न स्यात् । न हि सुपुप्तौ गोत्रस्खलनादौ वाग्व्यवहारादिहेतुरिच्छास्ति' अष्टसं० पृ० ७३, ततो न वाक्प्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वनियमः, तस्य सुपुप्त्यादिना व्यभिचारात्, अपि तु 'चैतन्य-करणपाटवयोरेव साधकतमत्वम्' (अष्टशं०, अष्टसं० पृ० ७३) वाक्प्रवृत्तौ, सवित्करणपाटवयो सत्त्वे एव वाक्प्रवृत्ते-सत्त्वं तदभावे चासत्त्वम् । 'तस्माच्चैतन्य-करणपाटवं च वाचो हेतुरेव निय-मतो न विवक्षा, विवक्षामन्तरेणापि सुपुप्त्यादौ तद्दर्शनात्' । किञ्च, इच्छा वाक्प्रवृत्तिहेतुर्न 'तत्प्रकर्षाप्रकर्षानुविधानाभावाद् बुद्ध्यादिवत् । न हि यथा बुद्धेः शक्तेश्च प्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते तथा दोषजाते (इच्छायाः) अपि, तत्प्रकर्षे वाचोऽपकर्षात् तदपकर्षे एव तत्प्रकर्षात्,

‘त्वन्मतामृतबाह्याना सर्वथैकान्तवादिनाम् ।

आप्ताभिमानदग्धाना स्वेष्ट दृष्टेन वाध्यते॥[आप्तमी का ६-७]

यतो वक्तुर्दोषजाति (इच्छा) अनुमीयेत’ । × × × ‘विज्ञानगुणदोषा-
भ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते, न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा ।
तदुक्तम्—

विज्ञानगुणदोषाभ्या वाग्वृत्तेर्गुणदोषता ।

वाञ्छन्तो वा न वक्तार शास्त्राणा मन्दबुद्धय ॥अष्टस०पृ० ७३ ।

अन्यच्चोक्तम्—

विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते ।

वाञ्छन्तो वा न वक्तार शास्त्राणा मन्दबुद्धय ॥

प्रज्ञा येषु पटीयस्य. प्रायो वचनहेतव ।

विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते ॥

—न्यायवि० ३५४-५५ ।

४ तत साधूक्त तत्रेष्ट शासन मतमिति । ५ प्रमाणेन अनित्यत्वा-
द्येकान्तधर्मेण वा । ६ अनेकान्तात्मक तवेष्ट तत्त्व नानित्यत्वाद्येकान्त-
धर्मेण वाध्यते तस्यासिद्धत्वात्, प्रमाणत सिद्धमेव हि कस्यचिद् वाधक
भवति । न चानित्यत्वाद्येकान्ततत्त्व प्रमाणत मिद्धम् ततो न तत्त्वाने-
कान्तशासनस्य वाधकमिति भाव ।

१ त्वन्मत त्वदीयमनेकान्तात्मक तत्त्व तज्ज्ञान च, तदेवामृत ततो बाह्या
बहिष्कृतास्तेषाम्, सर्वथैकान्तवादिना सर्वप्रकारैरनित्यत्वानित्यत्वाद्येकधर्मं
स्वीकुर्वताम्, ‘वयमाप्ता’ इत्यभिमानेन दग्धाना भस्मीभूताना कपिलादीना
स्वेष्टं सदाद्येकान्ततत्त्व प्रत्यक्षेणैव वाध्यते, अत किमनुमानादिविहित-
वाधाप्रदर्शनेन ? सकलप्रमाणज्येष्ठत्वात्प्रत्यक्षस्य । ‘न हि दृष्टाज्येष्ठ
गरिष्ठमिष्ट नाम’ । तत प्रत्यक्षवाधाप्रदर्शनेनैवानुमानादिवाधा प्रदर्शिता
भवतीत्यवसेयम् ।

§ २७ इति कारिकाद्वयेन एतयोरेव 'परात्माभिमततत्त्व-
वाधावाधयो' समर्थनं प्रस्तुत्य "भावैकान्ते"^१ [का० ६] इत्युप-
क्रम्य "स्यात्कार. सत्यलाञ्छन"^२ [का० ११२] इत्यन्त आप्त-
मीमांसासन्दर्भ इति कृत^३ विस्तरेण ।

§ २८ तदेवमतीन्द्रिय केवलज्ञानमर्हत् १ एवेति सिद्धम् ।
तद्वचनप्रमाण्याच्चावधिमन पर्यययोरतीन्द्रिययो सिद्धिरित्यती-
न्द्रियप्रत्यक्षमनवद्यम् । तत स्थित साव्यवहारिक पारमार्थिक
चेति द्विविध प्रत्यक्षमिति ।

इति श्रीपरमार्हताचार्य-धर्मभूषण-यति-विरचिताया
न्यायदीपिकायां प्रत्यक्षप्रकाशो द्वितीयः ॥२॥

१ पराभिमते कपिलाद्यभिमते तत्त्वे सर्वयैकान्तरूपे वाधा, आत्माभि-
मते जैनाभिमते तत्त्वेऽनेकान्तरूपेऽवाधा वाधाभावस्तयो । २ प्रस्तावभूत
कृत्वा ।

^३भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।

सर्वात्मिकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥६॥

^४सामान्यवाग् विशेषे चेन्न शब्दार्था मूषा हि सा ।

अभिप्रेतविशेषान्ते स्यात्कार. सत्यलाञ्छन. ॥११२॥

इति सम्पूर्णे कारिके । ५ अलम् । ६ 'वक्तु प्रामाण्यात् वचनप्रामा-
ण्यम्' इति न्यायादर्हत् प्रामाण्यसिद्धे नद्रुपदिष्टावतीन्द्रियावधिमन-
पर्ययावपि सिद्धाविति प्रतिपत्तव्यम् ।

३. परोक्षप्रकाशः

—. ❀ —

[परोक्षप्रमाणस्य लक्षणम्]

§ १ 'अथ परोक्षप्रमाणनिरूपणं प्रक्रम्यते । अविशदप्रतिभास-
परोक्षम् । अत्र परोक्षं लक्ष्यम्, अविशदप्रतिभासत्वं लक्षणम् ।
यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदो न भवति तत्परोक्षप्रमाण-
मित्यर्थः । वैशद्यमुक्तलक्षणम्^१ । 'ततोऽन्यदवैशद्यमस्पष्टत्वम् ।
'तदप्यनुभवसिद्धमेव ।

§ २ सामान्यमात्रविषयत्वं परोक्षप्रमाणलक्षणमिति केचित्^२,
तन्न, प्रत्यक्षस्येव परोक्षस्यापि सामान्य-विशेषात्मकवस्तुविषय-
त्वेन तस्य^३ लक्षणस्याऽसम्भवित्वात्^४ । 'तथा हि—घटादिविषयेषु
प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं प्रमाणं तद्गतं^५ सामान्याकारं^६ घटत्वादिकं
व्यावृत्ताकारं व्यक्तिरूपं^७ च 'युगपदेव प्रकाशयदुपलब्धं'^८,

१ द्वितीयप्रकाशे प्रत्यक्षप्रमाणं निरूप्येदानीमिह परोक्षप्रमाणस्य निरू-
पणं प्रारभते अथेति । २ स्पष्टत्वं वैशद्यं तदेव नैर्मल्यमित्युक्तं पूर्वं वैशद्य-
लक्षणम् । ३ वैशद्यात् । ४ विपरीतम् । ५ अवैशद्यमपि, यथा नैर्मल्यं
स्पष्टत्वमनुभवसिद्धं तथाऽस्पष्टत्वमनैर्मल्यमप्यनुभवसिद्धमेवेति भावः । ६
वौद्धा । ७ सामान्यमात्रविषयत्वमिति परोक्षलक्षणस्य । ८ असम्भवदोष-
दुष्टत्वात्, तथा च तस्य लक्षणाभासत्वमिति भावः । ९ परोक्षस्य सामान्य-
विशेषात्मकवस्तुविषयत्वमेव, न सामान्यमात्रविषयत्वमिति प्रदर्शयति तथा
हीति । १० घटादिनिष्ठम् । ११ अनुगताकारम् । १२ अघटादिभ्यो व्यव-
च्छेदात्मकम् । १३ सहैव । १४ अनुवृत्ताकारव्यावृत्ताकारोभयं विषयी-

तथा परोक्षमपीति^१ न सामान्यमात्रविषयत्वं परोक्षलक्षणम्, अपि त्ववैगद्यमेव । १ सामान्य-विशेषयोरेकतरविषयत्वे तु प्रमाण-त्वस्यैवाऽनुपपत्तिः २, सर्वप्रमाणानां सामान्य-विशेषात्मकवस्तुविषयत्वाभ्यनुज्ञानात्^२ । तदुक्तम्—“सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः”—[परीक्षा० ४-१] इति । तस्मात्सुष्ठूक्तं ‘अविशदावभासन परोक्षम्’ इति^३ ।

कुर्वत् दृष्टम् ।

१ इति शब्दोऽत्र हेत्वर्थे वर्तते, तथा च इति हेतोरित्यस्मात् कारणादित्यर्थः । २ असम्भवः । ३ अभ्युपगमात् । ४ अत्रेदं बोध्यम्—‘परोक्षमविशदज्ञानात्मकं परोक्षत्वात्, यन्नाविशदज्ञानात्मकं तन्न परोक्षम्, यथाऽतीन्द्रियप्रत्यक्षम्, परोक्षं च विवादाध्यासितं ज्ञानम्, तस्मादविशदज्ञानात्मकम्’—प्रमाणप० पृ० ६६ । ‘कुतोऽस्य परोक्षत्वम् ? परायत्तत्वात् ‘पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यं’ निमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोऽशमापेक्षस्यात्मन उत्पद्यमानं मतिश्च्युतं परोक्षमित्याख्यायते’—सर्वार्थ० १-११, न च परोक्षेण प्रमेयं न प्रमीयते परोक्षत्वादिति वाच्यम्, तस्यापि प्रत्यक्षस्यैव सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वाभ्युपगमात् । नाऽप्यस्याज्ञानरूपताऽप्रमाणता वा, ‘तत्प्रमाणे’ (तत्त्वार्थ-सू० १-१०) इति वचनेन प्रत्यक्षपरोक्षयोर्द्वयोरपि प्रमाणत्वाभ्युपगमात् । तदुक्तम्—

‘ज्ञानानुवर्त्तनात्तत्र नाज्ञानस्य परोक्षता ।

प्रमाणस्यानुवर्त्तेन परोक्षस्याप्रमाणता ॥’

—तत्त्वार्थश्लो० १, ११, ६ ।

१ द प्रती ‘एव’ इति पाठो नास्ति । २ द प्रती ‘त्ते’ इति पाठः ।

[परोक्षप्रमाण पञ्चधा विभज्य तस्य प्रत्ययान्तरमापेक्षत्वप्रतिपादनम्]

§ ३. 'तत् पञ्चविधम्-स्मृति, प्रत्यभिज्ञानम्, तर्क, अनुमानम्, आगमश्चेति । पञ्चविधस्याऽप्यस्य । परोक्षस्य 'प्रत्ययान्तरसापेक्षत्वेनैवोत्पत्तिः २ । तद्यथा-स्मरणस्य प्राक्तनानुभवापेक्षा, प्रत्यभिज्ञानस्य स्मरणानुभवापेक्षा, तर्कस्यानुभव-स्मरण-प्रत्यभिज्ञानापेक्षा, अनुमानस्य च लिङ्गदर्शनाद्य' पेक्षा, आगमस्य शब्द-श्रवण-सङ्केतग्रहणाद्यपेक्षा, प्रत्यक्षस्य ३ तु न तथा 'स्वातन्त्र्येणैवोत्पत्तेः । स्मरणादीनां प्रत्ययान्तरापेक्षा तु 'तत्र तत्र निवेदयिष्यते ।

[स्मृतेरनिरूपणम्]

§ ४. तत्र च ४ का नाम स्मृतिः ? तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तु-विषया स्मृतिः, यथा स देवदत्त इति । अत्र हि प्रागनुभूत एव देवदत्तस्तत्तया^१ प्रतीयते । तस्मादेषा प्रतीतिस्तत्तोलेखिन्यनुभूत-विषया च, अननुभूते विषये तदनुत्पत्तेः । 'तन्मूल चानुभवो धारणारूप एव' अवग्रहाद्यनुभूतेऽपि धारणाया अभावे स्मृतिजनना-योगात् । धारणा हि तथाऽऽत्मानं सस्करोति, यथाऽसावात्मा कालान्तरेऽपि तस्मिन् विषये ज्ञानमुत्पादयति । तदेतद्वारणा-विषये समुत्पन्नं तत्तोलेखिज्ञानं स्मृतिरिति सिद्धम् ।

१ परोक्षप्रमाणम् । २ ज्ञानान्तरापेक्षत्वेन । ३ आदिपदेन व्याप्ति-ग्रहणादर्परिग्रहः । ४ प्रत्ययान्तरनिरपेक्षत्वेनैव । ५ यथावसरम् । ६ तदो-र्भावस्तत्ता तया, 'तत्' शब्दोल्लेखेन । ७ स्मृतेः कारणम् । ८ एवकारेणा-

१ द प्रती 'अस्य' इति पाठो नास्ति । २ द 'त्ते' पाठः । ३ 'प्रत्यक्ष' इति मुद्रितप्रतिपु पाठः । ४ 'च' इति मुद्रितप्रतिपु नास्ति ।

§ ५ नन्वेव धारणागृहीत एव स्मरणस्योत्पत्तौ 'गृहीतग्राहि-
त्वादप्रामाण्यं प्रसज्यत' इति चेत्, न', 'विषयविशेषसद्भावादी-
हादिवत् । यथा ह्यवग्रहादिगृहीतविषयाणामीहादीनां विषयवि-
शेषसद्भावात्स्वविषयसमारोपव्यवच्छेदकत्वेन' प्रामाण्यं तथा
स्मरणस्यापि धारणागृहीतविषयप्रवृत्तावपि प्रामाण्यमेव । धार-
णाया हीदन्ताऽवच्छिन्नो' विषय, स्मरणस्य तु तत्ताऽवच्छिन्नः' ।
तथा च स्मरणं स्वविषयास्मरणादिसमारोपव्यवच्छेदकत्वात्प्रमा-
णमेव' । तदुक्तं प्रमेयकमलमार्त्तण्डे —“विस्मरणसंगयविपर्यय-
लक्षणं समारोपोऽस्ति, तन्निराकरणाच्चास्या स्मृते प्रामा-
ण्यम्” [३-४] इति ।

वग्रहाद्यनुभवत्रयस्य व्यवच्छेदः, अवग्रहादयो ह्यदृढात्मका । धारणा तु
दृढात्मिका, अतः सैव स्मृते कारणं नावग्रहादयः 'स्मृतिहेतुर्धारणा' इति
वचनादिति भावः ।

१ गृहीतस्यैव ग्रहणात् । २ प्रसक्तं भवति । ३ समावृत्ते नेति ।
४ विषयभेदस्य विद्यमानत्वात् । तथा हि—'न खलु यथा प्रत्यक्षे विशदा-
कारतया वस्तुप्रतिभासं तथैव स्मृतौ, तत्र तस्या (तस्य) वैशद्याप्रतीते'
—प्रमेयक० ३-४ 'किञ्च, स्मृते वर्तमानकालावच्छेदेनाधिगत-
स्यार्थस्यातीतकालावच्छेदेनाधिगतेरपूर्वाङ्गाधिगमोपपत्तेः ।' —स्याद्वाहर०
३-४ । अतो न गृहीतग्राहित्वं स्मरणस्येति भावः । ५ स्वेषामीहादीनां
विषयो ज्ञेयस्तस्मिन्नुत्पन्नो यः सशयादिलक्षणं समारोपस्तद्व्यवच्छेदकत्वेन
तन्निराकारकत्वेन । ६ वर्तमानकालावच्छिन्नः । ७ भूतकालावच्छिन्नः ।
८ अत्रेदमनुमानं बोध्यम्—स्मृतिः प्रमाणं समारोपव्यवच्छेदकत्वात्,
यदेव तदेव यथा प्रत्यक्षम्, समारोपव्यवच्छेदिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमाण-
मिति ।

§ ६ 'यदि चानुभूते प्रवृत्तमित्येतावता स्मरणमप्रमाणं स्यात् तर्हि अनुमितेऽनौ पश्चात्प्रवृत्तं प्रत्यक्षमप्यप्रमाणं स्यात् ।

§ ७ 'अविसवादित्वाच्च प्रमाणं स्मृतिं प्रत्यक्षादिवत् । न हि स्मृत्वा 'निक्षेपादिषु प्रवर्त्तमानस्य' विषयविसवादोऽस्ति' । 'यत्र त्वस्ति विसवादस्तत्र स्मरणस्याभासत्वं प्रत्यक्षाभासवत् । तदेव 'स्मरणाख्यं पृथक् प्रमाणमस्तीति सिद्धम् ।

१ अत्र स्मृतेरप्रामाण्यवादिनो नैयायिकादयः कथयन्ति—'अतीतं पूर्वानुभूतं इत्यतीतविषया स्मृतिः, अत एव सा न प्रमाणमर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात्' इति कन्दलीकारः, 'न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात् । स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राचीं प्रतीतिमनुबुद्धयमाना न स्वातन्त्र्येणार्थं परिच्छिनत्तीति न प्रमाणम्'—प्रकरणपञ्जि० पृ० ४२ । २ 'अनुभूतार्थविषयत्वमात्रेणास्या प्रामाण्यानभ्युपगमेऽनुमानेनाविगतेऽनौ यत्प्रत्यक्षं तदप्यप्रमाणं स्यात् ।'—प्रमेयक० ३-४, स्याद्वादर० ३-४, 'अनुभूतेनार्थेन सालम्बनत्वोपपत्तेः । अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्यमनिवार्यं स्यात् । स्वविषयावभासनं स्मरणेऽप्यविशिष्टमिति ।' प्रमेयर० २-२, प्रमाणमी० १-२-३ । ३ 'न च तस्या विसवादादप्रामाण्यम्, दत्तग्रहादिविलोपापत्तेः ।' प्रमेयर० २-२, 'सा च प्रमाणम्, अविसवादकत्वात्, प्रत्यक्षवत् ।'—प्रमाणप० पृ० ६६, प्रमाणमी० १-२-३, न चासावप्रमाणम्, सवादकत्वान् यत्सवादकं तत्प्रमाणं यथा प्रत्यक्षादि, सवादिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमाणम्'—प्रमेयक० ३-४ । ४ भूगर्भादिस्थापितेष्वर्थेषु । ५ जनस्य । ६ विषयाप्राप्तिः । ७ यत्र तु विसवादः सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाभासवत् ।'—प्रमाणप० पृ० ६६, स्याद्वादर० ३-४ । ८ किञ्च, स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानवार्त्ताऽपि दुर्लभा, तया व्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थानायोगादिति । तत इदं वक्तव्यम्—स्मृतिः प्रमाणम्,

[प्रत्यभिज्ञानस्य निरूपणम्]

§ ८ अनुभवस्मृतिहेतुक सङ्कलनात्मक^१ ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।
इदन्तोलेखिज्ञानमनुभवः, तत्तोलेखिज्ञान स्मरणम् । तदुभय-
समुत्थ पूर्वोत्तरैक्य-सादृश्य-वैलक्षण्यादिविषय यत्सङ्कलनरूपं
ज्ञान जायते तत्प्रत्यभिज्ञानमिति ज्ञातव्यम् । यथा स एवाऽयं
जिनदत्त^२, गोसदृशो गवय^३, गोविलक्षणो महिष^४ इत्यादि ।

§ ९ “अत्र हि पूर्वस्मिन्नुदाहरणे जिनदत्तस्य पूर्वोत्तरदशा-
द्वयव्यापक^५ मेकत्व प्रत्यभिज्ञानस्य विषय । तदिदमेकत्वप्रत्य-
भिज्ञानम् । द्वितीये^६ तु पूर्वानुभूतगोप्रतियोगिक^७ गवयनिष्ठ^८
सादृश्यम्” । तदिदं सादृश्यप्रत्यभिज्ञानम् । तृतीये तु पुन प्राग-
नुभूतगोप्रतियोगिक महिषनिष्ठं वैसादृश्यम्^९ । यदिदं वैसादृश्य-

अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति ।—प्रमेयर० २-२, प्रमाणमी. १-२-३ ।

१ सङ्कलन विवक्षितधर्मयुक्तत्वेन वस्तुन प्रत्यवमर्शनम्, यथा—

‘रोमशो दन्तुर इयामो वामनः पृथुलोचन ।

यस्तत्र चिपिटध्राणस्त चैत्रभवधारये ॥’

२ इदमेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्योदाहरणम् । ३ इदं सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्योदाह-
रणम् । ४ इदं वैलक्ष्ण्यप्रत्यभिज्ञानस्योदाहरणम् । ५ एषूदाहरणेषु ।
६ व्याप्त्या वर्तमानम् । ७ उदाहरणे । ८ गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकम् ।
९ गवयो वन्यपशुविशेष, तस्मिन् वर्तमानम्, गवयत्वावच्छिन्नानुयोगिता-
कमित्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम्—यन्निरूपणावीनं निरूपण यस्य तत्तत्प्रतियोगि ।
अथवा यस्य सादृश्यादिकं प्रदर्श्यते स प्रतियोगी, यस्मिंश्च प्रदर्श्यते सोऽनु-
योगी इति भावः । १० प्रत्यभिज्ञानस्य विषय इति शेषः । ११ अत्रापि
प्रत्यभिज्ञानस्य विषय इति सम्बन्धनीयम् ।

प्रत्यभिज्ञानम् । एवमन्येऽपि^१ प्रत्यभिज्ञानभेदा यथाप्रतीति स्वयमु-
त्प्रेक्ष्या^२ । अत्र^३ सर्वत्राऽप्यनुभवस्मृतिसापेक्षत्वात्तद्वेतुकत्वम् ।

§ १० 'केचिदाहु —अनुभवस्मृतिव्यतिरिक्त प्रत्यभिज्ञान
नास्तीति, तदसत्, अनुभवस्य वर्तमानकालवर्त्ति^४ विवर्तमात्र-

१ तदित्यम्—

इवमल्प महद् दूरमासन्न प्राशु नेति वा ।

व्यपेक्षात. समक्षेऽर्थे विकल्प साधनान्तरम् ॥

—लघी० का २१ ।

'इदमस्माद् दूरम्' 'वृक्षोऽयमित्यादि'—परीक्षा० ३, ६-१० । अन्यच्च—

पयोऽम्बुभेदी हस. स्यात् षट्पादं भ्रमर. स्मृत. ।

सप्तपर्णस्तु तत्त्वज्ञविज्ञेयो विषमच्छद ॥

पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेघकाल्य पृथुस्तनी ।

युवतिश्चैकभृगोऽपि गण्डक परिकीर्त्तत ॥

शरभोऽप्यष्टभि पादै सिंहश्चारुस्तटान्वित. ।

इत्येवमादिशब्दश्रवणात्तथाविधानेव मरालादीनवलोक्य तथा सत्या-
पयति यदा तदा तत्सङ्कलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्तम् दर्शनस्मरणकारणत्वा-
विशेषात् ।^१ प्रमेयर० ६-१० । २ चिन्तनीया । ३ प्रत्यभिज्ञानभेदेषु ।
४ वीद्वा । तेषामयमाशय —'ननु पूर्वापरावस्थाविषय परामर्शज्ञान कथमे-
कम् ? विषयभेदात्, परोक्ष्यापरोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्मससर्गाच्च । तथा हि—
तदिति परोक्षमिदमिति साक्षात्कार'—न्यायवा० तात्पर्यटी० पृ० १४०,
'तस्माद् द्वे एते ज्ञाने—स इति स्मरणम्, अयम् इत्यनुभव'—न्यायम० पृ०
४४६ । अत्र वीद्धाना पूर्वपक्षत्वेनोल्लेख । 'ननु तदिति स्मरणमिदमिति
प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न ताम्या विभिन्न प्रत्यभिज्ञानाख्य वय प्रतिपद्य-
मान प्रमाणान्तरमुपलभामहे'—प्रमेयर० २-२ । ५ विवर्त्त पर्याय ।

प्रकाशकत्वम्, स्मृतेश्चातीतविवर्तद्योतकत्वमिति तावद्वस्तुगति-
कथं नाम तयोरतीतवर्तमानसङ्कलितैक्य-सादृश्यादिविषयावगा-
हित्वम्? तस्मादस्ति स्मृत्यनुभवातिरिक्तं तदनन्तरभावि सङ्कलन-
ज्ञानम् । तदेव प्रत्यभिज्ञानम् ।

§ ११ अपरे^१ त्वेकत्वप्रत्यभिज्ञानमभ्युपगम्यापि तस्य 'प्र-
त्यक्षेऽन्तर्भावि कल्पयन्ति । तद्यथा—यदिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानु-
विधायि तत्प्रत्यक्षमिति तावत्प्रसिद्धम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानु-
विधायि चेद प्रत्यभिज्ञानम्, तस्मात्प्रत्यक्षमिति, तन्न; इन्द्रियाणां
वर्तमानदशापरामर्गमात्रोपक्षीणत्वेन वर्तमानातीतदशाव्यापकै-
क्यावगाहित्वाघटनात् । न ह्यविषयप्रवृत्तिरिन्द्रियाणां युक्तिमती^२,
चक्षुषा रसादेरपि प्रतीतिप्रसङ्गात् ।

§ १२ ^३ ननु सत्यमेतदिन्द्रियाणां वर्तमानदशावगाहित्वमे-
वेति तथापि तानि सहकारि^४ समवधानसामर्थ्याद्दशा^५ द्वयव्यापि-

१ वैशेषिकादयः । २ यदुक्तम्—'यस्तु भवतामस्य मानसत्वे प्रयासः स
वरमिन्द्रियजत्वे एव भवतु × × पश्चाज्जायमानपीन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभव-
तया प्रत्यक्षं भवत्येव × × विवादाध्यासिता विकल्पा (प्रत्यभिज्ञानरूपा)'
प्रत्यक्षा अव्यभिचारित्वे सतीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्—न्यायवा० तात्पर्य-
टी० पृ० १४३, 'एव पूर्वज्ञानविशेषितस्य स्तम्भादेर्विशेषणमतीतक्षणविषय-
' इति मानसी प्रत्यभिज्ञा—न्यायम० पृ० ४६१, 'तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात्प्रा-
गूर्ध्वं चापि यत्स्मृते । विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥' मी०
श्लो० सू० ४ श्लो० २३७ । ३ त एव वैशेषिकादयः पुनराशङ्कन्ते
नन्विति । ४ समवधानं सन्निपात एकत्र मेलन इति यावत् । ५ दशाद्वयं
पूर्वोत्तरावस्थे व्याप्य वर्तमाने ।

न्येकत्वेऽपि 'प्रतीतिं जनयन्तु, अञ्जनसंस्कृतं चक्षुरिव व्यवहिते-
ऽर्थे । न हि चक्षुषो व्यवहितार्थं^१ प्रत्यायन^२ सामर्थ्यमस्ति, अञ्जन-
संस्कारवशात्^३ तथात्वमुपलब्धम्^४ । 'तद्वदेव स्मरणादि' सह-
कृतानीन्द्रियाण्येव दशाद्वयव्यापकमेकत्वं 'प्रत्याययिष्यन्तीति किं
'प्रमाणान्तरकल्पनाप्रयासेनेति । तदप्यसत्, सहकारिसहस्र-
'समवधानेऽप्यविषयप्रवृत्तेरयोगात् । चक्षुषो हि अञ्जनसंस्कारा-
दि. सहकारी स्वविषये रूपादावेव प्रवर्तको न त्वविषये रसादौ ।
'अविषयश्च पूर्वोत्तरावस्थाव्यापकमेकत्वमिन्द्रियाणाम् । तस्मा-
त्तत्प्रत्यायनाय^५ 'प्रमाणान्तरमन्वेपणीयमेव, 'सर्वत्रापि विषय-
विशेषद्वारेण प्रमाणभेदव्यवस्थापनात् ।

§ १३ 'किञ्च, अस्पष्टैवेयं तदेवेदमिति प्रतिपत्तिः, तस्मा-
दपि न तस्या. प्रत्यक्षान्तर्भावि इति । अवश्यं चैतदेवं २ विज्ञेयं चक्षु-

१ ज्ञानम् । २ अन्तरिते । ३ प्रत्यायनं ज्ञापनम् । ४ व्य-
वहितार्थप्रत्यायनसामर्थ्यम् । ५ दृष्टम् । ६ चक्षुरिव । ७ आदिपदेन
पूर्वानुभवस्य परिग्रहः । ८ ज्ञापयिष्यन्ति । ९ प्रमाणान्तरं प्रत्यभिज्ञा-
नाख्यम् । १० मिलितेऽपि । ११ इन्द्रियाणामविषयमेव प्रदर्शयति
अविषयश्चेति । १२ एकत्वज्ञापनाय । १३ प्रत्यभिज्ञाननामकम् । १४ सर्वे-
ष्वपि दर्शनेषु, सर्वेष्वपि वादिभिः । स्व-स्वदर्शने विषयभेदमाश्रित्यैव प्रमाण-
भेदव्यवस्था कृतेति भावः । १५ युक्त्यन्तरेण प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षान्त-
र्भावि निराकरोति किञ्चेति—स एवायमिति हि ज्ञानमस्पष्टमेव, प्रत्यक्ष
तु न तथा, तस्य स्पष्टत्वात् । ततोऽपि न तस्य प्रत्यक्षेऽन्तर्भावि इति भावः ।

रादेरैक्यप्रतीतिजननसामर्थ्यं नास्तीति । 'अन्यथा लिङ्गदर्शन-
व्याप्तिस्मरणादिसहकृत चक्षुरादिकमेव बह्व्यादिलिङ्गिज्ञानं
जनयेदिति नानुमानमपि पृथक् प्रमाणं स्यात् । 'स्वविषयमात्र
एव चरितार्थत्वाच्चक्षुरादिकमिन्द्रिय न लिङ्गिनि प्रवर्तितु
'प्रगल्भमिति चेत् प्रकृतेन' किमपराद्धम् ? तत स्थितं प्रत्यभि-
ज्ञानाख्य पृथक् प्रमाणमस्तीति ।

§ १४. सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमुपमानाख्यं पृथक् प्रमाणमिति
केचित्^१ कथयन्ति, तदसत्, स्मृत्यनुभवपूर्वकसङ्कलनज्ञानत्वेन

१ चक्षुरादेरैक्यप्रतीतिजननसामर्थ्यस्वीकरणे । २ ननु चक्षुरादे स्ववि-
षय एव पुरोदृश्यमाने धूमादौ प्रवृत्तेर्न परोक्षे बह्व्यादौ लिङ्गिनि प्रवर्तितु
सामर्थ्यमस्ति, ततोऽनुमान पृथगेव प्रमाणमिति चेत्, प्रत्यभिज्ञानेऽप्येतत्
समानम्, तत्रापि हि इदन्तोलिखित एवार्थे देवदत्तादौ चक्षुरादे प्रवृत्तिर्न
परोक्षे एकत्वे कुमारयुवावृद्धावस्थाव्यापिनी देवदत्तत्वादौ । तदुक्तम्—

तया (द्रव्यसंवित्या) यावत्स्वतीतेषु पर्यायेष्वस्ति सस्मृति ।

केन तद्व्यापिनि द्रव्ये प्रत्यभिज्ञास्य वार्यते ॥

बालकोऽहं य एवास स एव च कुमारक^२ ।

युवानो मध्यमो वृद्धोऽघुनाऽस्मीति प्रतीतित ॥^३

—तत्त्वार्थश्लोकवा० १, १३, ४५-४६ ।

एतदेवाह स्वविषये । ३ समर्थम् । ४ प्रत्यभिज्ञानेन । ५ नैयायिका
मीमांसकाश्च, तत्र तावन्मीमांसका — 'ननु गोदर्शनाहितसस्कारस्य
ज्ञानस्योपमानरूपत्वान्न प्रत्यभिज्ञानता । सादृश्यविशिष्टो हि विशेषो
(गोलक्षणो धर्मी) विशेषविशिष्ट वा सादृश्यमुपमानस्यैव प्रमेयम्'—

प्रत्यभिज्ञानत्वानतिवृत्ते । अन्यथा गोविलक्षणो महिष इत्यादि-
 विसदृशत्वप्रत्ययस्य, इदमस्माद् दूरमित्यादेश्च प्रत्ययस्य सप्रति-
 योगिकस्य पृथक् प्रमाणत्व स्यात् । ततो 1वैसादृश्यादिप्रत्ययवत्
 सादृश्यप्रत्ययस्यापि प्रत्यभिज्ञानलक्षणाक्रान्तत्वेन प्रत्यभिज्ञान-
 त्वमेवेति प्रामाणिकपद्धति ।

प्रमेयक० ३-१० । उक्तं च—

दृश्यमानाद्यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते ।

सादृश्योपाधिवत्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम् ॥

तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम् ।

प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥

प्रत्यक्षेणाऽवबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते ।

विशिष्टस्यान्यतः सिद्धेरुपमानप्रमाणात् ॥

—मी० श्लो० उ० ३६-३८ ।

इति प्रत्यभिज्ञानस्योपमानरूपता निरूपयन्ति, 'तदसमीक्षिताभिधानम्,
 एकत्व-सादृश्यप्रतीत्यो सङ्कलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानतानतिक्रमात् ।
 'स एवायम्' इति हि यथा उत्तरपर्यायस्य पूर्वपर्यायिणैकताप्रतीति प्रत्यभिज्ञा,
 तथा सादृश्यप्रतीतिरपि 'अनेन सदृश' इति (प्रत्यभिज्ञा), 'अविशेषात्'
 —प्रमेयक० ३-१० । कथमन्यथा वैलक्षण्यप्रतीतिरपि प्रमाणान्तरं न स्यात्?
 नैयायिकास्तु 'आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानमुपमानम् । यदा
 ह्यनेन श्रुतं भवति 'यथा गौरेव गवयः' इति । प्रसिद्धे गो-गवयसाधर्म्ये
 पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवत्ययं गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्ति'
 —न्यायवा० १-१-६ । समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिश्चोपमानमिति प्रतिपाद-

1 'वैमदृश्य' द प्रतिपाठ ।

[तर्कस्य निरूपणम्]

‘ § १५. अस्तु प्रत्यभिज्ञानम्, कस्तर्हि तर्कः ? व्याप्तिज्ञान तर्कः । साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावप्रयोजको’ व्यभिचारगन्धासहिष्णुः सम्बन्धविशेषो’ व्याप्तिरविनाभाव इति च^१ व्यपदिश्यते । ‘तत्सामर्थ्यात्खल्वग्न्यादि घूमादिरेव गमयति न तु घटादि’, ‘तदभावात् । तस्याश्चाविनाभावापरनाम्न्या^२ व्याप्तेः प्रमितौ यत्साधकतम तदिदं तर्कस्य प्रमाणमित्यर्थः । तदुक्तं श्लोकवार्त्तिकभाष्ये— “साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञाननिवृत्तिरूपे हि फले साधकतमस्तर्कः”^३

यन्ति, तन्न, वैलक्षण्यादिप्रत्ययानामपि प्रमाणान्तरत्वानुषङ्गात् । तथा चोक्तं श्रीमद्भट्टकलङ्कदेवै —

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।

तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् सञ्ज्ञिप्रतिपादनम् ॥

प्रत्यक्षार्यान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः ।

तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ॥

—लघीय० का० १६-२० ।

अतः ‘यथैव हि एकदा घटमुपलब्धवत् पुनस्तस्यैव दर्शने ‘स एवायं घट’ इति प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा तथा ‘गोसदृशो गवयः’ इति सङ्केतकाले गोसदृशगवयाभिधानयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धः प्रतिपद्यते पुनर्गवयदर्शनात्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा किन्नेष्यते ?’—प्रमेयक० ३-१० ।

१ प्रमावक । २ व्यभिचारशून्य । ३ नियमरूप । ४ व्याप्तिवलात् । ५ ज्ञापयति । ६ व्याप्तेरभावात् । ७ श्लोकवार्त्तिकभाष्ये यदुक्तं तत्किञ्चित्शब्दभेदेनेत्येव वर्तते—‘प्रमाणं तर्कं साक्षात्परम्परया च स्वार्थनिश्चये

१ इ प्रती ‘च’ नास्ति । २ ‘नाम्नो’ इति इ आ प म प्रतिपाठः ।

[१-१३-११५] इति । ऊह इति तर्कस्यैव 'व्यपदेशान्तरम् । स च तर्कस्ता व्याप्ति 'सकलदेश-कालोपसहारेण विषयीकरोति ।

§ १६ किमस्योदाहरणम् ? उच्यते—यत्र यत्र धूमवत्त्व तत्र तत्राग्निमत्त्वमिति । अत्र^१ हि धूमे सति भूयोऽग्न्युपलम्भे अग्न्य-भावे च घमानुपलम्भे^२ 'सर्वत्र सर्वदा धूमोऽग्निं न व्यभिचरति'^३ इत्येव सर्वोपसहारेणाविनाभाविज्ञान पश्चादुत्पन्न तर्कस्य प्रत्य-क्षादे^४ पृथगेव । 'प्रत्यक्षस्य^५ सन्निहितदेगे एव 'धूमाग्निसम्बन्ध-प्रकाशनान्न व्याप्तिप्रकाशकत्वम् । सर्वोपसहारवती हि व्याप्ति ।

§ १७ ननु यद्यपि 'प्रत्यक्षमात्र व्याप्तिविषयीकरणे 'शक्त न भवति तथापि विशिष्ट प्रत्यक्ष तत्र'^६ गतमेव । तथा हि—महान-

फले साधकतमत्वात्प्रत्यक्षवत् । स्वविषयभूतस्य साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञान-निवृत्तिरूपे साक्षात्स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमस्तर्क^७; परम्परया तु स्वार्थानुमाने हानोपादानोपेक्षाज्ञाने वा प्रसिद्ध एवेति ।'

१ नामान्तरम् । २ सर्वदेशकालावच्छेदेन । ३ अस्मिन्नुल्लेखे । ४ धूमो-ऽग्न्यभावे न भवति, अपि त्वग्निसद्भाव एव भवति, इति भाव । ५ 'न हि प्रत्यक्ष यावान् कश्चिद्धूम कालान्तरे देशान्तरे च पादकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम्, सन्निहितविषयबलोत्पत्ते-रविचारकत्वात्' लघी० स्वोपज्ञवि० का० ११, अष्टसं० पृ० २८०, प्रमाणप० पृ० ७०, प्रमेयक० ३-१३ । ६ समीपवृत्तिनि योग्यदेश एव महानसादौ, न दूरवृत्तिनि परोक्षे देशे । ७ नियतवृमाग्न्यो सम्बन्धज्ञाप-नात् । ८ प्रत्यक्षसामान्यम् । ९ समर्थम् । १० व्याप्तिविषयीकरणे ।

१ 'अग्न्यभावे च धूमानुपलम्भे' इति पाठो मुद्रितप्रतिपु नास्ति ।

२ 'प्रत्यक्षस्य हि' इति म प प्रतिपाठः ।

सादौ तावत्प्रथम धूमाऽन्योर्दर्शनमेक प्रत्यक्षम्, तदनन्तर भूयो' भूय प्रत्यक्षाणि प्रवर्तन्ते, तानि च प्रत्यक्षाणि न सर्वाणि व्याप्ति-विषयीकरणसमर्थानि, अपि तु पूर्वपूर्वानुभूतधूमाग्निस्मरण-तत्सजातीयत्वानुसन्धानरूपप्रत्यभिज्ञानसहकृतः कोऽपि^१ प्रत्यक्ष-विशेषो व्याप्ति सर्वोपसहारवतीमपि^१ गृह्णाति । तथा च स्मरण-प्रत्यभिज्ञानसहकृते प्रत्यक्षविशेषे व्याप्तिविषयीकरणसमर्थे किं तर्कस्थेन पृथक्प्रमाणेनेति केचित्^२, 'तेऽपि न्यायमार्गानभिज्ञाः; 'सहकारिसहस्रसमवधानेऽप्यविषयप्रवृत्तिर्न घटत इत्युक्तत्वात् । तस्मात्प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहणमसञ्जसम् । इदं तु समञ्जसम्—स्मरणम्, प्रत्यभिज्ञानम्, भूयोदर्शनरूप प्रत्यक्ष च मिलित्वा तादृश-मेक ज्ञान जनयन्ति यद्व्याप्तिग्रहणसमर्थमिति । तर्कश्च स एव । अनुमानादिकं तु व्याप्तिग्रहणं प्रत्यसम्भाव्यमेव^३ ।

१ पुन पुन । २ अनिर्दिष्टनामा । ३ नैयायिकादयः । ४ समाधत्ते तेऽपीति । ५ प्रत्यक्षस्य पुरोवर्त्तिधूमवर्त्तिव्यक्तिविषयत्वेऽपि नापुरोवर्त्ति-सकलधूमवर्त्तिव्यक्तिविषयत्वम्, तस्मात् तदयोग्यत्वात् । सहकारिणामविषये प्रत्यक्षस्य प्रवर्त्तकत्वाघटनाच्च । ६ न ह्यनुमानादिना व्याप्तिग्रहणं सम्भवति, अन्योन्याश्रयादिदोषात् । अनुमानेन हि व्याप्तिग्रहणं चेत्तर्हि प्रकृतानुमानेनानुमानान्तरेण वा ? प्रकृतानुमानेन चेदितरेतराश्रयः । तथा हि—सत्या व्याप्तिप्रतिपत्तावनुमानस्यात्मलाभस्तदात्मलाभे च सति व्याप्ति-प्रतिपत्तिरिति । अनुमानान्तरेण व्याप्तिप्रतिपत्तावनुमानान्तरीयव्याप्तिप्रति-पत्तिरप्यनुमानान्तरेणेत्येवमनवस्था स्यात् । ततो नानुमानाद्व्याप्तिग्रहणम् । नाऽप्यागमादे, तस्य भिन्नविषयत्वात् । यदुक्तम्—'नाऽप्यनुमानेन (व्याप्ति-

§ १६. वौद्धास्तु 'प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प-व्याप्ति गृह्णातीति मन्यन्ते । त एव पृष्ठव्या —स हि विकल्प किमप्रमाणमुत प्रमाणमिति । यद्यप्रमाणम्, कथं नाम तद्गृहीताया व्याप्तौ समाश्वास ? अथ प्रमाणम्, किं प्रत्यक्षमथवाऽनुमानम् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, अस्पष्टप्रतिभासत्वात् । नाप्यनुमानम्, लिङ्गदर्शनाद्यनपेक्षत्वात् । 'ताभ्यामन्यदेव किञ्चित्प्रमाणमिति चेदागतस्तर्हि तर्कः । तदेव तर्कस्य प्रमाणं निर्णीतम् ।

[अनुमानस्य निरूपणम्]

१७ इदानीमनुमानमनुवर्ण्यते । साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् । इहानुमानमिति लक्ष्यनिर्देशः, साधनात्साध्यविज्ञान-

ग्रहणम्), प्रकृतापरानुमानकत्पनायामितरेतराश्रयत्वानवस्थाश्वतारात् । आगमादेरपि भिन्नविषयत्वेन सुप्रसिद्धत्वान्न ततोऽपि तत्प्रतिपत्तिरिति—
प्रमेयर० ३-१८ । श्रीमद्बुद्धाकलङ्कुदेवरण्युक्तम्—

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते ।

नानुमानादसिद्धत्वात्प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ॥

लघीय०का० ११

अतः सूक्तं ग्रन्थकृता 'अनुमानादिकं तु व्याप्तिग्रहणं प्रत्यसम्भावमेव' इति ।

१ निर्विकल्पकप्रत्यक्षानन्तरं जायमानः । २ प्रामाण्यम् । ३ प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । ४ 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्' —न्यायवि० का० १७०, 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्'—परीक्षामु० ३-१४, 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधा' ।—तत्त्वार्थश्लो० १-१३-१२० ।

मिति लक्षणकथनम् । साधनाद्धूमादेर्लिङ्गात्साध्येऽग्न्यादौ लिङ्गि-
 नि यद्विज्ञान जायते तदनुमानम्, 'तस्यैवाग्नाद्यव्युत्पत्तिविच्छि-
 त्तिकरणत्वात्' । न पुन साधनज्ञानमनुमानम्, 'तस्य 'साधनाव्यु-
 त्पत्तिविच्छेदमात्रोपक्षीणत्वेन साध्याज्ञाननिवर्त्तकत्वायोगात् ।
 'ततो यदुक्त नैयायिकैः—'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्' [न्यायवा० १-१-५
 उद्धृतम्]' इत्यनुमानलक्षणम् तद'विनीतविलसितमिति निवेदित
 भवति । 'वय त्वनुमानप्रमाणस्वरूपलाभे व्याप्तिस्मरणसहकृतो
 लिङ्गपरामर्श' कारणमिति मन्यामहे, स्मृत्यादि 'स्वरूपलाभे-
 ऽनुभवादिवत् । तथा हि—धारणाख्योऽनुभवः स्मृती हेतुः । तादा-
 त्विकानुभव-स्मृती प्रत्यभिज्ञाने । स्मृतिप्रत्यभिज्ञानानुभवा साध्य-

१ साध्यज्ञानस्यैव । २ अग्न्यादेरव्युत्पत्तिरज्ञान तस्या विच्छित्तिनि-
 रासस्तत्करणत्वात् साध्यज्ञानस्य, अतः साधनाज्जायमान साध्यज्ञानमेवानु-
 मानमिति भावः । ३ साधनज्ञानस्य । ४ साधनसम्बन्ध्यज्ञाननिराकरणमात्रे-
 णैव कृतार्थत्वेन । ५ यतश्च साधनज्ञान नानुमान ततः । ६ 'अपरे तु
 मन्यन्ते लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति । वयं तु पश्याम सर्वमनुमानमनुमिते-
 स्तन्नान्तरीयकत्वात् । प्रधानोपसर्जनताविवक्षाया लिङ्गपरामर्श इति
 न्याय्यम् । क पुनरत्र न्यायः ? आनन्तर्यप्रतिपत्तिः । यस्माल्लिङ्गपरामर्श-
 दनन्तरं शेषार्थप्रतिपत्तिरिति । तस्माल्लिङ्गपरामर्शो न्याय्य इति ।'—
 न्यायवा० पृ० ४५ । लिङ्गपरामर्शो लिङ्गज्ञानमित्यर्थः । ७ अविनीतैरवि-
 चारिभिर्विलसित परिकल्पितमत एव तदयुक्तमिति भावः । ८ जैना ।
 ९ लिङ्गज्ञानमनुमानस्योत्पत्तौ कारणम्, न तु स्वयमनुमानमित्यर्थः ।
 १० आदिपदेन प्रत्यभिज्ञादीना ग्रहणम् ।

साधनविषयास्तर्कौ । 'तद्वल्लिङ्गज्ञानव्याप्तिस्मरणसहकृतमनुमानोत्पत्तौ निवन्धनमित्येतत्सुसङ्गतमेव' ।

१८ 'ननु 'भवता मते साधनमेवानुमाने । हेतुर्न तु साधन-ज्ञान 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्' इति 'वचनादिति चेत्, न, साधनादित्यत्र निश्चयपथप्राप्ताद्धूमादेरिति विवक्षणात्', अनि-श्चयपथप्राप्तस्य धूमादे साधनत्वस्यैवाघटनात् । तथा चोक्त तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके^२—“साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानविदुर्वुधा” [१-१३-१२०] इति । साधनाज्जायमानाद्धूमादेः साध्येऽन्यादौ लिङ्गिनि यद्विज्ञानतदनुमानम् । अजायमानस्य तस्य साध्यज्ञानजनकत्वे हि मुप्तादीनामगृहीतधूमादीनामप्यन्यादिज्ञानोत्पत्ति^३-प्रसङ्गः । तस्माज्जायमानलिङ्गकारणकस्य साध्यज्ञानस्यैव

१ स्मृत्यादिवत् । २ अस्मदीय कथनसुयुक्तमेव । ३ नैयायिकः शङ्कते नन्विनि । ४ जनानाम् । ५ पूर्वं निरूपणात् । ६ अत एवाकलङ्कदेवैकत्वम्—लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधकलक्षणात् ।

लिङ्गिघोरनुमानतत्फलहानादिवुद्ध्यः ॥ लघी०का० १२ :

७ साधनस्य । ८ जनानाम् । ९ जायमानलिङ्गकारणस्य तज्जायमानलिङ्गकारणकस्य, साध्याविनाभावित्वेन निर्णीतसाधनहेतुकस्येत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम्—न हि वयं केवललिङ्गमनुमाने कारणमन्यामहे, अपित्वन्यथानुपपन्नत्वेन निश्चिनमेव, अजायमानस्य लिङ्गस्यानुमितिकारणत्वामम्भवात् । अन्यथा यस्य कस्याप्यनुमिति स्यात् । एतेन यदुक्तं नैयायिकैः

१ 'अनुमानहेतु' इति द प प्रत्यो पाठः । २ 'श्लोकवार्तिके' इति मुद्रितप्रतिपु पाठः । ३ 'ज्ञानोत्पाद' इति द प्रतिपाठः ।

साध्याव्युत्पत्तिनिरासकत्वेनानुमानत्वम्, न तु 'लिङ्गपरामशदिरिति बुधा प्रामाणिका^३ विदुरिति 'वार्त्तिकार्थ' ।

अनुमाया ज्ञायमान लिङ्गं तु कारणं न हि ।

अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा' ॥

यद्यनुमितौ लिङ्गं करणं स्यात्तदाऽनागतेन विनष्टेन वा लिङ्गेन (इयं यज्ञशाला वह्निमती भविष्यति, भाविधूमात् । इयं यज्ञशाला वह्निमत्यासीत्, भूतधूमात् [सिद्धान्तमु० टिप्पण] इत्येवरूपेण) अनुमितिर्न स्यादनुमितिकरणस्य लिङ्गस्य तदानीमभावात्—सिद्धान्तमुक्तावली ६७, तन्निरस्तम्, लिङ्गस्य ज्ञायमानस्य करणत्वान्म्युपगमेऽज्ञायमानादपि लिङ्गादनुमितिप्रसङ्गात् । किञ्च, वर्त्तमानत्वेन प्रतीतस्यैव लिङ्गस्यानुमितिहेतुत्वम्, न भविष्यत्वेनातीतत्वेन वा भाव्यतीतयोर्लिङ्गत्वस्यैवाघटनात् । न हि कश्चित्प्रेक्षावान् भाविधूमात्भाविवह्निमतीतधूमादतीतवह्निं वाऽनुमिनोति । तस्माज्ज्ञायमानलिङ्गकारणकस्यैव साध्यज्ञानस्यानुमानत्वमिति ध्येयम् ।

१ नैयायिकाद्यभिमतस्य । २ अकलङ्कदेवा न्यायविनिश्चये (का० १७०) । ३ साधनात्साध्यविज्ञानमित्यादितत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकोयवार्त्तिकस्यार्थः । वार्त्तिकलक्षणं तु—

‘उक्तानुक्तद्विरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रसज्यते ।

तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः ॥’

—पराशरोपपुराण अ० १८ ।

‘उक्तानुक्तद्विरुक्तानां विचारस्य निवन्धनम् ।

हेतुभिश्च प्रमाणैश्च एतद्वार्त्तिकलक्षणम् ॥’

× × ×

‘उक्तानुक्तद्विरुक्तानां चिन्ताकारि तु वार्त्तिकम् ।’—हैमकोश ।

‘वार्त्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानप्रसिद्धम् ।’

—तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक पृ० २ ।

[साधनस्य लक्षणकथनम्]

§ १९ किं तत्साधनं यद्वेतुकं साध्यज्ञानमनुमानम् ? इति चेत्; उच्यते—निश्चितसाध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनम् । यस्य 'साध्याभावासम्भवनियमरूपा व्याप्त्यविनाभावाद्यपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्तिस्तर्कास्थेन प्रमाणेन निर्णीता तत्साधनमित्यर्थः । तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः—

“अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्गचते” । [‘वादन्यायः’] इति ।

[साध्यस्य लक्षणकथनम्]

§ २० किं तत्साध्यं यदविनाभावसाधनलक्षणम् ? उच्यते—शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धसाध्यम् । यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणावाधितत्वेन साधयितुं शक्यम्, वाद्यभिमतत्वेनाभिप्रेतम्, ‘सन्देहाद्याक्रान्तत्वेनाप्रसिद्धम्, तदेव साध्यम् । ‘अशक्यस्य साध्यत्वे’ वल्लभचनुष्ण-

१ साधनस्य । २ साध्याभावे न भवतीति नियमरूपा । ३ यद्यपि कुमारनन्दिनोऽयं वादन्यायो नेदानीमुपलभ्यते तथापीय कारिका सहोत्तराद्धेन विद्यानन्दस्वामिना प्रमाणपरीक्षायां ‘कुमारनन्दिभट्टारकैः’ पत्रपरीक्षायां च ‘कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदित्वात्’ इति नामोल्लेखपुरस्सरमुद्धृताऽस्ति । ४ श्रीमाणिक्यनन्दिभिरप्युक्तम्—‘इष्टमवाधितमसिद्धसाध्यम्’—परीक्षा० ३-२० । ५ इष्टम् । ६ अव्युत्पत्तिसंशयविपर्ययविशिष्टोऽर्थः साध्य इति भावः । ‘सन्दिग्धविपर्ययस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्’—परीक्षा० ३-२१ । ७ वाधितस्य । ८ ‘वल्लभचनुष्णो द्रव्यत्वात्’ इत्यादौ वल्लभावुष्णस्पर्शग्राहिणा प्रत्यक्षेण वाधितस्यानुष्णत्वादेरपि साध्यत्वं स्यात् ।

१ ‘लिङ्गमम्यत’ इति मुद्रितप्रतिषु पाठः ।

त्वादेरपि साध्यत्वप्रसङ्गात् । अनभिप्रेतस्य साध्यत्वे त्वतिप्रस-
ङ्गात् । प्रसिद्धस्य साध्यत्वे पुनरनुमानवैयर्थ्यात् । तदुक्त न्याय-
विनिश्चये—

“साध्य शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्ध ततोऽपरम् ।

साध्याभास विरुद्धादि साधनाविषयत्वत ” ॥१७२॥ इति ।

§ २१ अयमर्थः. 2—यच्छक्यमभिप्रेतमप्रसिद्ध तत्साध्यम् ।
ततोऽपर साध्याभासम् । किं तत्^३? विरुद्धादि । विरुद्ध प्रत्यक्षा-
दिबाधितम् । आदिशब्दादनभिप्रेत प्रसिद्ध चेति । कुत एतत् ?
साधनाविषयत्वत —साधनेन गोचरीकर्तुमशक्यत्वादित्यकलङ्क-
देवानामभिप्रायलेशः* । तदभिप्रायसाकल्य^५ तु ‘स्याद्वादविद्या-

१ स्वेष्टसाधनायोगात् । अत एवाह—‘अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयो.
साध्यत्व मा भूदितिष्टाबाधितवचनम्’—परीक्षा० ३-२२ । २ साधनार्हं हि
साध्यम्, साधन चासिद्धस्यैव भवति न सिद्धस्य, पिष्टपेषणानुपङ्गात् ।
तथा चासिद्धस्य साधनमेवानुमानफलम्, सिद्धस्य तु साध्यत्वे तस्य प्रागेव
सिद्धत्वेनानुमानवैफल्य स्यादेवेति भावः । यदुक्त स्याद्वादविद्यापतिना—
‘प्रसिद्धादन्यदप्रसिद्धम्, तदेव साध्यम् । न प्रसिद्धम् तत्र साधनवैफल्यात् ।
प्रसिद्धिरेव हि साधनस्य फलम्, सा च प्रागेव सिद्धेति’—न्यायवि० वि०
२, पृ० ८ । ३ शक्यादिलक्षणात्साध्याद्विपरीतम् । ४ अभिप्रायस्य सक्षेपः ।
५ अकलङ्कदेवानामभिप्रायसामस्त्यम् । ६ श्रीमद्वादिराजाचार्यो न्यायवि-
निश्चयविवरणकार ।

1 आ द प्रत्यो. ‘इति’ पाठो नास्ति । 2 ‘अस्यायमर्थः’ इति आ
प्रतिपाठ । 3 ‘किं तत् ?’ इति द प प्रत्योर्नास्ति ।

पतिर्वेदः । साधनसाध्यद्वयमधिकृत्य^१ 'श्लोकवार्त्तिक च^२—

'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण तत्र साधनम् ।

साध्य शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमुदाहृतम् ॥

[१-१३-२२१] इति ।

§ २२ तदेवमविनाभावनिश्चयैकलक्षणात्साधनाच्छक्याभि-
प्रेताप्रसिद्धरूपस्य साध्यस्य ज्ञानमनुमानमिति सिद्धम् ।

[अनुमान द्विधा विभज्य स्वार्थानुमानस्य निरूपणम्]

§ २३. 'तदनुमान द्विविधम्—स्वार्थं परार्थं च । तत्र स्वयमेव
'निश्चितात्साधनात्साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम् । 'परोपदेशमनपेक्ष्य
स्वयमेव निश्चितात्प्राक्तर्कानुभूतव्याप्तिस्मरण'^३सहकृताद्भूमादे
साधनादुत्पन्नं पर्वतादौ घर्मिण्यग्न्यादे साध्यस्य ज्ञानं स्वार्थानु-

१ आश्रित्य । २ तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकम् । ३ अन्यथानुपपत्तिरविना-
भावः, सा एवैका लक्षणस्वरूपस्य तत्तथा साधनम्, न पक्षधर्मत्वादि-
त्रितयलक्षणपञ्चलक्षणवा बौद्धनैयायिकाभिमतम् । ४ उक्तलक्षणलक्षि-
तम् । ५ प्रत्यक्षादिना ज्ञातात् । ६ प्रतिज्ञादिवाक्यप्रयोगम् । ७ 'हेतुग्रहण-
सम्बन्धस्मरणपूर्वकं जायमानं साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम्, यथा गृहीत-
धूमस्य स्मृतव्याप्तिकस्य 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानम् । अत्र हेतुग्रहण-
सम्बन्धस्मरणयोः समुदितयोरेव कारणत्ववसेयम्'—जैनतर्कभा० पृ० १२ ।
अनुमाता हि पर्वतादौ धूमं दृष्ट्वा महानसादौ गृहीतव्याप्तिं स्मृत्वा च
'पर्वतोऽयं वह्निमान्' इत्यनुमिनोति । यत्रेयमनुमिति परोपदेशमनपेक्ष्य
स्वयमेव निश्चितात्साधनाद्भवति तत्स्वार्थानुमानमिति भावः ।

१ 'विवेद' इति मु प्रतिपाठः । २ 'च' इति द प्रती न्नास्ति ।

मानमित्यर्थः । यथा—पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वादिति । 'अयं हि स्वार्थानुमानस्य ज्ञानरूपस्यापि शब्देनोल्लेखः । यथा 'अयं घटः' इति शब्देन प्रत्यक्षस्य^१ । 'पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वात्' इत्यनेन प्रकारेण प्रमाता जानातीति स्वार्थानुमानस्थितिरित्यवगन्तव्यम्^{११} ।

[स्वार्थानुमानस्याङ्गप्रतिपादनम्]

§ २४ अस्य च स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यङ्गानि—'धर्मी, साध्यम्, साधनं च । तत्र साधनं 'गमकत्वेनाङ्गम् । साध्यं तु गम्यत्वेन' । धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन । 'आधारविशेषनिष्ठतया हि साध्यसिद्धिरनुमानप्रयोजनम्, धर्ममात्रस्य तु व्याप्तिनिश्चयकाल एव सिद्धत्वात् 'यत्र तत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वम्' इति ।

§ २५ 'अथवा^२, पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयं स्वार्थानुमानस्य, साध्य-धर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात् । तथा च स्वार्थानुमानस्य धर्मि-साध्यसाधनभेदात् त्रीण्यङ्गानि पक्षसाधनभेदादङ्गद्वयं वेति सिद्धम्,

१ ननु स्वार्थानुमानस्य ज्ञानरूपत्वात्कथं तस्य 'पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वात्' इति शब्देनोल्लेखः ? इत्यत आह अयमिति । अनुमाता येन प्रकारेण स्वार्थानुमानं करोति तत्प्रकारप्रदर्शनार्थमेव ज्ञानरूपस्यापि तस्य शब्दविधयोल्लेखः । भवति हि यथा 'इदं मदीयं पुस्तकम्' इति शब्देन प्रत्यक्षस्याप्युल्लेखः । ततो न कोऽपि दोष इति । २ उल्लेख इति पूर्वेण सम्बन्धः । ३ पक्षः । ४ ज्ञापकत्वेन । ५ ज्ञाप्यत्वेन । ६ धर्मिणः स्वार्थानुमानाङ्गत्वे युक्तिः । ७ प्रकारान्तरेण स्वार्थानुमानस्याङ्गप्रतिपादनार्थमाह अथवेति ।

१ म सु प्रतिषु स्थितिरवगन्तव्या' इति पाठः । २ 'अथवा' इति पाठो मुद्रितप्रतिषु नास्ति ।

'विवक्षाया वैचित्र्यात् । 'पूर्वत्र हि धर्मिधर्मभेदविवक्षा, 'उत्तरत्र तु । 'तत्समुदायविवक्षा । स एष धर्मित्वेनाभिमतः प्रसिद्ध एव । तदुक्तमभियुक्तं — "प्रसिद्धो धर्मी" [परीक्षा ३-२७] इति ।

[धर्मिणस्त्रिधा प्रसिद्धेर्निरूपणम्]

§ २६ प्रसिद्धत्व च धर्मिण 'क्वचित्प्रमाणात्, क्वचिद्विकल्पात्', क्वचित्प्रमाण-विकल्पाभ्याम् । तत्र 'प्रत्यक्षाद्यन्यतमावधृतत्व प्रमाणप्रसिद्धत्वम् । अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्यय^१गोचरत्व विकल्पप्रसिद्धत्वम् । 'तद्द्वयविषयत्व प्रमाणविकल्पप्रसिद्धत्वम् ।

§ २७ "प्रमाणसिद्धो धर्मी यथा—धूमवत्त्वादग्निमत्त्वे साध्ये पर्वत । "स खलु प्रत्यक्षेणानुभूयते । विकल्पसिद्धो धर्मी यथा—अस्ति सर्वज्ञ सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वादित्यस्तित्वे साध्ये सर्वज्ञ । अथवा, खरविषाण नास्तीति नास्तित्वे साध्ये खरविषाणम् । सर्वज्ञो ह्यस्तित्वसिद्धे प्राग् न प्रत्यक्षादिप्रमाण-

१ प्रतिपादनेच्छाया । २ भिन्नत्वात् । ३ अङ्गत्रयप्रतिपादने । ४ अङ्गद्वयवचने । ५ धर्मधर्मिणोरैक्यविवक्षा, यतो हि तत्समुदायस्य पक्षत्ववचनात् । ६ अनुमाने । ७ प्रतीतेः । ८ प्रत्यक्षादीनामन्यतमेन प्रमाणेनावधृतत्वम्, निश्चितत्वमित्यर्थः । ९ प्रमाणविकल्पोभयविषयत्वम् । १० उक्तानां त्रिविवधधर्मिणा क्रमेणोदाहरणानि प्रदर्शयति प्रमाणेति । ११ पर्वत ।

१ द प्रती 'तु' स्थाने 'च' पाठ । २ 'अनिश्चितप्रामाण्यप्रत्यय' इति द प्रतीपाठ ।

सिद्ध , अपि तु 'प्रतीतिमात्रसिद्ध इति विकल्पसिद्धोऽयं धर्मी ।
तथा खरविषाणमपि नास्तित्वसिद्धे प्राग्विकल्पसिद्धम्' । 'उभय-
सिद्धो धर्मी यथा—'शब्द. परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्द. । स
हि वर्तमान प्रत्यक्षगम्य , भूतो भविष्यश्च विकल्पगम्य । स
सर्वोऽपि धर्मीति प्रमाण-विकल्पसिद्धो धर्मी । प्रमाणोभय-
सिद्धयोर्धर्मिणो साध्ये कामचार' । विकल्पसिद्धे तु धर्मिणि
'सत्तासत्तयोरेव साध्यत्वमिति नियमः । तदुक्तम्—“विकल्पसिद्ध
‘तस्मिन् सत्तेतरे’ साध्ये” [परीक्षा ३-२८] इति ।

§ २८ तदेवं परोपदेशानपेक्षिणः । साधनाद् 'दृश्यमानाद्धर्मि-
निष्ठतया साध्ये यद्विज्ञानं तत्स्वार्थानुमानमिति स्थितम् । तदुक्तम्—

१ सम्भावनामात्रसिद्ध , सम्भावना प्रतीतिविकल्प इत्येकार्थका । २ तथा
चाहुः श्रीमाणिक्यनन्दिनः—‘विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये’ ‘अस्ति
सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम्’—परीक्षा० २-२८, २९ । ३ प्रमाणविकल्प-
सिद्धः । ४ अत्र शब्दत्वेन निखिलशब्दानां ग्रहणम्, तेषु वर्तमानशब्दाः
श्रावणप्रत्यक्षेण गम्या सन्ति, भूता भविष्यन्तश्च प्रतीतिसिद्धाः सन्ति,
अतः शब्दस्योभयसिद्धधर्मित्वमिति भावः । ५ अनियमः । ६ सत्ता अस्ति-
त्वम्, असत्ता नास्तित्वम्, ते द्वे एवात्र विकल्पसिद्धे धर्मिणि साध्ये भवतः,
'अस्ति सर्वज्ञ' इत्यादौ सत्ता साध्या, 'नास्ति खरविषाणम्' इत्यादौ
चासत्ता साध्या इत्येव नियम एव, न प्रमाणोभयसिद्धधर्मिवत्कामचारस्तत्रे-
त्यवसेयम् । ७ धर्मिणि । ८ सत्तासत्ते । ९ भवतः इति क्रियाध्याहारः ।
१० एतत्पदप्रयोगात् साधनस्य वर्तमानकालिकत्वं प्रकटितं बोद्धव्यम्, तेन
भूतभाविव्यूमादेर्भूतभाविवत्त्व्यादिसाध्यं प्रति साधनत्वं निरस्तम् ।

१ 'परोपदेशानपेक्षेण' इति आ प्रतिपाठः ।

परोपदेशाभावेऽपि साधनात्साध्यबोधनम् ।

यद्द्रष्टुं^१र्जायते स्वार्थमनुमान तदुच्यते ॥[] इति ।

[परार्थानुमानस्य निरूपणम्]

§ २९ परोपदेशमपेक्ष्य यत्साधनात्साध्यविज्ञान तत्परार्थानुमानम् । 'प्रतिज्ञा-हेतुरूपपरोपदेशवशात् श्रोतुरुत्पन्न साधनात् साध्यविज्ञान परार्थानुमानमित्यर्थ' । यथा—पर्वतोऽयमग्निमान् भवितुर्महति धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति वाक्ये केनचित्प्रयुक्ते तद्वाक्यार्थं 'पर्यालोचयत स्मृतव्याप्तिकस्य श्रोतुरनुमानमुपजायते ।

§ ३० परोपदेशवाक्यमेव परार्थानुमानमिति केचित्^२, त एव प्रष्टव्या तत् किं मुख्यानुमानम् अथ। 'गौणानुमानम् इति ? न तावन्मुख्यानुमानम्, वाक्यस्याज्ञानरूपत्वात् । गौणानुमानं 'तद्वाक्यमिति त्वनुमन्यामहे', 'तत्कारणे' 'तद्वचनपदेशोपपत्तेरायु2-धृतमित्यादिवत् ।

१ अनुमातु । २ कोऽसौ परोपदेश इत्याह प्रतिज्ञाहेतुरूपेति । ३ विचारयत । ४ महानसे पूर्वगृहीतव्याप्ति स्मरत । ५ नैयायिकादयः । ६ औपचारिकानुमानम् । ७ परोपदेशवाक्यम् । ८ वयं जैनाः । ९ परार्थानुमानकारणे परोपदेशवाक्ये । १० परार्थानुमानव्यपदेशघटनात्, तत उपचारादेव परोपदेशवाक्य परार्थानुमानम् । परमार्थतस्तु तज्जन्य ज्ञानमेव परार्थानुमानमिति । यदाह श्रीमाणिक्यनन्दी—'परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्'—परीक्षा० ३-५५, 'तद्वचनमपि तद्वेतुत्वात्'—परीक्षा० ३-५६,

१ म सु 'अथवा' इति पाठः । २ म सु आयुर्वे धृत इति पाठः ।

[परार्थानुमानप्रयोजकवाक्यस्य प्रतिज्ञा-हेतुरूपावयवद्वयस्य प्रतिपादनम्]

§ ३१. तस्यैतस्य परार्थानुमानस्याङ्गसम्पत्तिः स्वार्थानुमान-
वत् । परार्थानुमानप्रयोजकस्य च वाक्यस्य१ द्वावयवौ-प्रतिज्ञा
हेतुश्च । तत्र धर्म-धर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा ।
यथा-‘पर्वतोऽयमग्निमान्’ इति । साध्याविनाभाविसाधनवचनं
हेतुः । यथा-‘धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः’ इति ‘तथैव धूमवत्त्वोप-
पत्तेः’-इति वा२ । अनयोर्हेतुप्रयोगयोरुक्तिवैचित्र्यमात्रम् । ‘पूर्वत्र
धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्ययमर्थः-धूमवत्त्वस्याग्निमत्त्वाभावेऽनु-
पपत्तेरिति निषेधमुखेन कथनम्३ । द्वितीये४ तु धूमवत्त्वोपपत्तेरि-
त्ययमर्थः-अग्निमत्त्वे सत्येव धूमवत्त्वस्योपपत्तेरिति विधिमुखेन
प्रतिपादनम्५ । अर्थस्तु६ न भिद्यते, ‘उभयत्राऽप्यविनाभावि-
साधनाभिधानाविशेषात् । अतस्तयोर्हेतुप्रयोगयोरन्यतर’ एव
वक्तव्यः, उभयप्रयोगे पौनरुक्त्यात् । तथा चोक्तलक्षणा प्रतिज्ञा,
एतयोरन्यतरो हेतुप्रयोगश्चेत्यवयवद्वयं परार्थानुमानवाक्यस्येति
स्थितिः, व्युत्पन्नस्य श्रोतुस्तावन्मात्रेणैवानुमित्युदयात् ।

श्रीहेमचन्द्राचार्योऽप्याह—‘यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्’ ‘वचनमुप-
चारात्’—प्रमाणम् ० २, १, १-२ ।

१ केवलं कथनभेदः । २ हेतुप्रयोगे । ३ हेतुप्रयोगे । ४ हेतुप्रयोगद्वये-
ऽपि । ५ एकतर एव । ६ प्रतिज्ञाहेतुद्वयेनैव ।

१ द प प्रत्यो ‘च वाक्यस्य’ इति पाठो नास्ति । २ द प प्रत्यो.
‘च’ पाठः । ३ आ मु म प्रतिषु ‘प्रतिपादनम्’ इति पाठः । ४ आ मु म
प्रतिषु ‘कथनम्’ पाठः । ५ ‘अर्थस्तु’ इति द प्रतिपाठः ।

[नैयायिकाभिमतपञ्चावयवाना निरास]

§ ३२ 'नैयायिकास्तु परार्थानुमानप्रयोगस्य यथोक्ताभ्या
द्वाभ्यामवयवाभ्या सममुदाहरणमुपनयो निगमन चेति पञ्चावय-
वानाहु । तथा च ते सूत्रयन्ति “प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमना-
न्यवयवा ” [न्यायसू० १-१-३२] इति । तांश्च ते लक्षणपुरस्सरमु-

१ अवयवमान्यतामभिप्रेत्य दार्शनिकाना मतभेदो वर्तते । तथा हि—
नैयायिकास्तावत् मूले प्रदर्शितान् प्रतिज्ञादीन् पञ्चावयवान् प्रतिपेदिरे ।
नैयायिकैकदेशिनः । 'पूर्वोक्ता पञ्च, जिज्ञासा, सशय , शक्यप्राप्ति , प्रयो-
जनम्, सशयव्युदासः' (न्यायभा० १-१-३२) इति दशावयवान् वाक्ये
सचक्षते । मीमांसकाः 'तत्रावाधित इति प्रतिज्ञा, ज्ञातसम्बन्धनियमस्ये-
त्यनेन दृष्टान्तवचनम्, एकदेशदर्शनादिति हेत्वभिधानम्, तदेव अवयव-
साधनम्' (प्रकरणपञ्जि० पृ० ८३) इत्येतान् अवयवान् मन्यन्ते ।
सांख्याः 'पक्षहेतुदृष्टान्ता इति अवयव साधनम्' (सांख्य० माठरवृ० का०
५) प्रतिपादयन्ति । बौद्धार्थिकदिग्गजः 'पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्नि-
कानामप्रतीतोऽर्थं प्रतिपाद्यते × × × एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते'
(न्याय० पृ० १४, १६) इति प्ररूपयति । केचिन्मीमांसका प्रतिज्ञा-
हेतूदाहरणोपनयान् चतुरोऽवयवान् कथयन्ति (प्रमेयर० ३-३६) । धर्म-
कीर्तिस्तन्मतानुसारिणो बौद्धाश्च हेतुदृष्टान्ताविति द्वावयवौ (प्रमाण-
वा० १-२८, वादन्या० पृ० ६१), 'हेतुरेव हि केवल' (प्रमाणवा०
१-२८) इति केवल हेतुरूपमेकमवयवमपि च निरूपयन्ति । वैशेषिकाश्च
'अवयवा पुन प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नाया' (प्रशस्तपाद-
भा० पृ० ११४) इत्युक्तान् पञ्चावयवान् मेनिरे । स्याद्वादिनो जैनास्तु
'एतद्वयमेवानुमानाङ्ग नोदाहरणम्' (परीक्षा० ३-३७) इति प्रतिज्ञा-
हेतुरूपावयवद्वयमेव मन्यन्त इति विवेक ।

दाहरन्ति च । तद्यथा—पक्षवचन प्रतिज्ञा, यथा—पर्वतोऽयमग्नि
मानिति । साधनत्वप्रकागार्थ २ पञ्चम्यन्त लिङ्गवचन हेतुः, यथा—
धूमवत्त्वादिति । व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्तवचनमुदाहरणम्, यथा—यो यो
धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इति साधर्म्योदाहरणम् ।
यो योऽग्निमान्न भवति स स धूमवान्न भवति, यथा महाहृद इति
वैधर्म्योदाहरणम् । पूर्वत्रोदाहरणभेदे हेतोर्न्वयव्याप्ति ' प्रदर्श्यते,
द्वितीये तु व्यतिरेकव्याप्ति ' । तद्यथा—अन्वयव्याप्तिप्रदर्शन-
स्थानमन्वयदृष्टान्त ' , व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनप्रदेशो व्यतिरेक-
दृष्टान्त ' । एव दृष्टान्तद्वैविध्यात्तद्वचनस्योदाहरणस्यापि द्वैविध्य
बोध्यम् । अनयोच्चोदाहरणयोरन्यतरप्रयोगेणैव पर्याप्तत्वादित-
राप्रयोग । दृष्टान्तापेक्षया पक्षे ३ हेतोरूपसहारवचनमुपनय .', तथा

१ साधनसङ्गावपूर्वकसाध्यसङ्गावप्रदर्शनमन्वयव्याप्ति । २ साध्या-
भावपूर्वकसाधनाभावप्रदर्शन व्यतिरेकव्याप्ति । ३ 'यत्र प्रयोज्यप्रयोजक-
भावेन साध्यसाधनयोर्धर्मयोरस्तित्वं ल्याप्यते स नावर्त्यदृष्टान्त । यद्यत्
कृतकं तत्तदनित्यं दृष्टम्, यथा घट इति'—न्यायकलि० पृ० ११ । ४ 'यत्र
साध्याभावप्रयुक्तो हेत्वभाव ल्याप्यते स वैधर्म्यदृष्टान्त । यत्रानित्यत्व
नास्ति तत्र कृतकत्वमपि नास्ति, यथा आकाश इति' (न्यायकलि० पृ०
११) एतदुभयमधिकृत्य कैश्चिदुक्तम्—'साध्येनानुगमो हेतो साध्याभावे
च नास्तिता इति' (न्यायवार्तिक पृ० १३७) । ५ 'साधर्म्यवैधर्म्योदाहरणा-
नुसारेण तथेति, न तथेति वा साध्यधर्मिणि हेतोरूपसहार उपनय'—
न्यायकलि० पृ० १२ ।

१ मुद्रितप्रतिपु 'च' पाठो नास्ति । २ मु म 'प्रकागनार्थ' । ३ मु
'पक्षहेतो' ।

चायं धूमवानिति । हेतुपूर्वक पुन १ पक्षवचन निगमनम्^१, तस्मादग्निमानेवेति । एते पञ्चावयवा परार्थानुमानप्रयोगस्य^२ । 'तदन्यतमाभावे वीतरागकथाया' विजिगीषुकथाया च^३ नानुमतिरुदेतीति नैयायिकानामभिमत ३ ।

§ ३३ तदेतद्विमृश्याभिमननम्, वीतरागकथाया^४ प्रतिपाद्यागयानुरोधेनावयवाधिक्येऽपि विजिगीषुकथाया प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयेनैव पर्याप्ते किमप्रयोजनैरन्यैरवयवै ।

[विजिगीषुकथाया प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयस्यैव सार्थक्यमिति]

§ ३४ तथा हि—वादिप्रतिवादिनो स्वमतस्थापनार्थं जयपराजयपर्यन्त परस्पर प्रवर्तमानो 'वागव्यापारो विजिगीषुकथा । गुरुशिष्याणां विशिष्टविदुषां वा^५ रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णय-

१ द्विविवे हेनौ द्विविवे च दृष्टान्ते द्विविवे चोपनये तुल्यमेव हेत्वपदेशेन पुन साधर्म्योपमहरणान्निगमनम्—न्यायकलि० पृ० १२ ।
 २ ते इमे प्रतिज्ञादयो निगमनान्ता पञ्चावयवा स्वप्रतिपत्तिवत्परप्रतिपत्तिमुत्पादयितुमिच्छता यथानिर्दिष्टक्रमका प्रयोक्तव्या । एतदेव साधनवाक्य परार्थानुमानमाचक्षते ।—न्यायकलि० पृ० १२ । ३ प्रतिज्ञादीनामेकतमस्याऽप्यभावे । ४ 'वादिप्रतिवादिनो पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह कथा । सा द्विविधा—वीतरागकथा विजिगीषुकथा चेति ।—न्यायसार पृ० १५ ।
 ५ वचनप्रवृत्ति ।

१ मुद्रितप्रती 'पुन' नास्ति । २ आ म मु प्रतिषु 'वा' पाठ ।
 ३ म मु प्रतिषु 'मतम्' । ४ द प प्रत्यो 'वीतरागकथाया तु' इति पाठ ।
 ५ द 'वा' पाठो नास्ति ।

पर्यन्त परस्पर प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा' । तत्र^१
 विजगीषुकथा वाद इति चोच्यते' । 'केचिद्वीतरागकथा वाद इति
 कथयन्ति, तत्पारिभाषिकमेव' । न हि लोके गुरुशिष्यादिवाग्व्यापारे
 वादव्यवहारः, विजगीषुवाग्व्यवहार एव वादत्वप्रसिद्धे ॥ यथा
 स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः सर्वे^२सर्वथैकान्तवादिनो वादे जिता इति ।
 तस्मिंश्च वादे परार्थानुमानवाक्यस्य प्रतिज्ञा हेतुरित्यवयवद्वयमे-
 वोपकारकम्, नोदाहरणादिकम् । तद्यथा—लिंगवचनात्मकेन हेतुना
 तावदवश्यं भवितव्यम्, लिङ्गज्ञानाभावेऽनुमितेरेवानुदयात् । पक्ष-
 वचनरूपया प्रतिज्ञयाऽपि भवितव्यम्, अन्यथाऽभिमतसाध्यनिष्च-
 याभावे साध्यसन्देहवत् श्रोतुरनुमित्यनुदयात् । तदुक्तम्—“एतद्द्वय
 मेवानुमानाङ्गम्”^३[परीक्षा ३-३७]इति । अयमर्थः—एतयोः प्रतिज्ञा-

१ जयपराजयान्निप्रायरहिता तत्त्वजिज्ञासया क्रियमाणा तत्त्वचर्चा
 वीतरागकथा इति भावः । २ उभयोर्मध्ये । ३ यथोक्तम्—

प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैव सिद्धये ।

वचनसाधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः ॥ न्यायवि०का० ३८२ ।

४ नैयायिका—‘गुर्वादिभिः सह वाद × × × गुर्वादिभिः सह
 वादोपदेशान्, यस्मादयं तत्त्वबुभुत्सुर्गुर्वादिभिः सह त्रिविधः (अनधिगत-
 तत्त्वावबोधम्, सशयनिवृत्तिम्, अध्यवसिताभ्यनुज्ञानम्) फलमाकाङ्क्षन्
 वादं करोति ।’—न्यायवा० पृ० १४६ । यत्र वीतरागो वीतरागेणैव सह
 तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति सा वीतरागकथा वादसंज्ञायोच्यते ।
 —न्यायसार पृ० १५ । ५ कथनमात्रम्, न तु वास्तविकम् । ६ प्रतिज्ञाया
 अभावे । ७ ‘एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्’ इत्युपलब्धसूत्रपाठः ।

१ द ‘सिद्धे’ पाठः । २ द ‘सर्वे’ पाठो नास्ति ।

हेत्वोर्द्वयमेवानुमानस्य परार्थानुमानस्याङ्गम् । वाद इति शेषः ।
 एवकारेणावधारणपरेण^१ नोदाहरणादिकमिति सूचित^२ भवति ।
^३व्युत्पन्नस्यैव हि वादाधिकारः, प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगमात्रेणैवोदाहर-
 णादिप्रतिपाद्यस्यार्थस्य गम्यमानस्य व्युत्पन्नेन ज्ञातुं शक्यत्वात् ।
 गम्यमानस्याऽप्यभिधाने^४ 'पौनरुक्त्यप्रसङ्गादिति^२ ।

§ ३५ 'स्यादेतत्, प्रतिज्ञाप्रयोगेऽपि पौनरुक्त्यमेव, 'तदभि-
 घयस्य पक्षस्यापि 'प्रस्तावादिना गम्यमानत्वात् । तथा च लिङ्ग-
 वचन^३लक्षणो हेतुरेक एव वादे प्रयोक्तव्य^४ इति वदन् बौद्धपशु-
 रात्मनो "दुर्विदग्धत्व^४मुद्घोषयति" । हेतुमात्रप्रयोगे व्युत्पन्न-
 स्यापि साध्यसन्देहानिवृत्ते^५ । तस्मादवश्यं प्रतिज्ञा प्रयोक्तव्या ।
 तदुक्तम्—“साध्यसन्देहापनोदार्थ^६गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम्”
 [परीक्षा ३-३४] इति । तदेव^७ वादापेक्षया परार्थानुमानस्य
 प्रतिज्ञाहेतुरूपमवयवद्वयमेव, न न्यून न^५ चाधिकमिति स्थितम् ।
 “प्रपञ्चः पुनरवयवविचारस्य पत्रपरीक्षायामोक्षणीय^८” ।

१ इतरव्यवच्छेदकेन । २ ज्ञापितम् । ३ वादकरणसमर्थस्यैव वक्तु ।
 ४ वचने । ५ पुनर्वचन पौनरुक्त्यम् । ६ सौगत शङ्कते । ७ प्रतिज्ञाया
 प्रतिपाद्यस्य । ८ प्रकरणव्याप्तिप्रदर्शनादिना । ९ प्रतिज्ञामन्तरेण केवलस्य
 हेतोरेव प्रयोगः करणीयः, 'हेतुरेव हि केवल' इति धर्मकीर्तिवचनात् । १०
 जाड्यम् ११ प्रकटयति । १२ साध्यस्य सन्देहो न निवर्तते । १३ साध्यस-
 ग्यनिवृत्त्यर्थम् । १४ विजिगीषुकथामाश्रित्य । १५ विस्तरः । १६ दृष्टव्यः ।

१ द प प्रत्यो 'प्रतिज्ञाहेतुमात्रे' इति पाठ । २ मु 'इति' नास्ति । ३ द
 'वचन' नास्ति । ४ प मु 'दुर्विदग्धता' पाठ । ५ 'नाधिक' इति मु प्रतिपाठ ।

[वीतरागकथायामधिकावयवप्रयोगन्यौचित्यसमर्पणम्]

§ ३६ वीतरागकथाया तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेन^१ प्रतिज्ञाहेतू द्वाववयवौ, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि त्रयः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया-श्चत्वारः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि वा। पञ्चेति यथा-योग^२ प्रयोगपरिपाटी^३। तदुक्त कुमारनन्दिभट्टारकैः—

“प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः” — [बादन्यायः] इति ।

तदेव प्रतिज्ञादिरूपात्परोपदेशादुत्पन्न^४ परार्थानुमानम् ।

तदुक्तम्—

परोपदेशसापेक्ष साधनात्साध्यवेदनम्^५ ।

श्रोतुर्यज्जायते सा हि परार्थानुमितिर्मता ॥ [] इति ।

तथा च स्वार्थं परार्थं चेति द्विविधमनुमान साध्याविनाभाव-निश्चयैकलक्षणाद्धेतोरुत्पद्यते ।

१ प्रतिपाद्या शिष्यास्तेषामाशयोऽभिप्रायस्तदपेक्षया । २ परार्थानुमान-वाक्यावयववचनसमुदाय प्रयोगपरिपाटी । अत्राय भावः—वीतरागकथा-यामवयवप्रयोगस्य न कश्चिन्नियमः, तत्र यावद्भिः प्रयोगैः प्रतिपाद्यो बोधनीयो भवति तावन्तस्ते प्रयोक्तव्याः । दृश्यन्ते खलु केचिद् द्वाभ्या-मवयवाभ्यां प्रकृतार्थं प्रतिपद्यन्ते, केचन त्रिभिरवयवैः, अपरे चतुर्भिरवयवैः, अन्ये पञ्चभिरवयवैः, अत उक्त ‘प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः’ इति । अत एव च परानुग्रहप्रवृत्तौ शास्त्रकारैः प्रतिपाद्यावबोधनदृष्टि-भिस्तथैव प्ररूपणात् । व्युत्पन्नप्रज्ञाना तु न तथाऽनियमः, तेषां कृते तु प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयस्यैव पर्याप्तत्वादस्ति तादृङ्नियमः । ३ ज्ञानम् । ४ साध्यज्ञानम् ।

[वौद्धाभिमतत्रैरूप्यहेतुलक्षणस्य निरास]

§ ३७ इत्थमन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरनुमितिप्रयोजक^१ इति 'प्रथितेऽप्यार्हते^२ मते तदेतदवितर्क्यान्ये^३ऽन्यथा^४ऽप्याहु । तत्र तावत्तायागताः 'पक्षधर्मत्वादित्रितयलक्षणा^२ल्लिङ्गादनुमानोत्थानम्' इति वर्णयन्ति^५ । तथा हि—पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिरिति हेतोस्त्रीणि रूपाणि । तत्र साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्ष , यथा 'धूमध्वजानुमाने पर्वत , तस्मिन् व्याप्य वर्तमानत्व हेतो पक्षधर्मत्वम् । साध्यसजातीयधर्मा धर्मी सपक्ष , यथा तत्रैव^६ महानस , तस्मिन् सर्वत्रैकदेगे वा वर्तमानत्व हेतो सपक्षे सत्त्वम् । साध्यविरुद्धधर्मा धर्मी विपक्ष , यथा तत्रैव हृद^३, तस्मात्सर्वस्माद्

१ जनक इत्यर्थ । २ प्रसिद्धे । ३ सौगतादय । ४ त्रैरूप्यादिकम् । ५ अयमभिप्रायो वौद्धानाम्—नान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षण साधनम्, अपि तु पक्षधर्मत्वादिरूपत्रययुक्तम्, तेनैवासिद्धत्वादिदोषपरिहारात् । उक्तं च ।—

हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः ।

असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ॥

प्रमाणवा० १-१६ ।

'हेतुस्त्रिरूप । किं पुनस्त्रैरूप्यम् ? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति ।' न्यायप्र० पृ० १ । अत्र न्यायविन्दुटी० पृ० ३१, ३३ । वादन्याय० पृ० ६० । तत्त्वसं० पृ० ४०४ इत्याद्यपि दृष्टव्यम् । ६ धूमध्वजो वह्नि , धूमस्य तज्ज्ञापकत्वात् । ७ धूमध्वजानुमाने । ८ हृदादिसर्वविपक्षात् ।

१ म सु 'अर्हतमते' पाठ । २ द प 'लक्षणलिङ्गा' इति पाठ । ३ आ म सु 'महाहृद' इति पाठ ।

व्यावृत्तत्वं हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तिः^१ । तानीमानि त्रीणि रूपाणि मिलितानि हेतोर्लक्षणम् । अन्यतमाभावे हेतोराभासत्वं^२ स्यादिति ।

§ ३८ 'तदसङ्गतम्, कृत्तिकोदयादेर्हेतोरपक्षधर्मस्य' शकटोदयादिसाध्यगमकत्वदर्शनात् । तथा हि—शकटं मुहूर्तान्ते उदे-
ष्यति कृत्तिकोदयादिति । अत्र हि—शकटं धर्मी^१, मुहूर्तान्तोदयः^२
साध्यः, कृत्तिकोदयो हेतुः । न हि कृत्तिकोदयो हेतुः पक्षीकृते
शकटे वर्तते, अतो न पक्षधर्मः । 'तथाप्यन्यानुपपत्तिबलाच्छक-
टोदयाख्य साध्यः गमयत्येव'^३ । तस्माद् बौद्धाभिमतं हेतोर्लक्षणम-
व्याप्तम्^४ ।

[नैयायिकाभिमतपाञ्चरूप्यहेतुलक्षणस्य निरासः]

§ ३९ नैयायिकास्तु पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षणमाचक्षते । तथा हि—

१ विपक्षावृत्तित्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिः । २ प्रोक्तरूपत्रयाणामेकैकापाये ।
३ तन्नामको हेत्वाभासः स्यादिति भावः । तथा च पक्षधर्मत्वाभावेऽसिद्ध-
त्वम्, सपक्षसत्त्वविरहे विरुद्धत्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावे चानैकान्तिकत्व-
मिति । ४ ग्रन्थकारः समाधत्ते तदसङ्गतमिति । ५ पक्षेऽवर्तमानस्य ।
६ पक्षधर्मत्वाभावेऽपि । ७ किञ्च, 'उपरि वृष्टिरभूत्, अघोपूरान्यथानुप-
पत्तेः' इत्यादावपि पक्षधर्मत्वं नास्ति तथापि गमकत्वं सर्वैरभ्युपगम्यते,
अन्यथानुपपत्तिसङ्गावात् । अतः सैव हेतोः प्रधानं लक्षणमस्तु^१ ? किं त्रै-
रूप्येण । ८ अव्याप्तिदोषदूषितम् । अपि च, 'बुद्धोऽसर्वज्ञो वक्तृत्वादे रथ्या-
पुरुषवत्' इत्यत्र पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयसङ्गावेनातिव्याप्तम् ।

१ मु 'शकटं पक्षः' पाठः । २ म मु 'मुहूर्तान्ते उदयः' पाठः ।

पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिः अवाधितविषय-
त्वम्, असत्प्रतिपक्षत्व चेति पञ्च रूपाणि । 'तत्राद्यानि' त्रीण्युक्त-
लक्षणानि । साध्यविपरीतनिश्चायकप्रबलप्रमाणरहितत्वमवाधित-
विषयत्वम् । तादृशसमबलप्रमाणशून्यत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम् । तद्यथा
—पर्वतोऽयमग्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवानसा । वसावग्नि-
मान्, यथा महानसः, यो योऽग्निमान्न भवति स धूमवान्न भवति,
यथा महाह्रदः, तथा चायं धूमवास्तस्मादग्निमानेवेति । 'अत्र
ह्यग्निमत्त्वेन साध्यधर्मेण विशिष्टः पर्वताख्यो धर्मी पक्षः, धूमवत्त्व
हेतुः । 'तस्य च तावत्पक्षधर्मत्वमस्ति, पक्षीकृते पर्वते वर्तमान-
त्वात् । सपक्षे सत्त्वमप्यस्ति, सपक्षे महानसे वर्तमानत्वात् ।
'ननु केषुचित्सपक्षेषु धूमवत्त्व न वर्तते, अङ्गारावस्थापन्नाग्नि-
मत्सु प्रदेशेषु धूमाभावात्, इति चेत्, न, सपक्षैकदेशवृत्तेरपि हेतु-
त्वात्, सपक्षे सर्वत्रैकदेशे वा वृत्तिर्हेतोः सपक्षे सत्त्वमित्युक्तत्वात् ।
विपक्षाद्व्यावृत्तिरप्यस्ति, धूमवत्त्वस्य सर्वमहाह्रदादिविपक्षव्या-
वृत्तेः । 'अवाधितविषयत्वमप्यस्ति, धूमवत्त्वस्य हेतोर्विषयो-
ऽग्निमत्त्वाख्य साध्यः तस्य प्रत्यक्षादि' प्रमाणावाधितत्वात् । 'अस-
त्प्रतिपक्षत्वमप्यस्ति, अग्निरहितत्वसाधकसमबलप्रमाणासम्भ-

१ तेषु । २ पक्षधर्मत्वादीनि । ३ बलानुमाने । ४ धूमवत्त्वस्य ।
५ यौगं प्रति परं शङ्कते नन्विति । ६ धूमवत्त्वे पक्षधर्मत्वादित्यत्र समर्थ्या-
वाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्व चापि शेषरूपद्वयं समर्थयति प्रकरणकारो-
ऽवाधितेत्यादिना । ७ आदिपदादनुमानागमादिग्रहणम् । ८ न विद्यते

१ म मु प्रतिषु 'स स' इति पाठः । २ आ म मु 'विपक्षाद्व्या' इति पाठः ।

वात् । 'तथा च पाञ्चरूप्य^१ सम्पत्तिरेव धूमवत्त्वस्य^२ स्वसाध्य-
साधकत्वे^३ निबन्धनम् । एवमेव सर्वेषामपि^४ सद्धेतूना रूपपञ्चक-
सम्पत्तिरुहनीया^५ ।

§ ४० तदन्यतमविरहादेव खलु पञ्च हेत्वाभासा असिद्धवि-
रुद्धानैकान्तिक-कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाख्या^६ सम्पन्ना । तथा
हि—'अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्ध , यथा—'अनित्य शब्दश्चाक्षुष-
त्वात्' । अत्र हि चाक्षुषत्व हेतु पक्षीकृते शब्दे न वर्तते, श्रावण-
त्वाच्छब्दस्य । तथा च पक्षधर्मविरहादसिद्धत्व चाक्षुषत्वस्य ।
साध्यविपरीतव्याप्तो^७ विरुद्ध , यथा—'नित्यः शब्द कृतकत्वात्'
इति । कृतकत्व हेतु साध्यभूतनित्यत्वविपरीतेनानित्यत्वेन^८ व्या-
प्त ३, सपक्षे^९ गगनादावविद्यमानो^{१०} विरुद्ध । 'सव्यभिचारो-
ऽनैकान्तिक , यथा—अनित्य शब्द प्रमेयत्वात्' इति । प्रमेयत्व

प्रतिपक्षो यस्य सोऽसत्प्रतिपक्षस्तस्य भावस्तत्त्वम् प्रतिद्वन्द्विहेतुरहितत्वमि-
त्यर्थ । न ह्यत्र 'पर्वतो नाग्निमान् अमुकत्वात्' इत्येवभूतमग्निरहितत्वसाधक
किञ्चित् समवलप्रमाण वर्तते । ततोऽसत्प्रतिपक्षत्व धूमवत्त्वस्य ।

१ उक्तमेवोपसहरति तथा चेति । २ स्वपदेन धूमवत्त्व तस्य साध्य
वह्निस्तत्प्रसाधने । ३ कृतकत्वादीनाम् । ४ विचारणीया । ५ पक्षधर्मत्वा-
दीनामेकैकापायात् । ६ तानेवोपदर्शयति । ७ न निश्चिता पक्षे वृत्तिर्यस्य
सोऽसिद्ध । ८ 'साध्याद् (नित्यत्वादे) विपरीत यत् (अनित्यत्वादि) तेन
सह व्याप्तो व्याप्तिमान् हेतु स विरुद्धो हेत्वाभास । ९ नियमेन वर्तमान ।
१० साध्यासत्त्वे हेतुसत्त्व व्यभिचारस्तेन सहित सव्यभिचार । साध्या-
भाववद्वृत्तिर्हेतुर्व्यभिचारीत्यर्थ ।

१ द पञ्चरूप' पाठ । २ आ प म मु 'स्व' नास्ति । ३ मु 'व्याप्तत्वात्'
पाठ । ४ मु 'सपक्षे च' पाठ । ५ मु 'वविद्यमानत्वात्' पाठ ।

हि हेतु १ साध्यभूतमनित्यत्व व्यभिचरति, गगनादौ विपक्षे' नित्यत्वेनापि सह वृत्ते । ततो विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावादनैकान्तिक २। 'वाधितविषय. 'कालात्ययापदिष्ट । 'यथा—'अग्निरनुष्ण. पदार्थत्वात्' इति । अत्र हि पदार्थत्व हेतु. स्वविषयेऽनुष्णत्वे उष्णत्वग्राहकेण प्रत्यक्षेण वाधिते प्रवर्त्तमानोऽवाधितविषयत्वाभावात्कालात्ययापदिष्ट । 'प्रतिसाधनप्रतिरुद्धो ३ हेतु 'प्रकरणसम, 'यथा—'अनित्य शब्दो नित्यधर्मरहितत्वात्' इति । अत्र

१ अनित्यत्वाभाववति । २ प्रत्यक्षादिना वाधितो विषय साध्य यस्य हेतो स वाधितविषयः कालात्ययापदिष्टो नाम । ३ एतन्नामकश्चतुर्थो हेत्वाभास । तथा चोक्तम्—'प्रत्यक्षागमविरुद्ध कालात्ययापदिष्ट । अवाधितपरपक्षपरिग्रहो हेतुप्रयोगकाल तमतीत्यासावुपदिष्ट इति । अनुष्णोऽग्नि कृतकत्वात् घटवदिति प्रत्यक्षविरुद्ध । ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवत् इत्यागमविरुद्ध ।'—न्यायकलि० पृ० १५ । ४ कालात्ययापदिष्टमुदाहरति यथेति । ५ विरोधिसाधन प्रतिसाधनम्, तेन साध्य-प्रत्यायन प्रति रुद्धोऽसमर्थोऽकृतो यो हेतु स प्रकरणसमो नाम पञ्चमो हेत्वाभास । ६ जयन्तभट्टस्तु प्रकरणसममित्य लक्षयति—'विशेषाग्रहणात् प्रकरणे पक्षे सशयो भवति—नित्य शब्दोऽनित्य शब्दो वेति । तदेव विशेषाग्रहण भ्रान्त्या हेतुत्वेन प्रयोज्यमान प्रकरणसमो हेत्वाभासो भवति । अनित्य शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धे घटवदिति, नित्य शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धे राकागवदिति । न चानयोरन्यतरदपि साधन बलीय यदितरस्य वाधकमुच्येत ।'—न्यायकलि० पृ० १५ । ७ असत्प्रतिपक्षापरनामप्रकरणसममुदाहरणद्वारा दर्शयति यथेति ।

१ द आ प्रत्यो 'हेतु' नास्ति । २ द 'कम्' । ३ द 'विरुद्धो' पाठ ।

हि नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतुः प्रतिसाधनेन प्रतिरुद्धः । किं तत्प्रतिसाधनम् इति चेत्, नित्यं गव्दोऽनित्यधर्मरहितत्वादिति नित्यत्वसाधनम् । तथा चासत्प्रतिपक्षत्वाभावात्प्रकरण-समत्वं नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतोः । तस्मात्पाञ्चरूप्य हेतोर्लक्षणमन्यतमाभावे हेत्वाभासत्वप्रसङ्गादिति सूक्तम् । 'हेतुलक्षण-रहिता हेतुवदवभासमाना खलु हेत्वाभासाः' । पाञ्चरूप्यान्यतम-शून्यत्वाद्धेतुलक्षणरहितत्वम्, कतिपयरूपसम्पत्तेर्हेतुवदवभासमा-नत्वम्' [] इति वचनात् ।

§ ४१ 'तदेतदपि नैयायिकाभिमतमनुपपन्नम्, कृत्तिकोदयस्य पक्षधर्मरहितस्यापि शकटोदयं प्रति हेतुत्वदर्शनात्पाञ्चरूप्यस्या-व्याप्ते ।

§ ४२ 'किञ्च, केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोर्हेत्वो. पाञ्च-रूप्याभावेऽपि गमकत्वं तैरेवाङ्गीक्रियते । तथा हि—ते मन्यन्ते 'त्रिविधो हेतुः—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी

१ 'अहेतवो हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासा—न्यायकलि० पृ० १४ ।
 २ त्रैरूप्यवत्पाञ्चरूप्यमपि । ३ नैयायिकमतानुसारेणैव पुनरव्याप्तिं दर्शयति किञ्चेति । ४ 'अन्वयी, व्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी चेति । तत्रा-न्वयव्यतिरेकी विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः, यथा—अनित्य शब्द सामान्यविशेषवत्त्वे सत्यस्मदादिवाह्यकरणप्रत्यक्षत्वाद् घटवदिति । अन्वयी विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सति विपक्षहीनो, यथा सर्वानित्यत्व-वादिनामनित्य शब्द कृतकत्वादिति । अस्य हि विपक्षो नास्ति । व्यति-रेकी विवक्षितव्यापकत्वे सति सपक्षाभावे सति विपक्षावृत्तिः, यथा नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकमप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति—न्यायवा० पृ० ४६ ।

चेति । तत्र पञ्चरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी । यथा—‘शब्दोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात्, यद्यत्कृतक तत्तदनित्य यथा घटः, यद्यदनित्य न भवति तत्तत् कृतक न भवति । यथाऽऽकाशम्, तथा चाय कृतक, तस्मादनित्य एवेति’ । अत्र शब्द ‘पक्षीकृत्यानित्यत्व साध्यते । तत्र कृतकत्व हेतुस्तस्य पक्षीकृतशब्दधर्मत्वात्पक्षधर्मत्वमस्ति । सपक्षे घटादौ वर्तमानत्वाद्विपक्षे गगनादववर्तमानत्वादन्यव्यतिरेकित्वम् ।

§ ४३. पक्षसपक्षवृत्तिविपक्षरहित केवलान्वयी । यथा—‘अदृष्टादय कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्, यद्यदनुमेय तत्तत्कस्यचित्प्रत्यक्षम्, यथाऽग्न्यादि’ इति । अत्रादृष्टादयः पक्ष, कस्यचित्प्रत्यक्षत्व साध्यम्, अनुमेयत्व हेतु अग्न्याद्यन्वयदृष्टान्त । अनुमेयत्व हेतु पक्षीकृतेऽदृष्टादौ वर्तते, सपक्षभूतेऽग्न्यादौ वर्तते । ततः पक्षधर्मत्व सपक्षे सत्त्वं चास्ति । विपक्ष पुनरत्र नास्त्येव, सर्वस्यापि पक्ष^२सपक्षान्तर्भावात्तस्माद्विपक्षाद्व्यावृत्तिर्नास्त्येव । व्यावृत्तेरवधिसापेक्षत्वात्, अवधिभूतस्य च विपक्षस्याभावात् । शेषमन्वयव्यतिरेकिवद् द्रष्टव्यम् ।

१ धर्मिण कृत्वा । २ व्यावृत्तिर्ह्यवधिमपेक्ष्य भवति, अवधिश्च विपक्ष, स चात्र नास्त्येव । ततोऽवधिभूतविपक्षाभावान्न विपक्षव्यावृत्तिर्केवलान्वयिनि हेताविति भावः ।

१ द आ ‘यत्कृतक तदनित्य यथा घट यदनित्य न भवति तत्कृतक न भवति’ इति पाठ । २ द ‘पक्षान्तर्भावा—’ पाठ ।

§ ४४ पक्षवृत्तिविपक्षव्यावृत्त. सपक्षरहितो हेतु. केवलव्यतिरेकी । यथा—‘जीवच्छरीर सात्मक भवितुर्महति प्राणादिमत्त्वात्, यद्यत्सात्मक न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति यथा लोष्ठम् इति । अत्र जीवच्छरीर पक्षा, सात्मकत्व साध्यम्, प्राणादिमत्त्व हेतु, लोष्ठादिव्यतिरेकदृष्टान्त । प्राणादिमत्त्व हेतु पक्षीकृते जीवच्छरीरे वर्तते । विपक्षाच्च लोष्ठादेव्यवर्तते । सपक्ष पुनरत्र नास्त्येव, सर्वस्यापि १ पक्षविपक्षान्तर्भावादिति । ज्ञेय पूर्ववत् ।

§ ४५ एवमेतेषा त्रयाणा हेतूना मध्येऽन्वयव्यतिरेकिण एव पाञ्चरूप्यम्, केवलान्वयिनो विपक्षव्यावृत्तेरभावात्, केवलव्यतिरेकिण सपक्षे ३ सत्त्वाभावाच्च नैयायिकमतानुसारेणैव पाञ्चरूप्यव्यभिचार.^१ । अन्यथानुपपत्तेस्तु सर्वहेतुव्याप्तत्वाद्धेतुलक्षणत्वमुचितम्, तदभावे हेतो. स्वसाध्यगमकत्वाघटनात् ।

§ ४६. यदुक्तम्—‘असिद्धादिदपपञ्चकनिवारणाय पञ्चरूपाणि’ [] इति, तन्न, अन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चितत्वस्यैवास्मदभिमतलक्षणस्य तन्निवारकत्वसिद्धे । तथा हि—साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वं खलु हेतोर्लक्ष-

१ अत्र व्यभिचारपदेनाव्याप्तिदोषो विवक्षित । २ अन्यथानुपपत्तेरभावे । ३ असिद्धादिदोषव्यच्छेदकत्वप्रसिद्धे । ४ ननु कथमेकेनान्यथानुपपत्तिलक्षणेनासिद्धादिपञ्चहेत्वाभासाना निराकरणम् ? इत्यत आह तथा हीति ।

१ द ‘पक्षान्तर्भा-’ । २ आ प म मु ‘विपक्षव्यावृत्त्यभावात्’ ३ सु ‘सपक्षमत्त्वाभावात्’ ।

णम्, “साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु ” [परीक्षा० ३-१५]
इति वचनात् । न ‘चैतदसिद्धस्यास्ति । शब्दानित्यत्वसाधनाया-
भिप्रेतस्य ‘चाक्षुषत्वादे स्वरूपस्यैवाभावे कुतोऽन्यथानुपपत्ति-
मत्त्वेन निश्चयपथप्राप्ति ? तत साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वेन
निश्चयपथप्राप्त्यभावादेवास्य हेत्वाभासत्वम्, न तु पक्षधर्मत्वाभा-
वात्, ‘अपक्षधर्मस्यापि कृत्तिकोदयादेर्यथोक्त’ लक्षणसम्पत्तेरेव
सद्धेतुत्वप्रतिपादनात् । विरुद्धादेस्तदभाव^१ स्पष्ट एव । न हि
विरुद्धस्य व्यभिचारिणो बाधितविषयस्य सत्प्रतिपक्षस्य वाऽन्य-
थानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथप्राप्तिरस्ति । तस्माच्चस्यान्यथानुप-
पत्तिमत्त्वे सति योग्यदेशनिश्चयपथप्राप्तिरस्तीति स एव सद्धे-
तुरपरस्तदाभास इति स्थितम् ।

§ ४७ किञ्च^१, ‘गर्भस्थो मैत्रीतनय २ श्यामो भवितुर्महति,
मैत्रीतनयत्वात्, सम्प्रतिपन्नमैत्रीतनयवत्’ इत्यत्रापि त्रैरूप्य-

१ साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वम् । २ ‘शब्दो-
ऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्’ इत्यत्र शब्देऽनित्यत्वसाधनाय प्रयुक्तस्य चाक्षुषत्वहेतो
स्वरूपत्वमेव नास्ति । यतो हि शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यत्वम्, न तु चाक्षुषत्वम् ।
अतो न चाक्षुषत्वादेरन्यथानुपपन्नत्वम् । तदभावादेव चास्यासिद्धत्वमिति
ज्ञेयम् । ३ पक्षधर्मरहितस्य । ४ साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथ-
प्राप्तत्वलक्षणसद्भावादेव । ५ साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्त-
त्वाभाव । ६ त्रैरूप्यपाञ्चरूप्ययोरतिव्याप्तिप्रदर्शनार्थमाह किञ्चेत्यादि ।

१ द प्रती ‘वा’ स्थाने ‘च’ पाठ । २ आ द प्रत्यो सर्वत्र ‘मैत्र’ स्थाने
‘मैत्री’ शब्द प्रयुक्त । जैनतर्कभाषाया (पृ० १८) स्त्रीलिङ्गवाचको
‘मित्रा’ शब्द प्रयुक्त ।

पाञ्चरूप्ययोर्बौद्ध-यौगाभिमतयोरतिव्याप्तेरलक्षणत्वम्^१ । तथा हि-परिदृश्यमानेषु पञ्चसु मैत्रीपुत्रेषु श्यामतामुपलभ्य 'तद्गर्भ-गतमपि^२ विवादापन्न पक्षीकृत्य श्यामत्वसाधनाय प्रयुक्तो मैत्री-तनयत्वाख्यो हेतुराभास'^३इति तावत्प्रसिद्धम्, अश्यामत्वस्यापि तत्र^४ सम्भावितत्वात् । तत्सम्भावना च श्यामत्व प्रति मैत्रीतनयत्वस्या-न्यथानुपपत्त्यभावात्^५ । 'तदभावाश्च सहक्रमभावनियमाभावात् ।

§ ४८ यस्य हि^२ धर्मस्य येन धर्मेण सहभावनियमः स त गमयति । यथा शिशपात्वस्य वृक्षत्वेन सहभावनियमोऽस्तीति शिशपात्व हेतुर्वृक्षत्व गमयति । यस्य च^३ क्रमभावनियमः स त गमयति । यथा धूमस्याग्न्यनन्तरभावनियमोऽस्तीति धूमोऽग्नि गमयति । न हि मैत्रीतनयत्वस्य हेतुत्वाभिमतस्य श्यामत्वेन साध्यत्वाभिमतेन सहभावः क्रमभावो वा ४नियमोऽस्ति, येन मैत्रीतनयत्व हेतु श्यामत्व साध्य गमयेत् ।

१ लक्षणाभासत्वम् । २ मैत्रीगर्भस्थम् । ३ असद्वेतु । ४ गर्भस्थे मैत्रीतनये । ५ न हि श्यामत्वेन सह मैत्रीतनयत्वस्यान्यथानुपपत्तिरस्ति, गौरत्वेनापि तस्य वृत्तिसम्भवात् । ६ अन्यथानुपपत्त्यभावः, अन्यथानुपपत्ति-रविनाभावः । स च द्विविधः—सहभावनियमः क्रमभावनियमश्च । तदेतद्-द्विविधस्याप्यत्राभावादिति भावः । ७ ननु मैत्रीतनयत्वस्य श्यामत्वेन सह-भावः क्रमभावो वा नियमोऽस्तु, तथा च मैत्रीतनयत्व श्यामत्व गमयेदेव इत्याशङ्क्यामाह नहीत्यादि ।

१ द प आ 'तद्भार्यागर्भगतमपि' पाठः । २ द 'हि' नास्ति । ३ आ स 'यस्य यत्क्रमभावनियमः' मु 'यस्य येन क्रमः...' । ४ द आ प स प्रतिषु 'नियतो' पाठः ।

§ ४६ यद्यपि सम्प्रतिपन्नमैत्रीपुत्रेषु श्यामत्वमैत्रीतनयत्वयो
सहभावोऽस्ति तथापि नासौ नियतः^१ । मैत्रीतनयत्वमस्तु श्यामत्व
माऽस्तु इत्येवरूपे विपक्षे^२ बाधकाभावात्^३ । विपक्षे बाधकप्रमाण-
बलात्खलु हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिनिश्चयः १ । व्याप्तिनिश्चयतः सह-
भावः क्रमभावो वा । “सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः” [परीक्षा०
३-१६] इति वचनात् । “विवादाध्यासितो वृक्षो भवितुमर्हति
शिशपात्वात् । या या गिंगपास स वृक्षा , यथा सम्प्रतिपन्न इति ।
अत्र हि हेतुरस्तु साध्य मा भूदित्येतस्मिन् विपक्षे सामान्य-विशेष-
भावभङ्गप्रसङ्गो बाधकः । वृक्षात्वं हि सामान्य शिशपात्वं तद्विशेषः ।
न हि विशेष सामान्याभावे सम्भवति । न चैवं मैत्रीतनयत्वमस्तु
श्यामत्व माऽस्तु इत्युक्ते किञ्चिद्बाधकमस्ति । तस्मान्मैत्रीतन-
यत्व हेत्वाभास एव । तस्य^२ तावत्पक्षधर्मत्वमस्ति, पक्षीकृते

१ नियमेन वर्तमानः । २ व्यभिचारशङ्कायाम् । ३ तन्निवर्तकानुकूल-
तर्काभावात् । अत्रायम्भावः ‘हेतुरस्तु साध्य माऽस्तु’ इत्येव व्यभिचार-
शङ्काया सत्या यदि तन्निवर्तक ‘यदि साध्य न स्यात्तर्हि हेतुरपि न स्यात्
बल्यभावे घूमाभाववत्’ इत्येवभूत विपक्षबाधक प्रमाणमस्ति तदाऽसौ
हेतुः सद्धेतुर्भवति, विपक्षबाधकप्रमाणाभावे च न सद्धेतुः, तथा च ‘मैत्री-
तनयत्वमस्तु श्यामत्व माऽस्तु’ इत्यत्र श्यामत्वाभावे मैत्रीतनयत्वस्यासत्त्वा-
पादने न खलु ‘यदि श्यामत्व न स्यात्तर्हि मैत्रीतनयत्वमपि न स्यात्’ इत्ये-
वभूत किञ्चिद्विपक्षबाधक वर्तते, यतः गर्भस्थे मैत्रीतनये मैत्रीतनयत्वस्य
सत्त्वेऽपि श्यामत्वस्य सन्दिग्धत्वादिति । ४ पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति विवादा-
ध्यासितेत्यादिना ।

गर्भस्थे तत्सद्भावात् । सपक्षेषु सम्प्रतिपन्नपुत्रेषु । तस्य विद्यमान-
त्वात्सपक्षे सन्त्वमप्यस्ति । विपक्षेभ्यः पुनरव्यामेभ्यश्चैत्रपुत्रेभ्यो
व्यावर्तमानत्वाद्विपक्षाद्व्यावृत्तिरस्ति । विषयवाधाभावादवाधित-
विषयत्वमस्ति । न हि गर्भस्थस्य व्यामत्व केनचिद् बाध्यते ।
असत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्ति, प्रतिकूलसमबलप्रमाणाभावात् । इति
पाञ्चरूप्यसम्पत्तिः । त्रैरूप्य तु सहस्रगतन्यायेन^२ नुतरां सिद्धमेव ।

[अन्यथानुपपन्नत्वमेव हेतोरलक्षणमित्युपपादनम्]

१५० ननु च न पाञ्चरूप्यमात्रं हेतोरलक्षणम् । किं तर्हि ?
'अन्यथानुपपत्त्युपलक्षितमेव लक्षणमिति^३ चेत्; तर्हि 'सैवैका
तल्लक्षणमस्तु^४ 'तदभावे पाञ्चरूप्यसम्पत्तावपि मैत्रीतनयत्वादी
न हेतुत्वम् । तत्सद्भावे पाञ्चरूप्याभावेऽपि कृत्तिकोदयादी हेतु-
त्वमिति । तदुक्तम्—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्^५ ॥

[] इति बोद्धान् प्रति ।

१ गौरेभ्यः । २ विषयः साध्यम्, तच्चात्र श्यामत्वरूपम्, तस्य प्रत्यक्षा-
दिना वाधाभावात् । ३ यथा सहस्रे शतमायात्येव तथा मैत्रीतनयत्वे-
पाञ्चरूप्यप्रदर्शिते त्रैरूप्यं प्रदर्शितमेवेति बोध्यम् । ४ अन्यथानुपपत्तिविशि-
ष्टमेव पाञ्चरूप्यं हेतोरलक्षणमित्यर्थः । ५ अन्यथानुपपत्तिरेवान्यनिरपेक्षा
६ कारणमाह तदभावे इति, तथा च हेतोः स्वसाध्यगमकत्वे अन्यथानुप-
पन्नत्वमेव प्रयोजकम्, न त्रैरूप्यं न च पाञ्चरूप्यमिति ध्येयम् । ७ कारिकेय

१ मु 'सम्प्रतिपन्नेषु' । २ आ मु 'सहस्रे शतन्यायेन' । ३ मु 'अन्य-
थानुपपत्त्युपलक्षणमिति' पाठः । ४ प 'सैवैकान्तल्लक्षणमस्तु' पाठः । मु
'सैवैकान्तलक्षणमस्तु' इति पाठः ।

§ ५१. यौगं१ प्रति तु—

अन्यथानुपपन्नत्व यत्र किं तत्र पञ्चभि ।

नान्यथानुपपन्नत्व यत्र किं तत्र पञ्चभि. ॥

[प्रमाणपरी० पृ० ७२] इति ।

[हेतु विधिप्रतिषेधरूपाभ्या द्विधा विभज्य तयोरवान्तरभेदाना कथनम्]

§ ५२ 'सोऽयमन्यथानुपपत्तिनिश्चयैकलक्षणो हेतु सक्षेपतो द्विविध — 'विधिरूप , प्रतिषेधरूपश्चेति । विधिरूपोऽपि द्विविध — विधिसाधक. प्रतिषेधसाधकश्चेति । तत्राद्यो'जनेकधा । तद्यथा— कश्चित्कार्यरूप , यथा— 'पर्वतोऽयमग्निमान् धूमयत्त्वान्यथानुपपत्ते ' इत्यत्र धूम । धूमो ह्यग्ने कार्यभूतस्तदभावे'ऽनुपपद्यमानो'ऽग्निं गमयति । कश्चित्कारणरूप , यथा— 'वृष्टिर्भविष्यति

तत्त्वसग्रहकृता पात्रस्वामिकर्तृका निर्दिष्टा । सिद्धिविनिश्चयटीकाकृता तु भगवत्सीमन्वरस्वामिन प्रदर्शिता । न्यायविनिश्चयविवरणे आराधनाकथाकोशे च भगवत्सीमन्वरस्वामिसकाशादानीय पद्मावतीदेव्या पात्रस्वामिने समर्पितेति समुल्लिखतम् । समुद्धृता च निम्नग्रन्थेषु—

तत्त्वम० पृ० ४०६, न्यायविनि० का० ३२३ सिद्धिविनि० टी० २, पृ० ३७२, धवला पु १३, पृ २४६, तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३, २०५ । प्रमाणप० पृ० ७२, जैनतर्कवार्तिक पृ० १३५, सूत्रकृताङ्गटी० पृ० २२५, प्रमाणमी० पृ० ४० सन्मतिटी० पृ० ५६०, स्या० रत्ना० पृ० ५२१, इत्ये चैयं कारिका जैनपरम्पराया सर्वत्र प्रतिष्ठिता ।

१ हेतुलक्षण विस्तरत प्रदर्श्याधुना तत्प्रकारनिरूपणार्थमाह सोऽयमिति ।
२ सद्भावात्मक । ३ विधिसाधक । ४ अन्यभावे । ५ अनुपपन्न ।

I मुद्रितप्रतिपु 'यौगान्' इति पाठ ।

‘विशिष्टमेघान्यथानुपपत्ते’ इत्यत्र मेघविशेषः । मेघविशेषो हि वर्षस्य कारण स्वकार्यभूतं वर्षं गमयति ।

§ ५३ ‘ननु कार्यं कारणानुमापकमस्तु, कारणाभावे कार्यस्यानुपपत्ते । कारण तु कार्याभावेऽपि सम्भवति, यथा—व्रूमाभावेऽपि

१ यथा चोक्तम्—

‘गम्भीरगजितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः ।

त्वङ्गतडिल्लतासङ्गपिसङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः ॥’—न्यायम० पृ १२६ ।

‘रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विष (तमसन्निभा) ।

वृष्टि व्यभिचरन्तीह नैवप्राया पयोमुच’ ॥—षड्दर्श० २० ।

ईदृशा खलु विशिष्टमेघा वृष्टि गमयन्त्येवेति भावः ।

२ सौगत शङ्कते नन्विति, तेषामयमाशयः—नावश्यक कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति नियमः, अतश्च कारणं न कार्यस्य गमकं व्यभिचारात्, कार्यं तु कारणसत्त्वे एव भवति तदभावे च न भवति, अतस्तत्तु गमकमिष्टम्, तन्न युक्तम् ‘यथैव हि किञ्चित् कारणमुद्दिश्य किञ्चित्कार्यम्, तथैव किञ्चित् कार्यमुद्दिश्य किञ्चित् कारणम् । यद्वदेवाजनकं प्रति न कार्यत्वम्, तद्वदेवाजन्यं प्रति न कारणत्वमिति नानयो कश्चिद्विशेषः । अपि च रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छता न्यायवादिनेष्टमेव कारणस्य हेतुत्वम् । यदाह—

एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः ।

हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥

(प्रमाणवा० १-१०)

न च वयमपि यस्य कस्यचित् कारणस्य हेतुत्वं व्रूमः । अपि तु यस्य न मन्त्रादिना शक्तिप्रतिबन्धो न वा कारणान्तरवैकल्यम् ।’—प्रमाणमी०

सम्भवन् वह्निः सुप्रतीत । अत एव वह्निर्न घूम गमयतीति चेत्, तन्न, उन्मीलितशक्तिकस्य^१ कारणस्य कार्याव्यभिचारित्वेन, कार्यं प्रति हेतुत्वाविरोधात् ।

§ ५४. कश्चिद्विशेषरूप^२, यथा—वृक्षोऽयं शिशपात्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र [शिशपा] । शिशपा हि वृक्षविशेषः सामान्यभूत वृक्ष गमयति । न हि वृक्षाभावे वृक्षविशेषो घटत इति । कश्चित्पूर्वचर, यथा—उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयः^१ । कृत्तिकोदयान्तरं मुहूर्तान्ते नियमेन शकटोदयो जायत इति कृत्तिकोदय पूर्वचरो हेतुः शकटोदय गमयति । कश्चिदुत्तरचर, यथा—उदगाद्भरणिं प्राक्, कृत्तिकोदयादित्यत्र कृत्तिकोदय । कृत्तिकोदयो हि भरण्युदयोत्तरचरस्त गमयति । कश्चित्सहचर, यथा—मातुलिङ्गं रूपवद्भूतमर्हति रसवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र रसः । रसो हि नियमेन रूपसहचरितस्तदभावेऽनुपपद्यमानस्तद् गमयति ।

१-२-१२ । 'रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित् कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्ध-कारणान्तरावैकल्ये ।' —परीक्षामु०
३-६० । किञ्च, अस्त्यत्र छाया छात्रादित्यादौ छात्रादेर्विशिष्टकारणस्य छायादिकार्यानुमापकत्वेन हेतुत्वमवश्यं स्वीकार्यमस्ति । ततो न कारण-हेतोरपह्नवः कर्तुं शक्य इति भावः ।

१ प्रकटितसामर्थ्यस्य । २ विशेषो व्याप्यः ।

१ द 'कृत्तिकोदय' नास्ति ।

§ ५५. एतेपूदाहरणेषु भावरूपानेवाग्न्यादीन् साधयन्तो घूमादयो हेतवो भावरूपा एवेति विधिसाधक-विधिरूप.^१ एत। एवा^२विरुद्धोपलब्धय इत्युच्यन्ते । एव विधिरूपस्य हेतोर्विधि-साधकाख्य आद्यो भेद उदाहृतः ।

§ ५६. द्वितीयस्तु निषेधसाधकाख्यः, विरुद्धोपलब्धिरिति तस्यैव नामान्तरम् । स यथा—नास्य मिथ्यात्वम्, आस्तिक्यान्य-थानुपपत्तेरित्यत्रास्तिक्यम् । आस्तिक्य हि सर्वज्ञवीतरागप्रणोत-जीवादितत्त्वार्थरुचिलक्षणम् । तन्मिथ्यात्ववतो न सम्भवतीति मिथ्यात्वाभाव साधयति । यथा वा, नास्ति वस्तुनि सर्वथैकान्तः, अनेकान्तात्मकत्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्रानेकान्तात्मकत्वम्^२ । अने-कान्तात्मकत्व हि वस्तुन्यवाधितप्रतीतिविषयत्वेन प्रतिभासमानं सौगतादिपरिकल्पितसर्वथैकान्ताभाव साधयत्येव ।

§ ५७. 'ननु किमिदमनेकान्तात्मकत्वं यद्वलाद्वस्तुनि सर्व-थैकान्ताभावः साध्यते इति चेत्; उच्यते; सर्वस्मिन्नपि जीवादि-वस्तुनि भावाभावरूपत्वमेकानेकरूपत्व नित्यानित्यरूपत्व-मित्येवमादिकमनेकान्तात्मकत्वम् । एवं विधिरूपो हेतुर्दशितः^३ ।

१ साध्य साधन चोभयमपि सद्भावात्मकम् । अत एवोल्लिखिता हेतवो विधिसाधक-विधिरूपा इति कथ्यते । २ अविरुद्धेन साध्येन सहोपलभ्यन्त इत्यविरुद्धोपलब्धय । ३ एकान्तवादी शङ्कते नन्विति । ४ हेतोर्मूलभेदयो-र्विधि-प्रतिषेधरूपयोर्विधिरूपः प्रथमभेद । ५ व्याख्यातः ।

§ ५८. 'प्रतिषेधरूपोऽपि हेतुर्द्विविधः—'विधिसाधकः 'प्रतिषेधसाधकश्चेति । तत्राद्यो यथा, अस्त्यत्र प्राणिनि सम्यक्त्व 'विपरीताभिनिवेशाभावात् । अत्र विपरीताभिनिवेशाभाव प्रतिषेधरूप सम्यक्त्वसद्भाव साधयतीति प्रतिषेधरूपो विधिसाधको हेतुः ।

§ ५९. 'द्वितीयो यथा, नास्त्यत्र' धूमोऽग्न्यनुपलब्धेरित्यत्राग्न्यभाव. प्रतिषेधरूपो धूमाभाव प्रतिषेधरूपमेव साधयतीति प्रतिषेधरूप प्रतिषेधसाधको हेतु । तदेव विधिप्रतिषेधरूपतया द्विविधस्य हेतोः 'कतिचिदवान्तरभेदा उदाहृता ' । विस्तरतस्तु परीक्षामुखतः' प्रतिपत्तव्या २ । इत्यमुक्तलक्षणा" एव^३ हेतव. साध्यं गमयन्ति । "नान्ये, हेत्वाभासत्वात् ।

[हेत्वाभासाना चातुर्विध्यमुक्त्वा तेषा निरूपणम्]

§ ६०. 'के ते हेत्वाभासा इति चेत्; उच्यते, हेतुलक्षण-

१ हेतोर्द्वितीयभेद प्रदर्शयति प्रतिषेधेति । २ विधि सद्भाव साधयतीति विधिसाधक । ३ प्रतिषेधमभाव साधयतीति प्रतिषेधसाधक । ४ सम्यक्त्वस्य विपरीत मिथ्यात्व तस्याभिनिवेशो मिथ्यैकान्ताग्रहस्तदसत्त्वात् । मिथ्यात्वाभिनिवेशाभावो हि नियमेन जीवे सम्यक्त्वास्तित्व साधयति, इति भाव । ५ प्रतिषेधसाधको हेतु । ६ अस्मिन्प्रदेशे । ७ कतिपया प्रभेदा । ८ उदाहरणद्वारा प्रदर्शिताः । ९ अत्र परीक्षामुखस्य ३-५९ सूत्रमारभ्य ३-६२ पर्यन्तसूत्राणि द्रष्टव्यानि । १० अन्यथानुपपन्नत्वविशिष्टा । ११ अन्यथानुपपत्तिविरहिता । १२ हेत्वाभासान् प्रदर्शयति के ते, इति ।

१ म 'प्रतिषेधरूप' । २ द प्रती 'प्रतिज्ञातव्या.' इति पाठ ३ म प आ मु प्रतिषु 'एव' पाठो नास्ति ।

रहिता हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासाः^१ । ते चतुर्विधा -असिद्ध-
विरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करभेदात्^२ । 'तत्रानिश्चयपथप्राप्तो-
ऽसिद्धः । अनिश्चयपथप्राप्तिश्च हेतोः स्वरूपाभावनिश्चयात्
स्वरूपसन्देहाच्च । स्वरूपाभावनिश्चये स्वरूपासिद्धः, स्वरूपसन्देहे
सन्दिग्धासिद्धः । तत्राद्यो यथा-परिणामी शब्दः चाक्षुषत्वादिति^३ ।
शब्दस्य हि श्रावणत्वान्चाक्षुषत्वाभावो निश्चित इति स्वरूपा-
सिद्धश्चाक्षुषत्वहेतुः । द्वितीयो यथा, धूमवाष्पादिविवेकानिश्चये
कश्चिदाह-‘अग्निमानय प्रदेशो धूमवत्त्वात्’^४ इति । अत्र हि धूम-
वत्त्व हेतुः सन्दिग्धासिद्धः, तत्स्वरूपे सन्देहात् ।

१ तदुक्तं श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः—

अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः ।

हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते ॥

— न्यायवि० का० ३४३ ।

२ तथा चोक्तम्—‘हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करा ।’
—परीक्षा० ६-२१ । एतेषां संक्षेपलक्षणानि—

स विरुद्धोऽन्यथाभावादसिद्धः सर्वथाऽप्युच्यते ॥

व्यभिचारी विपक्षेऽपि सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः ।

प्रमाणस० का० ४८, ४९

३ हेत्वाभासानां चतुर्भेदेषु प्रथमोद्दिष्टमसिद्धं लक्षयति तत्रेति ।
४ यदुक्तं श्रीमाणिक्यनन्दिभिः—‘अविद्यमानसत्ताक (स्वरूपासिद्धः)
परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ।’—परीक्षा० ६-२३ । ननु कुतोऽस्य चाक्षु-
षत्वहेतोरसिद्धत्वमिति चेत्तदप्याह ‘स्वरूपेणासत्त्वात्’—परीक्षा ६-२४ इति ।
५ उक्तञ्च परीक्षामुल्लेख्यता—‘अविद्यमाननिश्चयो (सन्दिग्धासिद्धः)

§ ६१. 'साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः । यथाऽपरिणामी शब्द कृतकत्वादिति' । कृतकत्व ह्यपरिणामित्वविरोधिना परिणामित्वेन व्याप्तम् ।

§ ६२ पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिक' । स द्विविध — निश्चितविपक्षवृत्तिक शङ्कितविपक्षवृत्तिकश्च । तत्राद्यो यथा, धूमवानय प्रदेशोऽग्निमत्त्वादिति । अत्राग्निमत्त्व पक्षीकृते सन्दिह्यमानधूमे पुरोवृत्तिनि प्रदेशे वर्तते, सपक्षे धूमवति महानसे च वर्तते, विपक्षे धूमरहितत्वेन निश्चितेऽङ्गारावस्थापन्नाग्निमति प्रदेशे वर्तते इति निश्चयान्निश्चितविपक्षवृत्तिक' । द्वितीयो यथा,

मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात्' इति । 'तस्य वाष्पादिभावेन भूतसङ्घाते सन्देहात्'—परीक्षा० ६-२६ ।

१ 'साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः । यथा—शब्दो नित्य कृतकत्वादिति । कृतकत्व हि नित्यत्वाभावेनाऽनित्यत्वेन व्याप्तम्'—तर्कस० पृ० ११२ । 'विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्द कृतकत्वात्'—परीक्षा० ६-२६ । २ य स्वोत्पत्तौ परव्यापारमपेक्षते स कृतक उच्यते । शब्दोऽपि तात्वादिपरिस्पन्दव्यापारमपेक्ष्य जन्यते । अतस्तस्य कृतकत्व सुव्यक्तमेव । यच्च कृतक तत्परिणामि दृष्टं यथा घटपटादि । तथा चात्र कृतकत्व साध्यभूतापरिणामित्वविपरीतेन परिणामित्वेन सह व्याप्तत्वाद्विरुद्धमिति भावः । ३ 'विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिक'—परीक्षा० ६-३० । ४ उदाहरणान्तरम्—'निश्चितवृत्तिरनित्य शब्द प्रमेयत्वात् घटवत्'—परीक्षा० ६-३१ । 'आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्'—परीक्षा ६-३२ ।

१ प म मु 'हेतु' नास्ति । २ द 'च' नास्ति ।

गर्भस्थो मैत्रीतनय. श्यामो भवितुमर्हति मैत्रीतनयत्वादितरत्त-
नयवदिति । अत्र मैत्रीतनयत्वं हेतु पक्षीकृते गर्भस्थे वर्तते, सपक्षे
इतरत्तत्पुत्रे वर्तते, विपक्षे अश्यामे वर्त्तेतापीति^१ शङ्काया अनिवृत्ते.
शङ्कितविपक्षवृत्तिक । अपरमपि शङ्कितविपक्षवृत्तिकस्योदाहर-
णम्—अर्हन् सर्वज्ञो न भवितुमर्हति^२ वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवदिति ।
वक्तृत्वस्य हि हेतो पक्षीकृते अर्हति, सपक्षे रथ्यापुरुषे यथा
वृत्तिरस्ति तथा विपक्षे सर्वज्ञेऽपि वृत्तिः सम्भाव्येत^३, वक्तृत्वज्ञातृ-
त्वयोरविरोधात् । यद्धि येन सह विरोधि तत्त्वलु तद्वति न
वर्तते । न च वचन-ज्ञानयोर्लोके विरोधोऽस्ति, प्रत्युत ज्ञानवत
एव वचनसौष्ठव स्पष्ट दृष्टम् । ततो ज्ञानोत्कर्षवति सर्वज्ञे
वचनोत्कर्षे काऽनुपपत्तिरिति ?

§ ६३ 'अप्रयोजको^४ हेतुरकिञ्चित्कर । स द्विविधः—सिद्ध-
साधनो बाधितविषयश्चेति । तत्राद्यो यथा, शब्द श्रावणो भवितु-
मर्हति शब्दत्वादिति । अत्र श्रावणत्वस्य साध्यस्य शब्दनिष्ठत्वेन
सिद्धत्वाद्धेतुरकिञ्चित्कर । बाधितविषयस्त्वेनेकधा । कश्चित्प्रत्यक्ष-
बाधितविषय, यथा—अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादिति । अत्र द्रव्यत्वं
हेतुस्तस्य विषयत्वेनाभिमतमनुष्णत्वमुष्णत्वग्राहकेण स्पर्शन-
प्रत्यक्षेण^५ बाधितम् । तत किञ्चिदपि कर्तुमशक्यत्वादकिञ्चित्करो

१ ननु किं नामाप्रयोजकत्वमिति चेत्, अन्यथासिद्धत्वमप्रयोजकत्वम्,
साध्यसिद्धिं प्रत्यसमर्थत्वनित्यर्थः ।

१ म प मु प्रतिषु 'वर्तते नापीति' पाठ । २ प म मु 'न भवति' ।
३ म मु 'सम्भाव्यते' प 'सम्भाव्येति' पाठ । ४ द म 'अथाप्रयोजको' ।
५ द प 'स्पर्शनेन प्रत्यक्षेण' ।

द्रव्यत्वहेतुः । कश्चित्पुनरनुमानबाधितविषयः, यथा—अपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति । अत्र परिणामी शब्दः प्रमेयत्वादित्यनुमानेन बाधितविषयत्वम् । कश्चिदागमबाधितविषयः, यथा—प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवदिति । अत्र धर्मः सुखप्रद इत्यागमस्तेन बाधितविषयत्व हेतोः । कश्चित्सर्ववचनबाधितविषयः, यथा—मे माता बन्ध्या पुरुषसयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धबन्ध्यावत् । एवमादयो 'ऽप्यकिञ्चित्करविशेषा स्वयमूह्याः' । तदेव हेतुप्रसङ्गाद्धेत्वाभासा 'अवभासिता ।

[उदाहरणस्य निरूपणम्]

§ ६४ ननु व्युत्पन्नं प्रति यद्यपि प्रतिज्ञाहेतुभ्यामेव पर्याप्तं तथापि बालबोधार्थं मुदाहरणादिकमप्यभ्युपगतमाचार्यैः^१ । उदा-

१ एतत्सर्वमभिप्रेत्य सूत्रमाहुः—'सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः'—परीक्षा० ६-३५ । २ चिन्तनीया । ३ प्रकाशिता निरूपिता इत्यर्थः । ४ तथा हि—'प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगोपगमात् । यथैव हि कस्यचित्प्रतिबोध्यस्यानुरोधेन साधनवाक्ये सन्वाऽभिधीयते (तथा) दृष्टान्तादिकमपि—पत्रपरी० पृ० ३ । कुमारनन्दिभट्टारकैरप्युक्तम्—

प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा ।

प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञस्तथोदाहरणादिकम् ॥ पत्रपरी पृ ३ उद्धृतम् ।

श्रीमाणिक्यनन्द्याह—'बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्प्रयोगमेवासा, न वादेऽनुपयोगात् ।' परीक्षा० ३-४६ । श्रीयशोविजयसूरिणाऽप्युक्तम्—

१ द 'बोधनार्थं' । २ म 'मभ्युपगन्तव्यं', मु 'मभ्युपगत' ।

हरण च सम्यग्दृष्टान्तवचनम्' । कोऽयं दृष्टान्तो नाम इति चेत्;
 उच्यते, व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्तः^३ । व्याप्तिर्हि साध्ये
 वल्ल्यादौ सत्येव साधनं धूमादिरस्ति, असति तु नास्तीति साध्य-
 साधननियतसाहचर्यं । लक्षणा । एतामेव^२ साध्य विना साधनस्या-
 भावादविनाभावमिति च व्यपदिशन्ति । तस्याः सम्प्रतिपत्तिर्नाम
 वादिप्रतिवादिनोर्बुद्धिसाम्यम्', सैषा यत्र सम्भवति स सम्प्रति-
 पत्तिप्रदेशो महानसादिर्हदादिश्च । तत्रैव धूमादौ सति नियमेना-
 ऽज्यादिरस्ति, अग्न्याद्यभावे नियमेन धूमादिर्नास्तीति सम्प्रति-
 पत्तिसम्भवात् । तत्र महानसादिरन्वयदृष्टान्तः^४ । अत्र साध्यसाध-

‘मन्दमतीस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युपयुज्यते’—जैनतर्कभाषा पृ. १६

१ ‘सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणम्’—न्यायसार पृ० १२ । ‘दृष्टान्त-
 वचनमुदाहरणम्’—न्यायकलिका पृ० ११ । २ यथा चोक्तम्—

सम्बन्धो यत्र निर्जातः साध्यसाधनधर्मयोः ।

स दृष्टान्तः तदाभासाः साध्यादिविकलादयः ॥

—न्यायविनि० का० ३८० ।

३ ‘लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्त्यर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः’—न्याय-
 सू० १-१-२५ । ‘तत्र दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खाविदुषा बुद्धिसाम्यं’—
 चरकस० पृ० २६३ । ‘दृष्टान्तवचनं हि यत्र पृथग्जनानामार्याणां च
 बुद्धिसाम्यं तदा वक्तव्यम् । दृष्टान्तो द्विविधः—सम्पूर्णदृष्टान्त आंशिकदृष्टा-
 न्तश्च’—उपायहृदय पृ० ५ । ४ ‘दृष्टान्तो द्वेधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात्’
 ‘साध्यव्याप्त साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः’—परीक्षा० ३-४७, ४८ ।
 ‘दृष्टान्तो द्विविधः साधर्म्येण वैधर्म्येण च । तत्र साधर्म्येण तावत्,

१ म मु नियतता साहचर्यं । २ ए म मु ‘एतामेव’ ।

नयोर्भावरूपान्वयसम्प्रतिपत्तिसम्भवात् । हृदादिस्तु व्यतिरेक-
दृष्टान्त^१, अत्र साध्यसाधनयोरभावरूपव्यतिरेकसम्प्रतिपत्ति-
सम्भवात् । दृष्टान्तौ चैतौ, दृष्टावन्तौ धर्मौ साध्यसाधनरूपौ
यत्र स दृष्टान्त इत्यर्थानुवृत्तेः ।

§ ६५ उक्तलक्षणस्य दृष्टान्तस्य यत्सम्यग्वचन तदुदाहरणम् ।
न च वचनमात्रमयं दृष्टान्त इति । किन्तु दृष्टान्तत्वेन वचनम् ।
तद्यथा—यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इति ।
यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाहृद इति च । एव-
विवेनैव वचनेन दृष्टान्तस्य दृष्टान्तत्वेन प्रतिपादनसम्भवात् ।

[उदाहरणप्रसङ्गादुदाहरणाभासस्य कथनम्]

§ ६६. उदाहरणलक्षणरहित उदाहरणवदवभासमान उदा-
हरणाभासः । उदाहरणलक्षणराहित्य^१ द्वेधा सम्भवति, दृष्टान्त-
स्यासम्यग्वचनेनादृष्टान्तस्य सम्यग्वचनेन वा । तत्राद्य यथा, यो

यत्र हेतो सपक्ष एवास्तित्वं ख्याप्यते । तद्यथा—यत्कृतक तदनित्य
दृष्टम्, यथा घटादिरिति ।'—न्यायप्र० पृ० १, २ । यत्र प्रयोज्यप्रयोजक-
भावेन साध्यसाधनधर्मयोरस्तित्वं ख्याप्यते स साधर्म्यदृष्टान्त ।'—
न्यायकलिका पृ० ११ ।

१ 'साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्त'—
परीक्षा० ३-४६ । 'यत्र साध्याभावप्रयुक्तो हेत्वभाव ख्याप्यते स वैधर्म्य-
दृष्टान्त'—न्यायकलिका पृ० ११ । "वैधर्म्येणाऽपि, यत्र साध्याभावे
हेतोरभाव एव कथ्यते । तद्यथा—यन्नित्य तदकृतक दृष्टम्, यथाऽऽकाश-
मिति ।'—न्यायप्र० पृ० २ ।

योऽग्निमान्^१ स स धूमवान्, यथा महानस इति^२, यत्र यत्र धूमो नास्ति तत्र तत्राऽग्निर्नास्ति, यथा महाहृद इति च व्याप्य-
व्यापकयोर्वैपरीत्येन कथनम् ।

§ ६७. ननु किमिदं व्याप्य व्यापकं नाम इति चेत्; उच्यते;
साहचर्यनियमरूपा^१ व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्म तद्व्याप्यम्, वि-
पूर्वादापे कर्मणि प्यद्विधानाद्व्याप्यमिति सिद्धत्वात् । तत्तु व्या-
प्य धूमादि । एतामेव^३ व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्तृ तद्व्यापकम्,
व्यापे कर्तरि ण्वुलि^४ सति व्यापकमिति सिद्धे^२ । एव सति धूम-

१ 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्ति'—तर्कसं०
पृ० ६१ । २ अत्रेदं बोध्यम्—साहचर्यनियमरूपा व्याप्तिमाश्रित्य व्याप्य-
व्यापकयोर्व्युत्पत्तिमुखेन लक्षणं प्रदर्शयता ग्रन्थकृता व्याप्तेरुभयधर्मत्व
प्रकटितम् । प्रमाणमीमासाकृताऽपि तथैवोक्तम्—'व्याप्ति' इति यो व्या-
प्नोति यश्च व्याप्यते तयोरुभयोर्वर्म । तत्र यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते
तदा व्यापकस्य गम्यस्य व्याप्ये धर्मो सति, यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र
सर्वत्र भाव एव व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिः । ततश्च व्याप्यभावापेक्षा
व्याप्यस्यैव व्याप्तताप्रतीतिः । 'यदा तु व्याप्यधर्मतया व्याप्तिर्विवक्ष्यते
तदा व्याप्यस्य वा गमकस्य तत्रैव व्यापके गम्ये सति यत्र धर्मिणि व्यापको-
ऽस्ति तत्रैव भावः, न तदभावेऽपि व्याप्तिरिति ।'—प्रमाणमी० पृ० ३८ । इत्थं
च व्याप्तेर्व्याप्यव्यापकोभयधर्मत्वेऽपि व्याप्यस्यैव धूमादेर्गमकत्वम्, व्या-
पकस्यैव च वह्न्यादेर्गम्यत्वम्, विशिष्टव्याप्तिसद्भावात् । व्याप्यस्य

१ आ स मु प 'वह्निमान्' । अग्रेतनव्याप्तिस्थानि शब्दप्रयोगापेक्षया
द प्रतेरेव 'अग्निमान्' पाठो मूले निक्षिप्तः । २ द 'इत्यादि' । ३ स मु प
'एतामेव' । ४ मु 'ण्वौ', द 'ण्वुणि' ।

मग्निर्व्योप्नोति, यत्र धूमो वर्त्तते तत्र नियमेनाग्निर्वर्त्तते इति, यावत्सर्वत्र धूमवति नियमेनाग्निदर्शनात् । धूमस्तु न तथाऽग्निं व्याप्नोति, तस्याङ्गारावस्थस्य धूम विनापि वर्त्तनात् । यत्राग्निर्वर्त्तते तत्र नियमेन धूमो^२ वर्त्तति इत्यसम्भवात् ।

§ ६८. 'नन्वाद्रेन्धनमग्निं व्याप्नोत्येव धूम इति चेत्,^१ ओमिति ब्रूमहे । यत्र यत्राविच्छिन्नमूलो^३ धूमस्तत्र तत्राग्निरिति यथा, तथैव^४ यत्र यत्राऽऽद्रेन्धनोऽग्निं तत्र तत्र धूम इत्यपि सम्भवात् । वह्निमात्रस्य' तु धूमविशेष प्रति व्यापकत्वमेव',

व्यापकेनैव सहोपलब्धे, व्यापकस्य तु व्याप्याभावेऽप्युपलब्धेरिति भावः । इदं च बौद्धविदुषाऽर्चंटेनापि हेतुबिन्दुटीकायां निरूपितम् । व्याप्यव्यापक-मधिकृत्यात्र श्लोकः :—

व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च ।

साध्यं व्यापकमित्याहुः साधनं व्याप्यमुच्यते ॥'

प्रमाणमी० टि० पृ० ३७ ।

१ अथ नाय नियमः यत् 'अग्निरेव धूमं व्याप्नोति, न धूमोऽग्निम्' इति, धूमस्याऽप्याऽऽद्रेन्धनाग्निव्यापकत्वदर्शनात् 'यत्राऽऽद्रेन्धनोऽग्निर्वर्त्तते तत्र नियमेन धूमो वर्त्तते' इति, यावत्सर्वत्राऽऽद्रेन्धनवति धूमोपलब्धे, तथा चाग्नेरपि धूमवद्व्याप्यत्वम्, ततश्च तस्यापि गमकत्वं स्वीकार्यमित्यागयेन शङ्कते नन्विति । २ समाधत्ते ओमिति । आद्रेन्धनस्याग्नेर्धूमव्याप्यत्वेऽपि वह्निसामान्यस्य तु व्यापकत्वमेव । ततो नोक्तदोष इति भावः । ३ वह्निसामान्यस्य । ४ न व्याप्यत्वमित्यर्थः ।

१ आ 'वर्त्तमानात्', म मु 'वर्त्तमानत्वात्' २ आ म मु 'तत्र धूमोऽपि नियमेन' । ३ द 'यत्र यत्रानवच्छिन्नमूलो' । ४ द 'तथा' ।

अनुमानस्य तावन्मात्रा^१ पेक्षत्वात् । ततो यो यो धूमवानसाव-
सावग्निमान्, यथा महानस इत्येव सम्यग्दृष्टान्तवचन वक्तव्यम् ।
विपरीतवचन तु दृष्टान्ताभास एवेत्ययमसम्यग्वचनरूपो^२ऽन्वय-
दृष्टान्ताभास । व्यतिरेकव्याप्तौ तु व्यापकस्याग्नेरभावो व्याप्य,
व्याप्यस्य धूमस्याभावो व्यापकः । तथा सति यत्र यत्राऽग्न्यभाव-
स्तत्र तत्र धूमाभावो यथा हृद इत्येव वक्तव्यम् । विपरीतकथन तु,
असम्यग्वचनत्वादुदाहरणाभास एव । ^३अदृष्टान्तवचन^२ तु,
अन्वयव्याप्तौ व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम्, व्यतिरेकव्याप्तावन्वय-
दृष्टान्तवचन च, उदाहरणाभासौ । स्पष्टमुदाहरणम् ।

§ ६६. ननु गर्भस्थो मैत्रीतनय^३ ३ श्याम, मैत्रीतनयत्वात्,
साम्प्रत^४मैत्रीतनयवत् इत्याद्यनुमानप्रयोगे पञ्चसु मैत्रीतनयेष्व-
न्वयदृष्टान्तेषु 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्व तत्र तत्र श्यामत्वम् इत्यन्वय-
व्याप्ते, व्यतिरेकदृष्टान्तेषु गौरेष्वमैत्रीतनयेषु सर्वत्र 'यत्र यत्र

१ 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यनुमाने वह्निसामान्यस्यापेक्षणात्, न
तु वह्निविशेषस्य । नातो कश्चिद्दोष इति भावः । २ अन्वयदृष्टान्ताभासो
द्विविधः — दृष्टान्तस्यासम्यग्वचनमदृष्टान्तस्य सम्यग्वचनं च, तत्रायमाद्यः ।
३ अन्वयदृष्टान्ताभासस्य (उदाहरणाभासस्य) द्वितीयभेदमदृष्टान्तस्य
सम्यग्वचनाख्यं दर्शयति अदृष्टान्तेति । ४ अनयोरुदाहरणाभासयोरुदाहरण
स्पष्टमेवेत्यर्थः ।

१ 'अनुमातुस्तावन्मात्रा' इति म मु पाठः । २ मु 'अदृष्टान्तवचन'
नास्ति । तत्र त्रुटितोऽयं पाठः । ३ मु 'मैत्रीतनय' नास्ति । ४ द प 'सम्मत'
पाठः ।

व्यामत्व नास्ति तत्र तत्र मैत्रीतनयत्व नास्ति' इति व्यतिरेकव्या-
प्तेश्च सम्भवान्निश्चितसाधने गर्भस्थमैत्रीतनये पक्षे साध्यभूत-
श्यामत्वसन्देहस्य^१ गुणत्वात्^२। सम्यगनुमान प्रसज्येदिति चेत्, न,
दृष्टान्तस्य विचारान्तरबाधितत्वात् ।

§ ७०. तथा हि—साध्यत्वेनाभिमतमिदं हि श्यामत्वरूपं^३ कार्यं
सत् स्वसिद्धये कारणमपेक्षते । तच्च कारणं न तावन्मैत्रीतनयत्वम्,
विनाऽपि तदिदं^४ पुरुषान्तरे^५ श्यामत्वदर्शनात् । न हि कुलालादि-
क^३मन्तरेण सम्भविन पटस्य कुलालादिक कारणम्^६। एव^७ मैत्री-
तनयत्वस्य श्यामत्व प्रत्यकारणत्वे निश्चिते यत्र यत्र मैत्रीतनयत्व
न तत्र तत्र श्यामत्वम्, किन्तु यत्र तत्र श्यामत्वस्य कारणं विशिष्ट-
नामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामस्तत्र तत्र तस्य कार्यं श्याम-
त्वम्, इति सिद्धं^८ 'सामग्रोरूपस्य विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाका-
द्याहारपरिणामस्य श्यामत्व प्रति व्याप्यत्वम् । स^९ तु पक्षे^{१०} न

१ अतो गर्भस्थे श्यामत्वस्य सन्देहो गौणः, स च न मैत्रीतनयत्वहेतोः
समीचीनत्वे बाधकः । तथा च तत्समीचीनमेवानुमानमिति शङ्कितुर्भावं ।
२ मैत्रीतनयत्वम् । ३ मैत्रीपुत्रभिन्नपुरुषे । ४ ततो न मैत्रीतनयत्वमन्त-
रेण जायमान श्यामत्व प्रति मैत्रीतनयत्व कारणमिति भावः । ५ इत्थं च ।
६ श्यामत्वजनिका सामग्री, सा चात्र विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहार-
परिणामः, तत्सत्त्वे एव श्यामत्वसत्त्वम्, तदभावे च तदभाव इति भावः ।
७ विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामः । ८ गर्भस्थे मैत्रीतनये ।

१ म 'गोणत्वा' । २ द आ म मु 'श्यामरूपः । ३ आ प म मु
कुलालचक्रादिकमन्तरेणापि' ।

निश्चीयत' इति सन्दिग्धासिद्ध । मैत्रीतनयत्व तु^१अकारणत्वादेव ।
श्यामत्व कार्यं न गमयेदिति ।

§ ७१ 'केचित्^२ "निरूपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः"^३
[] इत्यभिधाय "साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्या-
प्तिरूपाधि"^४ [] इत्यभिदधते^५ । सोऽयमन्योन्या-

१ श्यामत्वसामग्र्यन्तर्गतविशिष्टनामकमादेरतीन्द्रियत्वान्निश्चयासम्भ-
वात् । २ मैत्रीतनयत्वस्य श्यामत्व प्रति कारणत्वाभावादेव । ३ ननु नाकरण-
त्वान्मैत्रीतनयत्व श्यामत्व प्रत्यगमकम्, अपि तु व्याप्त्यभावात् । व्यप्तिर्हि
निरूपाधिकः सम्बन्धः । स चात्र नास्त्येव, शाकपाकजत्वोपाधिसत्त्वेन मैत्रीतन-
यत्वस्य निरूपाधिकत्वासम्भवादिति केषाञ्चिदाशय प्रदर्शयन्नाह केचिदिति ।
केचित् नैयायिकादय इत्यर्थः । ४ 'ननु कोऽयं प्रतिबन्धो नाम ?
अनौपाधिकः सम्बन्ध इति ब्रूम ।'—किरणावली पृ० २६७ । अनौपा-
धिकः सम्बन्धो व्याप्तिः । अनौपाधिकत्व तु यावत्स्वव्यभिचारिव्यभिचारि-
साध्यसामानाधिकरण्यम्, यावत्स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिप्रति-
योगिकात्यन्ताभावसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यं वा । यावत्साधना-
व्यापकाव्याप्यसाध्यसामानाधिकरण्यमिति निरुक्तिद्वयार्थः ।'—वैशेषिक-
सूत्रोपस्कार पृ० ६२ । ५ 'साधने सोपाधिः साध्ये निरूपाधिरेवोपाधि-
त्वेन निश्चेयः । × × × उपाधिलक्षणं तु साध्यव्यापकत्वे सति
साधनाव्यापत्वमित्युक्तमेव ।'—किरणावली पृ० ३००, ३०१ । 'नन्व-
नौपाधिकत्वमुपाधिविरहः, उपाधिरेव दुष्परिकल्पनीय इति चेन्न, साध्य-
व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वस्योपाधित्वात् । तदुक्तम्—साधने सोपाधि
साध्ये निरूपाधिरूपाधि ।'—वैशेषिकसूत्रोपस्कार पृ० ६३ । 'साध्यव्याप-
कत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः । साध्यसमानाधिकरणाऽत्यन्ताभावा-

श्रय ' । प्रपञ्चितमेतदुपाधिनिराकरण कारुण्यकलिकायामिति विरम्यते ।

[उपनयनिगमनयोस्तदाभासयोश्च लक्षणकथनम्]

§ ७२. साधनवत्तया पक्षस्य दृष्टान्तसाम्यकथनमुपनय —तथा चायं धूमवानिति । साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचन निग-

प्रतियोगित्व साध्यव्यापकत्व । साधनवन्निष्ठाऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्व साधनाऽव्यापकत्वम् । यथा—‘पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्’ इत्यत्राऽऽर्द्धेन्वन-सयोग उपाधि । तथा हि—‘यत्र धूमस्तत्राऽऽर्द्धेन्वनसयोग’ इति साध्यव्या-पकत्वम्, ‘यत्र वह्निस्तत्राऽऽर्द्धेन्वनसयोगो नास्ति’ अयोगोलके आर्द्धेन्वन-सयोगाभावादिति साधनाऽव्यापकत्वम् । एव साध्यव्यापकत्वे सति साधना-ऽव्यापकत्वादार्द्धेन्वनसयोग उपाधि ।’—तर्कसं० पृ० ११४ । ‘उपाधिश्च-तुविध —केवलसाध्यव्यापक., पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक, साधनाव-च्छिन्नसाध्यव्यापक, उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति । आद्य —आर्द्धेन्वनसयोग । द्वितीयो यथा—‘वायु प्रत्यक्ष प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्’ इत्यत्र वह्निर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वव्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वम् । तृतीयो यथा —‘प्रागभावो विनाशी जन्यत्वात्’ इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापक भावत्वम् । चतुर्थस्तु ‘प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्’ इत्यत्र जन्यत्वाव-च्छिन्नानित्यत्वव्यापक भावत्वम् ।’—तर्कदी० पृ० ११४-११६ ।

१ व्याप्तिलक्षणस्योपाधिगर्भत्वादुपाधिलक्षणस्य च व्याप्तिघटित-त्वात् । तथा च व्याप्तिग्रहे सति उपाधिग्रहः स्यात् उपाधिग्रहे च सति व्याप्तिग्रहः स्यादित्येवमन्योन्याश्रय. । यथा चोक्तम्—नाप्यनौपाधिक. सम्बन्ध, उपाधेरेव दुर्बलत्वात् । सुवचत्वेऽपि दुर्ग्रहत्वात्, सुग्रहत्वेऽप्यन्यो-न्याश्रयात् । साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादेर्व्याप्तिग्रहाधीनग्रह-त्वात् ।’—वैशेषिकसूत्रोप० पृ० ६० ।

मनम्—तस्मादग्निमानेवेति । अनयोर्व्यत्ययेन^१ कथनमनयोराभास ।^२ अवसितमनुमानम् ।

[परोक्षप्रमाणभेदस्यागमस्य निरूपणम्]

§ ७३ 'अथागमो लक्ष्यते^३ । आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागम'^४ । ३ अत्रागम इति लक्ष्यम् । अवशिष्ट लक्षणम् । अर्थज्ञानमित्ये^५ तावत्युच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्ति , अत उक्त वाक्यनिबन्धनमिति । वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युच्यमानेऽपि ५ यादृच्छिकसवादिषु विप्रलम्भवाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफलससर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्ति , अत उक्तमाप्तेति^६ । आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽप्याप्तवाक्यकर्मके श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्ति , अत उक्तमर्थेति । अर्थस्तात्पर्यरूढः^७ [प्रयोजनारूढ] इति यावत्^८ । अर्थ एव^९ 'तात्पर्यमेव वचसि' []

१ विपरीतक्रमेण, क्रमभङ्गे नेत्यर्थः । २ निर्णीतम् । ३ विस्तरतोऽनुमानप्ररूप्याधुना क्रमप्राप्तमागम लक्षयति अर्थेति । ४ 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम' । परीक्षा—३-६६ । आप्तस्य वाक्य वचन तन्निबन्धनयस्यार्थज्ञानस्येत्याप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमिति । अत्र 'आप्तशब्दोपादानादगौरूपेयत्वव्यवच्छेदः । अर्थज्ञानमित्यनेनान्यापोहज्ञानस्याभिप्रायसूचनस्य च निरासः ।—प्रमेयर० पृ १२५ । ५ आप्तो यथार्थवक्ता । ६ उक्तं च—'अर्थज्ञानमित्येतावत्युच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिरत उक्त वाक्यनिबन्धनमिति । वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युच्यमानेऽपि यादृच्छिकसवादिषु विप्रलम्भ-

१ मु 'इत्यवसित' । २ द 'लिख्यते' । ३-द 'तत्रागम' । ४ म मु 'तावदुच्यमा' । ५ द 'यादृग्विसवादिविप्रलम्भ' । ६ म मु प 'तात्पर्यरूप' । ७ मु 'अर्थ एव' नास्ति ।

इत्यभियुक्तवचनात् । तत आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युक्त-
मागमलक्षणं निर्दोषमेव । यथा—“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि
मोक्षमार्गः” [तत्त्वार्थसू० १-१] इत्यादिवाक्यार्थज्ञानम् । सम्यग्-
दर्शनादीनि १ मोक्षस्य सकलकर्मक्षयस्य मार्ग उपायः, न तु मार्गः ।
ततो भिन्नलक्षणानां दर्शनादीनां त्रयाणां समुदितानामेव मार्गत्वम्,
न तु प्रत्येकमित्ययमर्थो मार्ग इत्येकवचनप्रयोगतात्पर्यं २ सिद्धम् ।
अयमेव वाक्यार्थः । अत्रैवार्थे प्रमाणसाध्या सगयादिनिवृत्ति ३
प्रमितिः ।

[आप्तस्य लक्षणम्]

§-७४. 'क पुनरयमाप्त इति चेत्, उच्यते, आप्त ३ प्रत्यक्ष-
प्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः । प्रमितेत्यादावेवोच्य-
माने श्रुतकेवलज्वलितव्याप्तिः, तेषामागमप्रमितसकलार्थत्वात्' ।

वाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफलससर्गादिज्ञानेष्वति-
व्याप्तिः, अत उक्तमाप्तेति । आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽप्याप्त-
वाक्यकर्मके (कारणे) श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिरत उक्तमर्थेति । अर्थ-
स्तात्पर्यरूढः, प्रयोजनारूढ इति यावत् । तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्त-
वचनात् वचसां प्रयोजनस्य प्रतिपादकत्वात् ।—प्रमेयक० टि० पृ० ३६१ ।
प्रमेयर० टि० पृ० १२४ ।

१ आप्तस्य स्वरूप जिज्ञासमान पर पृच्छति क पुनरयमाप्त इति ।
२ 'तत्राप्तिः साक्षात्करणादिगुण "सूक्ष्मान्तरितद्वारार्थः कस्यचित्प्रत्यक्षा"
इत्यादीनां साधितः' ।—अष्टश० अष्टस० पृ० २३६ । तथा विशिष्टो योऽ-
सावाप्त इति भावः । ३ श्रुतकेवलिनो हि श्रुतेन सकलार्थान् प्रतिपद्यन्ते ।

१ मु प 'दीन्यनेकानि', म 'दीन्येतानि' । २ मु 'प्रयोगस्तात्पर्य' ।
३ मु 'साध्यसगयादिनिवृत्ति' ।

अत उक्तं प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थ इत्येतावत्युच्यमाने ।
 'सिद्धेष्वतिव्याप्ति । अत उक्तं परमेत्यादि^२ । परमहितं^३ निःश्रेय-
 सम्, तदुपदेश एवार्हतः^४ प्रामुख्येन प्रवृत्तिः । 'अन्यत्र तु प्रश्नानुरो-
 धादुपसर्जनत्वेनेति' भावः । नैवविधः सिद्धपरमेष्ठी, तस्यानुपदेश-
 कत्वात् । ततोऽनेन विशेषणेन तत्र नातिव्याप्तिः । आत्मसद्भावे
 प्रमाणमुपन्यस्तम् । नैयायिकाद्यभिमतानामाप्ताभासानामसर्वज्ञ-
 त्वात्प्रत्यक्षप्रमितेत्यादिविशेषणेनैव निरासः^५ ।

§ ७५ ननु नैयायिकाभिमत आप्त कथं न सर्वज्ञः इति चेत्;
 उच्यते; तस्य 'ज्ञानस्यास्वप्रकाशकत्वादेकत्वाच्च विशेषणभूतं
 स्वकीयं ज्ञानमेव न जानातीति तद्विशिष्टमात्मानं 'सर्वज्ञोऽहम्'
 इति कथं जानीयात् ? एवमेनात्मज्ञोऽप्यमसर्वज्ञ एव । प्रपञ्चितं च

१ अशरीरिणो मुक्तात्मानः सिद्धा सिद्धपरमेष्ठिन इत्युच्यन्ते ।
 उक्तं च—

'णिककम्मा अट्ठगुणा किञ्चूणा चरमदेहदो सिद्धा ।

लोयगठिदा णिच्चा उप्पाद-वयेहि संजुत्ता ॥'—ब्रह्मसं० १४ ।

२ निःश्रेयसातिरिक्ते विषये । ३ प्रामुख्येन, गौरवरूपेणेत्यर्थः । ४ द्वितीय-
 प्रकाशे । ५ व्यावृत्तिः, ततो न तत्राप्यतिव्याप्तिरिति भावः । ६ नैया-
 यिका हि ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य मन्यन्ते । ततो तैराप्तत्वेनाभिमतो महे-
 श्वरः स्वज्ञानस्याप्रवेदनात्तद्विशिष्टस्यात्मनोऽप्यज्ञानान्न सर्वज्ञ इति भावः ।

१ व 'इत्युच्यमाने' मु 'इत्येतावदुच्यमाने' । २ व 'परमेति' । ३ म
 परम हित' ४ म 'सम्भवति' इत्यधिक पाठ ।

सुगतादीनामाप्ताभासत्वमाप्तमीमांसाविवरणे' श्रीमदाचार्यपादै-
रिति विरम्यते । वाक्यं तु 'तन्त्रान्तरसिद्धमिति नेह' लक्ष्यते ।

१ अष्टशत्याम् । २ श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः । आप्तमीमांसालङ्कारे
(अष्टसहस्र्या) च श्रीविद्यानन्दस्वामिभिरित्यपि बोध्यम् । ३ तदित्यम्—
'पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्ष समुदायो वाक्यम् ।'—अष्टश० अष्टस०
पृ० २८५ । 'वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्ष समुदाय पदम् । पदानां
तु परस्परापेक्षाणां निरपेक्ष समुदायो वाक्यम् ।'—न्यायकुमु० पृ० ७३७ ।
प्रमेयक० पृ० ४५८ । 'यस्य प्रतिपत्तुर्यावित्सु परस्परापेक्षेषु पदेषु समुदि-
तेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति प्रतिपत्तव्यम् ।'—
प्रमेयक० पृ० ४५८ । 'वाक्य विशिष्टपदसमुदाय' । यदाह—

पदानां संहतिर्वाक्य सापेक्षाणां परस्परम् ।

साख्यताः कल्पनास्तत्र पश्चात्सन्तु यथायथम् ॥'

—न्यायाव० टी० टि० पृ० ८ ।

'वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां संहति पदम्, पदानां तु वाक्यमिति ।'—
प्रमाणनयत० ४-१० ।

परैस्तु वाक्यलक्षणमित्यमभिमतम्—'आख्यात साव्यय सकारक
स-कारक-विशेषण वाक्यसज्ञ भवतीति वक्तव्यम्, अपर आह—आख्यात
सविशेषणमित्येव । सर्वाणि ह्येतानि विशेषणानि । एकतिङ्, एकतिङ्
वाक्यसज्ञ भवतीति वक्तव्यम् ।' पात० महाभा० २-१-१ । तिङ्-सुवन्त-
चयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता ।'—अमरको० । 'पूर्वपदस्मृत्यपेक्षो-
ऽन्त्यपदप्रत्ययः स्मृत्यनुगृहेण प्रतिसन्वीयमानो विशेषप्रतिपत्तिहेतु-
र्वाक्यम् ।'—न्यायवा० पृ० १६ । 'यावद्भि पदैरर्थपरिसमाप्तिः तदेकं
वाक्यम् ।'—वादन्याय० पृ० १०८ । 'पदसमूहो वाक्यम् ।—न्यायम०
पृ० ६३७ । न्यायवा० ता० पृ० ४३४ । 'वाक्य पदसमूह, यथा—गामा-

[अर्थस्य लक्षणम्]

§ ७६ 'अथ कोऽयमर्थो नाम ? उच्यते; अर्थोऽनेकान्तः ।
अर्थ इति लक्ष्यनिर्देश , अभिधेय इति यावत् । अनेकान्त इति

नय शुक्ला दण्डनेति ।'—तर्कसं० पृ० १२२ । 'अथात्र प्रसङ्गान्मीमांसक-
वाक्यलक्षणमर्थद्वारेण प्रदर्शयितुमाह—

साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम् ।

कर्मप्रधान गुणवदेकार्यं वाक्यमिष्यते ॥—वाक्यप० २-४ ।

मिथ साकाङ्क्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम् ।

सुप्तिङन्तचयो नैवमतिव्याप्त्यादिदोषतः ॥

यादृशशब्दानां यादृशार्थविषयताकान्वयबोध प्रत्यनुकूला परस्परा-
काङ्क्षा तादृशशब्दस्तोम एव तथाविधार्थे वाक्यम् ।'—शब्दश० श्लो १३ ।

'वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासक्तियुक्तः पदोच्चयः ।'—साहि० द० २-१ ।

'पदानामभिवृत्तिसार्थग्रन्थनाकार सन्दर्भो वाक्यम् ।'—काव्यमी० पृ० २२ ।

अन्यदपि वाक्यलक्षणं कैश्चिदुक्तम्—

आख्यातशब्दः (१) सङ्घातो (२) जाति सङ्घातवर्त्तिनी (३) ।

एकोऽनवयवः शब्दः (४) क्रमो (५) बुद्धयनुसृहती (६, ७) ॥

पदमाद्यं (८) पदं चान्त्यं (९) पदं सापेक्षमित्यपि (१०) ।

वाक्यं प्रति मतिभिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥'

—वाक्यप० २-१, २ ।

तत्र पूर्वोक्तमेव 'पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्ष समुदायो वाक्यम्'
इति वाक्यलक्षणं समीचीनम् । अन्येषां तु सदोपत्वादिति प्रतिपत्तव्यम् ।

४ न्यायदीपिकायाम् ।

१ अर्थस्य स्वरूपं प्रतिपादयितुमाह अथेति ।

लक्षणकथनम् । 'अनेके अन्ता धर्मा. सामान्य-विशेष-पर्याय-गुणा ।
यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः । तत्र सामान्यमनुवृत्तिः^२स्वरूपम्^३ । तद्धि
घटत्व पृथुबुध्नोदराकार^३; गोत्वमिति सास्नादिमत्वमेव ।
तस्मान्न व्यक्तितोऽत्यन्तमन्यन्नित्यमेकमनेकवृत्तिः^१ । अन्यथा—

१ अनेकान्तस्य व्युत्पत्तिमुखेन लक्षण निवध्नाति अनेके इति । २ अनु-
गताकारप्रतीतिविषयमित्यर्थः । अत्राय विशेष — 'सामान्य द्विविधम्—ऊर्ध्वता-
सामान्यः तिर्यक्सामान्य चेति । तत्रोर्ध्वतासामान्य क्रमभाविषु पययिष्वे-
कत्वान्वयप्रत्ययग्राह्य द्रव्यम् । तिर्यक्सामान्य नानाद्रव्येषु पययिषु च
सादृश्यप्रत्ययग्राह्य सदृशपरिणामरूपम् ।'—युक्त्यनुशा० टी० पृ० ६० ।
'सामान्य द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् । ४-३ । सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्ड-
मुण्डादिषु गोत्ववत् । ४-४ । परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्था-
सादिषु । ४ ५।—परीक्षामुख । ३ 'सामान्य द्विविध परमपर च । तत्र पर
सत्ता, अपर सत्ताव्याप्य द्रव्यत्वादि ।...तत्र नित्यमनेकव्यक्तित्ववृत्ति सामा-
न्यम्, नित्यत्वे सति स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाविकरण्य वा । परमपि
सामान्यमपरमपि तथाऽपर तु सामान्य विशेषसंज्ञामपि लभते ।'—वैशे-
षिकसूत्रोप० पृ० ३४ । तन्न युक्तम्—'नित्यैकरूपस्य गोत्वादे क्रम-योग-
पद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । प्रत्येक परिसमाप्त्या व्यक्तित्ववृत्त्ययोगाच्चा-
नेक सदृशपरिणामात्मकमेवेति तिर्यक्सामान्यमुक्तम् ।'—प्रमेयर० ४-४, पृ०
१७६ । 'तच्चाऽनित्यासर्वगतस्वभावमभ्युपगन्तव्यम्, नित्यसर्वगतस्वभाव-
त्वेऽर्थक्रियाकारित्वायोगात् । तत् (सामान्य) सर्वसर्वगत स्वव्यक्तिसर्व-
गत वा ? न तावत्सर्वसर्वगतम्, व्यक्त्यन्तरालेऽनुपलभ्यमानत्वाद्द्वयव्यक्तिस्वा-
त्मवत् । नापि स्वव्यक्तिसर्वगतम्, प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तत्वेनास्याऽने-

१ मु 'पर्याया गुणा' । २ म प मु 'अनुवृत्त' । ३ आ प 'पृथुबुध्नो-
दराद्याकार' ।

कत्वानुपङ्गाद्व्यक्तित्वरूपवत् । कात्स्न्यैकदेशान्यां वृत्त्यनुपपत्तेश्चानन्वयम् । किञ्च, एकत्र व्यक्तौ नर्वात्मना वर्तमानस्यान्यत्र वृत्तिर्न स्यात् । तत्र हि वृत्तिस्तद्देशे गमनात्, पिण्डेन सहोत्पादात्, तद्देशे सद्भावात्, अंगवत्तया वा स्यात् ? न तावद् गमनादन्यत्र पिण्डे तस्य वृत्तिः; निष्क्रियत्वोप-
गमात् । किञ्च, पूर्वपिण्डपरित्यागेन तत्तत्र गच्छेत्, अपरित्यागेन वा ? न तावत्परित्यागेन, प्राक्तनपिण्डस्य गोत्वपरित्यक्तस्यागोरुपताप्रसङ्गात् । नाप्यपरित्यागेन, अपरित्यक्तप्राक्तनपिण्डस्यास्यानंशस्य रूपादेरिव गमना-
सम्भवात् । न ह्यपरित्यक्तपूर्वाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसंक्रान्तिर्दृष्टा । नापि पिण्डेन सहोत्पादात्, तस्यानित्यत्वानुपङ्गात् । नापि तद्देशे सत्त्वात्, पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र निराधारस्यास्यावस्थानाभावात् । भावे वा स्वाश्रय-
मात्रवृत्तित्वविरोधः । नाप्यंगवत्तया, निरशत्वप्रतिज्ञानात् । ततो व्यक्त्य-
न्तरे सामान्यस्याभावानुपङ्गः । परेषां प्रयोगः 'ये यत्र नोत्पन्ना नापि प्राग-
वस्यायिनो नापि पश्चादन्यतो देशादागतिमन्तस्ते तत्राऽमन्तः, यथा खरो-
त्तमाङ्गे तद्विपाणम्, तथा च सामान्यं तच्छून्यदेशोत्पादवति घटादिके
वस्तुनि' इति । उक्तं च—

‘न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।

जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥’—प्रमेयक० पृ० ४७३ ।

किञ्च, इदं सामान्यं व्यक्त्यन्यो भिन्नं चेत्; तत् व्यक्त्युत्पत्तौ उत्पद्यते
न वा ? यद्युत्पद्यते, तद्वदेवानित्यत्वम् । नोत्पद्यते चेत्, तत् उत्पत्तिप्रदेशे
विद्यते न वा ? यदि विद्यते, व्यक्त्युत्पत्तेः पूर्वमपि गृह्येत । अथ तद्देशे
तत् नास्ति, उत्पन्ने तु व्यक्तिविशेषे व्यक्त्यन्तराद् आगच्छति । ननु ततः
तत् आगच्छत् पूर्वव्यक्तिं परित्यज्य आगच्छति न वा ? प्रथमपक्षे तस्या-
तद्वहित्वप्रसङ्गः । अथापरित्यज्य, तत्रापि किं व्यक्त्या सहैवागच्छति किं
वा केनचिदशेन तत्रैव तिष्ठति केनचिदागच्छति ? प्रथमविकल्पे शावले-
येऽपि ‘बाहुलेयोऽयम्’ इति प्रतीतिः स्यात् । द्वितीयविकल्पस्त्वयुक्तः,

न 'याति न च 'तत्रास्ते न 'पश्चादस्ति 'नाशवत् ।।

'जहाति पूर्वं नाधारमहो' व्यसनसन्तति." ॥ []

इति दिग्नागदर्शितदूषणगणप्रसरप्रसङ्गात् । पृथुबुध्नो-
दराकारादिदर्शनानन्तरमेव 'घटोऽय घटोऽय गौरय गौरयम्'

निरशत्वेनास्याशवत्तया प्रवृत्त्यसम्भवात् । साशत्वे चास्य व्यक्तिवदनित्य-
त्वप्रसङ्गः । '—न्वायकुमु० पृ० २८७, २८८ । 'क्वचिदेकत्र नित्यात्मन्याश्रये
सर्वात्मना वृत्त सामान्य समवायञ्च तावत् उत्पित्सुप्रदेशे प्राग्नासीदनाश्रित-
त्वप्रसङ्गात्, नान्यतो याति सर्वात्मना पूर्वाधारापरित्यागादन्यथा तदभाव-
प्रसङ्गात्, नाप्येकदेशेन, साशत्वाभावात्, स्वयमेव पश्चाद्भवति स्वप्रत्यय-
कारित्वात्, आश्रयविनाशे च न नश्यति नित्यत्वात्, प्रत्येकं परिसमाप्त
चेति व्याहृतमेतत् ।'—अष्टस पृ २१६ । एतदुक्तानेव दोषान् दिग्ना-
गोक्तकारिकया मूले दीपिकाकारो दर्शयति न यातीति ।

१ गोत्वादिसामान्य हि व्यक्त्यन्तरं न गच्छति निष्क्रियत्वोपगमात् ।
२ व्यक्तिदेशे, यत्र गोपिण्ड उत्पद्यते तत्र न गोपिण्डोत्पादात्पूर्वं विद्यते,
देशस्यापि तस्य गोत्वापत्तेः । ३ न वा गोपिण्डोत्पादानन्तरं तेन सहोत्पद्यते,
तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् । अन्यथाऽनित्यत्वानुपङ्गात् । ४ न चांशसहित
निरंशत्वप्रतिज्ञानात्, अन्यथा साशत्वप्रसङ्गात् । ५ न च प्राक्तनमाधार
गोपिण्डं त्यजति, तस्यागोत्वापत्तेः । ६ तदेव गोत्वादिसामान्यस्य नित्यैक-
सर्वगतत्वाभ्युपगमे एतदूषणं परिमुच्यते सोऽयं योगः । अहो आश्चर्यं कष्ट
'वा' एतेषामपरिहार्या व्यसनसन्तति दूषणपरम्परा, कृथा स्थितिर्तितियावत् ।
७ कारिकेय धर्मकीर्तिविरचिते प्रमाणवार्तिकेऽपि (१-१५३) मूल-
रूपेणोपलभ्यते । परमत्र ग्रन्थकृता नामोल्लेखपुरस्सरं दिग्नागस्योक्ता । ततः
सम्भवति दिग्नागस्यैव कस्यचिद् ग्रन्थस्येय कारिका स्यादिति । ८ दिग्नागे-

इत्याद्यनुवृत्तप्रत्ययसम्भवात्' । 'विशेषोऽपि 'स्थूलोऽयं घट , सूक्ष्म' इत्यादिव्यावृत्तप्रत्ययालम्बन । घटादिस्वरूपमेव । 'तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दिभट्टारक — "सामान्य-विशेषात्मा तदर्थः" [परीक्षा० ४-१] इति ।

§ ७७ 'पर्यायो द्विविधः—अर्थपर्यायो व्यञ्जनपर्यायश्चेति । तत्रार्थपर्यायो भूतत्वभविष्यत्वसस्पर्शरहितशुद्धवर्तमानकालाव-
च्छिन्न वस्तुस्वरूपम् । तदेतदृजुसूत्रनयविषयमामनन्त्यभियुक्ता ।
एतदेकदेशावलम्बन खलु सौगताः क्षणिकवादिन । व्यञ्जनं
व्यक्ति प्रवृत्तिनिवृत्तिनिवन्धन जलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वम्^३,
तेनोपलक्षितः पर्यायो व्यञ्जनपर्याय , मृदादेः [यथा] पिण्ड-
स्थास-कोश-कुशूल-घट-कपालादय ४ पर्यायाः ।

नोक्तकारिकया दर्शितानि दूषणानि, तेषां गणं समूहस्तस्य प्रसरो
विस्तरस्तस्य प्रसङ्गस्तस्मादित्यर्थः ।

१ अनुगतप्रतीतिभावात् । ततो घटत्वादिसामान्यं घटादिव्यक्तेः कथ-
ञ्चिदभिन्नमेवेत्यवसेयम् । २ तदुक्तं परीक्षामुखे—'विशेषश्च १४-६ । पर्याय-
व्यतिरेकभेदात् १४-७ । एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविन परिणामा पर्याया
आत्मनि हर्षविषादादिवत् १४-८ । अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको
गो-महिषादिवत्' १४-९ । ३ स्वोक्तमेव प्रमाणयति तथा चाहेति । ४ सक्षे-
पत सामान्य विशेष च निरूप्य पर्याय निरूपयितुमाह पर्यायेति ।

१ मु 'वलम्बन' । २ प मु 'कालत्वाव' । ३ आ 'निवन्धनजलानय-
नाद्यर्थक्रियाकारित्वे', म प मु 'निवन्धनजलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्व' ।
४ द 'कपालमालादयः' ।

§ ७८ 'यावद्द्रव्यभाविन सकलपर्यायानुवर्त्तिनो गुणा
'वस्तुत्व-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शदिय । मृद्द्रव्यसम्बन्धिनो हि वस्तु-
त्वादयः पिण्डादिपर्यायानुवर्त्तन्ते, न तु पिण्डादयः स्थासादीन् ।
ततः । एव पर्यायाणां गुणेभ्यो भेदः । 'यद्यपि सामान्यविशेषौ पर्यायौ
तथापि सङ्केतग्रहणनिवन्धनत्वाच्छब्दव्यवहारविषयत्वाच्च । गम २

१ गुणं लक्षयति यावदिति । २ वस्तुत्वप्रमेयत्वादयः सामान्यगुणाः ।
रूपरसादयो विशेषगुणाः । तेषां लक्षणं तु—

सर्वेष्वविशेषेण हि ये द्रव्येषु च गुणाः प्रवर्त्तन्ते ।
ते सामान्यगुणा इह यथा सदादि प्रमाणतः सिद्धम् ॥
तस्मिन्नेव विवक्षितवस्तुनि मग्ना इहेदमिति चिज्जाः ।
ज्ञानादयो यथा ते द्रव्यप्रतिनियमिता विशेषगुणा ॥

—अध्यात्मक० २-७, ८ ।

३ गुणपर्याययोः को भेदः ? इत्यत्रोच्यते, सहभाविनो गुणाः, क्रमभा-
विनः पर्याया इति । गुणा हि द्रव्येण सह त्रिकालावच्छेदेन वर्त्तन्ते, न तु
पर्यायाः, तेषां क्रमवर्त्तित्वादिति भावः । तथा चोक्तम्—

अन्वयिनः किल नित्या गुणाश्च निर्गुणावयवा ह्यनन्ताशाः ।
द्रव्याश्रया विनाशप्रादुर्भावाः स्वशक्तिभिः शश्वत् ॥
व्यतिरेकिणो ह्यनित्यास्तत्काले द्रव्यतन्मयाश्चापि ।
ते पर्याया द्विविधा द्रव्यावस्थाविशेषधर्माशाः ॥

—अध्यात्मक० २-६, ६ ।

४ ननु सामान्यविशेषावपि पर्यायावेव, तत्कथमत्र तयोः पर्यायेभ्यः
पृथग् निर्देश इत्यत आह यद्यपीति । सामान्यविशेषौ यद्यपि पर्यायावेव
तथाप्याऽऽगमप्रकरणानुरोधात्तयोः पृथग् निर्देशकर्तव्यस्यावश्यकत्वादिति ।

१ द 'अतः' । २ मु 'निवन्धनस्य शब्दव्यवहारविषयत्वादागमः' ।

प्रस्तावे तयोः पृथग्निर्देशः । १ तदनयोर्गुणपर्याययोः द्रव्यमाश्रयः,
 “गुणपर्यायवद् द्रव्यम्” [तत्त्वार्थसू० ५-३८] इत्याचार्यनिशासनात् ।
 तदपि सत्त्वमेव “सत्त्व द्रव्यम्”^१ [] इत्यकलङ्कीयवचनात्^२ ।

[सत्त्व द्विधा विभज्य द्वयोरप्यनेकान्तात्मकत्वप्ररूपणम्]

§ ७६ 'तदपि जीवद्रव्यमजीवद्रव्य चेति सक्षेपतो द्विवि-
 धम् । 'द्वयमप्येतदुत्पत्तिविनाशस्थितियोगि “उत्पादव्ययध्रीव्य-
 युक्तं सत्” [तत्त्वार्थसू० ५-३०] इति निरूपणात्' । तथा हि—जीव-

१ उपदेशात् । २ भगवता श्रीउमास्वातिनाऽप्युक्तम्—'सद्द्रव्यलक्ष-
 णम्'—तत्त्वार्थसू० ५-२६ । ३ सत्त्वमपि । ४ जीवद्रव्यमजीवद्रव्य चापि ।
 ५ समन्तभद्रस्वामिभिरपि तथैव प्रतिपादनात् । तथा हि—

घट-मौलि-सुवर्णार्थो नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम् ।

शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽस्ति दधिव्रतः ।

अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥

—आप्तमी० का० ५६, ६० ।

इदमत्राकूतम्—सर्वं हि वस्तुजातं प्रतिसमयमुत्पादव्ययध्रीव्यात्मकं
 समनुभूयते । घटार्थिनो हि जनस्य घटविनाशे शोकः, मुकुटार्थिनो मुकुटो-
 त्पादे हर्षः, सुवर्णार्थिनश्च सुवर्णसत्त्वे माध्यस्थ्यं जायमानं दृश्यते । न चैतद्
 निर्हेतुकं सम्भवति । तेन विज्ञायते सुवर्णादिवस्तु उत्पादादित्रयात्मकम्,
 तदन्तरेण शोकाद्यनुपपत्तेरिति । एव 'यस्य पयो दुग्धमेवाह भुञ्जे इति व्रतं

१ द 'तद्वदनयो' । २ आ प 'इत्याकरजवचनात्', मु 'इत्याकरजवचनात्'
 पाठः । मूले द-प्रते. पाठो निक्षिप्तः । स च युक्तं प्रतिभाति ।—सम्पा० ।

द्रव्यस्य स्वर्गप्रापकपुण्योदये सति मनुष्यस्वभावस्य व्ययः, दिव्य-
स्वभावस्योत्पादः, चैतन्यस्वभावस्य ध्रौव्यमिति । जीवद्रव्यस्य
'सर्वथैकरूपत्वे' २ पुण्योदयवैफल्यप्रसङ्गात् । सर्वथा भेदे पुण्यवा-
नन्य. फलवानन्य इति पुण्यसम्पादनवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ३ । अपरोप-
कारेऽप्यात्मसुकृतार्थमेव प्रवर्तनात् ४ तस्माज्जीवद्रव्यरूपेणाभेदो
मनुष्यऽदेवपर्यायरूपेण भेद इति ६ प्रतिनियतनयनिश्स्तविरोधौ
भेदाभेदौ प्रामाणिकावेव ।

नियमः, नासौ दध्यत्ति—दधि भुक्ते । यस्य च दध्यह भुञ्जे इति व्रतम्
नासौ पयोऽत्ति—दुग्ध भुक्ते । यस्य चागोरसमह भुञ्जे इति व्रतम्, नासा-
वुभयमत्ति । कुत ? गोरसरूपेण तयोरेकत्वात् । दुग्धव्रतस्य दधिरूपेणा-
भावात्, दधिव्रतस्य पयोरूपेणाभावात्, अगोरसव्रतस्य दधिदुग्धरूपेणा-
भावात् । तस्मात्तत्त्ववस्तु त्रयात्मक स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मक सुघटमेतद-
नेकान्ते जैनमते इति ।—आप्तमी० वृ० का० ६० । श्रीपण्डितप्रवर-
राजमल्लेनाप्युक्तम्—

कैश्चित्पर्ययविगमैर्व्यति द्रव्यं ह्युदेति समकाले ।

अन्यैः पर्ययभवनैर्धर्मद्वारेण शाश्वतं द्रव्यम् ॥

—अध्यात्मक० २-१६ ।

१ पर्यायेभ्यः सर्वथाऽभेदे । २ मनुष्यादिपर्यायेभ्यो जीवद्रव्यस्य कथ-
ञ्चिदप्यन्वयाभावे कृतस्य फलाभावादकृतस्य च फलप्राप्ते. पुण्यसम्पादनं
व्यर्थमेव स्यात् । कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च स्यादिति भावः । ३ नही-
मावनुभूयमानौ भेदाभेदौ मिथ्याभूतौ विरुद्धौ वा । तथा चोक्त श्रीमत्समन्त-

१ म मु 'देव' । २ म प 'कान्तरूपे', मु 'कान्तरूपत्वे' । ३ म
'कारोऽप्या', मु 'कारस्याप्या' । ४ प 'प्रवर्तमानात्', मु 'प्रवर्तमानत्वात्' ।
५ मु 'मनुष्यपर्यायदेवपर्याय' । ६ द 'प्रतिनियम' ।

§ ८० तथैवाजीवस्य। मृद्द्रव्यस्यापि मृदः पिण्डाकारस्य व्यय, पृथुवुध्नोदराकारस्योत्पाद, मृद्रूपस्य ध्रुवत्वमिति सिद्ध-मुत्पादादियुक्तत्वमजीवद्रव्यस्य^२ । स्वामिसमन्तभेदाचार्याभिमतानु^३सारी वामनोऽपि सदुपदेगात्प्राक्तनमज्ञानस्वभाव हन्तुमुपरितनमर्थज्ञानस्वभाव स्वीकर्तुं च य समर्थ आत्मा स एव शास्त्राधिकारीत्याह “न गास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्” [] इति । तदेवमनेकान्तात्मक वस्तु प्रमाणवाक्यविषयत्वादर्थत्वेनावतिष्ठते । तथा च प्रयोग.—‘सर्वमनेकान्तात्मक सत्त्वात् । यदुक्तसाध्य न, तन्नोक्तसाधनम्, यथा गगनारविन्दमिति ।

§ ८१. ननु यद्यप्यरविन्दं गगने नास्त्येव तथापि सरस्यस्तीति ततो न सत्त्वरूपहेतु^४व्यावृत्तिरिति^५ चेत्, तर्हि तदेतदरविन्दमधिकरणविशेषापेक्षया सदसदात्मकमनेकान्तमित्यन्वयदृष्टान्तत्व^१ भवतैव प्रतिपादितमिति सन्तोष्टव्यमायुष्मता । ‘उदाहृतवाक्ये-

भद्राचार्यैः —

प्रमाणगोचरी सन्ती भेदाभेदौ न संवृती ।

तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥

—आप्तमी० का० ३६ ।

१ यदुक्तम्—

‘तद्द्रव्यपर्यायात्माऽर्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः ।’

—लघीय० का० ७ ।

२ अरविन्दस्येति शेष । ३ प्रत्यक्षेणानुमानेन च वस्तुनोऽनेकान्ता-

१ मु ‘तथैवाजीवद्रव्यस्यापि’ २ म मु ‘मजीवस्य’ । ३ मु ‘भिमतमतानु’ ।

४ आ म मु ‘सत्त्वहेतु’ । ५ व मु ‘इति’ नास्ति ।

नापि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षकारणत्वमेव, न ससार-
कारणत्वमिति विषयविभागेन कारणाकारणात्मकत्वं प्रतिपाद्यते ।
'सर्वं वाक्यं सावधारणम्-इति न्यायात् । एवं प्रमाणसिद्धमने-
कान्तात्मकं वस्तु ।

[नय स्वरूपतः प्रकारतश्च निरूप्य सप्तभङ्गीप्रतिपादनम्]

§ ८२. न्या विभज्यन्ते^१ । ननु कोऽयं नयो नाम^२ ? उच्यते ;
प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही 'प्रमातुरभिप्रायविशेष^३ । "नयो ज्ञातु-
रभिप्रायः" [लघीय०का० ५२] इत्यभिधानात् । स नयः संक्षेपेण
द्वेधा^४—द्रव्यार्थिकनयः पर्यायार्थिकनयश्चेति । तत्र द्रव्यार्थिकनयः

त्मकत्वप्रसाध्यागमेनापि तत्प्रसाधनार्थमाह—उदाहृतेति । अयं भावः—
'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यागमो यथा सम्यग्दर्शनादि-
त्रयाणां समुदितानां मोक्षकारणत्वमिति प्रतिपादयति तथा ससारकारणत्वाभाव-
मपि । तथा चागमादपि सम्यग्दर्शनादीनां कारणाकारणात्मकत्वमनेकान्त-
स्वरूपमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यम् ।

१ श्रुतज्ञानिनः । अभिप्रायो विवक्षा । २ सम्पूर्णश्लोकस्तिवत्यम्—

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते ।

नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तोऽर्थपरिग्रहः ॥

३ 'नयो द्विविधः—द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । पर्यायार्थिकनयेन
पर्यायतत्त्वमधिगन्तव्यम् । इतरेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिकेन, सामा-
न्यात्मकत्वात् ।'—सर्वार्थसि० १-६ । यथोक्तं श्रीविद्यानन्दस्वामिभिः—
संक्षेपाद् द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ ।'—त० श्लो० पृ० २६८ ।

१ 'अथ नयः विभजति' पाठः । २ 'नयः नाम' । ३ 'म' सु
'नयः' इत्यधिकः पाठः ।

द्रव्यपर्यायरूपमेकानेकात्मकमनेकान्तं प्रमाणप्रतिपन्नमर्थं विभज्य
पर्यायार्थिकनयविषयस्य भेदस्योपसर्जनभावेनावस्थानमात्रमभ्य-
नुजानन्^१ स्वविषय द्रव्यमभेदमेव व्यवहारयति, “नयान्तरविषय-
सापेक्ष. सन्नय ” [] इत्यभियानात्^१ । यया सुवर्णमान-
येति । अत्र द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णद्रव्यानयनचोदनायां
कटक कुण्डलं केयूर चोपनयन्नुपनेता कृती भवति, सुवर्णरूपेण
कटकादीना भेदाभावात् । द्रव्यार्थिकनयमुपसर्जनीकृत्य प्रवर्तमान-
पर्यायार्थिकनयमवलम्ब्य कुण्डलमानयेत्युक्ते न कटकादौ प्रवर्तते,
कटकादिपर्यायात् कुण्डलपर्यायस्य भिन्नत्वात्^२ । ततो द्रव्यार्थिक-
नयाभिप्रायेण सुवर्णं स्यादेकमेव । पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण स्याद-
नेकमेव । क्रमेणोभयनयाभिप्रायेण स्यादेकमनेकं च^३ । युगपदुभय^४-
नयाभिप्रायेण स्यादवक्तव्यम्, युगपत्प्राप्तेन नयद्वयेन विविक्त-
स्वरूपयोरेकत्वानेकत्वयोर्विमशसिम्भवात् । न हि युगपदुपनतेन
शब्दद्वयेन घटस्य प्रधानभूतयोऽरूपवत्त्वरसवत्त्वयोर्विविक्तस्वरू-
पयोः प्रतिपादनं शक्यम् । तदेतदवक्तव्यस्वरूपं तत्तदभिप्रायरूप-

‘स द्रव्यार्थिक. पर्यायार्थिकश्च । द्रवति द्रोष्यति अद्रुवत् इति द्रव्यम्,
तदेवार्थोऽस्ति यस्य सो द्रव्यार्थिकः ।’ लघीय० का० स्त्रो० ३० ।

१ उक्तं च—

मेवाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।

ये तेऽपेक्षानपेक्षाम्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ॥—लघीय० का० ३० ।

१ द ‘मभ्यनुजानान.’ । २ सु ‘कटकादिपर्यायस्य ततो भिन्नत्वात्’ । ३
द ‘च’ नास्ति । ४ द ‘एव च युगपदुभय’ । ५ आ स सु ‘रूपवत्त्वरसवत्त्वयो’ ।

नतेनैकत्वादिना समुचितं स्यादेकमवक्तव्यम्, स्यादनेकमवक्तव्यम्, स्यादेकानेकमवक्तव्यमिति स्यात् । सैषा नयविनियोग-परिपाटी सप्तभङ्गीत्युच्यते, भङ्गशब्दस्य वस्तुस्वरूपभेदवाचकत्वात् सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गीति' सिद्धेः ।

§ ८३ नन्वेकत्र वस्तुनि 'सप्तानां भङ्गानां कथं सम्भवः इति चेत्; यथैकस्मिन् रूपवान् घटः रसवान् गन्धवान् स्पर्शवानिति

१ ननु केयं सप्तभङ्गी इति चेत्; उच्यते; 'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी'—तत्त्वार्थवार्तिक १-६ । न्यायविनिश्चयेऽपि श्रीमदकलङ्कुदेवैरुक्तम्—

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः ।

स्याद्विधिप्रतिषेधाम्नां सप्तभङ्गी प्रवर्तते ॥४५१॥

श्रीयशोविजयोऽप्याह—'एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितं सप्तधा वाक्यप्रयोगः सप्तभङ्गी । इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्माणां सम्भवात् सप्तविधसंशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते ।'—जैनतर्कभा० पृ० १६ । 'ननु एकत्राऽपि जीवादि-वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मसङ्ख्यावात्तत्कल्पनाऽनन्तभङ्गी स्यात् (न तु सप्तभङ्गी); इति चेन्न, अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामिष्टत्वात्, तत्रैकत्वानेकत्वादिकल्पनयाऽपि सप्तानामेव भङ्गानामुपपत्तेः, प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव सम्भवात्, प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गीति नियमवचनात् । सप्तविध एव तत्र प्रश्नः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासा-घटनात् । सापि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः । सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषयवस्तुधर्मसप्तविधत्वात् ।'—अष्टसं० पृ० १२५, १२६ । २ के ते वस्तुनिष्ठा सप्त धर्मा इत्यत्रोच्यते (१) सत्त्वम्,

पृथग्व्यवहारनिवन्धना । रूपवत्त्वादिस्वरूपभेदा सम्भवन्ति तथै-
वेति सन्तोष्यव्यमायुष्मता ।

§ ८४ एवमेव परमद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायविषय परमद्रव्यं
सत्ता^२, तदपेक्षया “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन”,
सद्रूपेण चेतनानामचेतनानां च भेदाभावात् । भेदे तु सद्विलक्षण-
त्वेन तेषामसत्त्वप्रसङ्गात् ।

§ ८५ ऋजुसूत्रनयस्तु परमपर्यायार्थिक । स हि भूतत्वभवि-
ष्यत्वाभ्यामपरामृष्ट शुद्ध वर्तमानकालावच्छिन्नवस्तुस्वरूपं^३ परा-
मृशति । तन्नयाभिप्रायेण बौद्धाभिमतक्षणिकत्वसिद्धिः । एते नया-
भिप्राया सकलस्वविषयाशेषात्मकमनेकान्तं प्रमाणविषय विभज्य
व्यवहारयन्ति । स्यादेकमेव वस्तु द्रव्यात्मना न नाना^४, स्यान्नानैव
पर्यायात्मना नैकमिति । तदेतत्प्रतिपादितमाचार्यसमन्तभद्र-
स्वामिभिः—

‘अनेकान्तोऽप्यनेकान्तं प्रमाण-नयसाधनं ।

अनेकान्तं प्रमाणान्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥

[स्वयम्भू० १०६] इति ।

(२) असत्त्वम्, (३) क्रमापितोभयं सत्त्वासत्त्वाख्यम्, (४) सहापितोभय-
मवक्तव्यत्वरूपम्, (५) सत्त्वसहितमवक्तव्यत्वम्, (६) असत्त्वसहितमव-
क्तव्यत्वम्, (७) सत्त्वासत्त्वविशिष्टमवक्तव्यत्वमिति ।

१ ननु सर्वस्य वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वेऽनेकान्तस्याप्यनेकान्तात्मकत्वं

१ द ‘निवन्धन’ । २ मु ‘परमद्रव्यसत्ता’ । ३ स मु ‘वस्तुरूप’ । ४ स
प मु ‘स्यादेकमेव द्रव्यात्मना वस्तु नो नाना’ ।

‘अनियतानेकधर्मवद्वस्तुविषयत्वात्प्रमाणस्य, नियतैकधर्मवद्वस्तु-
विषयत्वाच्च नयस्य । यद्येनामार्हती सरणिमुल्लङ्घ्य सर्वथैक-
मेवाद्वितीय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन, कथञ्चिदपि^१ नाना
नेत्याग्रह स्यात्तदेतदर्याभास । एतत्प्रतिपादक वचनमपि^२ आग-
माभास , प्रत्यक्षेण “सत्य भिदा तत्त्व भिदा” []
इत्यादिनाऽऽगमेन च वाधितविषयत्वात् । सर्वथा भेद एव, न
कथञ्चिदप्यभेद इत्यत्राप्येवमेव^३ विज्ञेयम्^३, सद्रूपेणापि भेदेऽसत्^३

परिकल्पनीयम्, तथा चानवस्था इत्यत्राह अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इति । इद-
मत्राकूतम्—प्रमाणनयसाधनत्वेनानेकान्तोऽप्यनेकान्तात्मक । प्रमाणविष-
यापेक्षयाऽनेकान्तात्मक , विवक्षितनयविषयापेक्षया एकान्तात्मक- । एकान्तो
द्विविध —सम्यगेकान्त मिथ्यैकान्तञ्च । तत्र सापेक्ष सम्यगेकान्त , स एव
नयविषय । अपरस्तु निरपेक्ष , स न नयविषय , अपि तु दुर्नयविषय ,
मिथ्यारूपत्वात् । तदुक्तम्—‘निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थ-
कृत्’ इति । तथा चानेकान्तस्याप्यनेकान्तात्मकत्वमविरुद्धम्, प्रमाणप्रति-
पन्ने वस्तुन्यनवस्थादिदोषानवकाशादिति व्येयम् ।

१ प्रमाणनययो को भेद ? इत्यत आह अनियतेति । उक्तं च—

‘अर्थस्यानेकरूपस्य धी. प्रमाण तदशधी. ।

नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥’

२ तस्यापि प्रत्यक्षादिना वाधितत्वादर्याभासत्व बोध्यमिति भाव । ३ सद्रू-

१ द ‘तत्कथञ्चिदपि’ । २ आ प ‘एतत्प्रतिपादकमपि वचन’, स मु
‘एतत्प्रतिपादकमतिवचन’ ।

अर्थक्रियाकारित्वासम्भवात्^१ ।

१ ८६ 'ननु प्रतिनियताभिप्रायगोचरतया पृथगात्मना पर-
स्परसाहचर्यानिपेक्षायाः। मिथ्याभूतानामेकत्वानेकत्वादीनां^२ धर्मा-
णा साहचर्यलक्षणसमुदायोऽपि मिथ्यैवेति चेत्; तदङ्गीकुर्महे,
परस्पररोपकार्योपकारकभाव विना स्वतन्त्रतया नैरपेक्ष्यापेक्षाया
पटस्वभावविमुख^३तन्तुसमूहस्य गीतनिवारणार्थक्रियावदेकत्वा-
नेकत्वादीनामर्थक्रियाया सामर्थ्याभावात् कथञ्चिन्मिथ्यात्व-
स्यापि सम्भवात् । 'तदुक्तमाप्तमीमांसायां स्वामिसमन्तभट्टा-
चार्यः—

'मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्तताऽस्ति न ।

पापेक्षयाऽपि घटादिवस्तूना सर्वथा भेदेऽमत्त्वप्रसङ्गात् । तथा च खपुष्पव-
देव तत्सर्वं स्यात् । तदुक्तम्—

सदात्मना च भिन्नं चेत् ज्ञान ज्ञेयाद् द्विधाऽप्यसत् ।

ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥

—आप्तमी० का० ३० ।

१ अर्थक्रियाकारित्वं हि मतो लक्षणम् । असत्त्वे च तन्न स्यादिति
भावः । २ अनेकान्ततत्त्वे दूषणमुद्भावयन् परं शङ्कते नन्विति ।
३ स्वोक्तमेव प्रकरणकारः । श्रीमत्समन्तभट्टस्वामिवचनेन प्रमाणयति
तदुक्तमिति । ४ अस्या कारिकाया अयमर्थः—ननु एकत्वानेकत्व-नित्य-

१ मु 'साहचर्यानिपेक्षाणां' । २ मु 'मेकत्वादीनां' । ३ प 'विमुक्ततन्तु-
समूहस्य', म 'विमुक्तस्य तन्तुसमूहस्य' ।

‘निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्’ ॥१०८॥ इति ।

§ ८७ ‘ततो “नयप्रमाणाभ्या वस्तुसिद्धि” इति सिद्ध-
सिद्धान्तः’ । पर्याप्तिमागमप्रमाणम्’ ।

त्वानित्यत्वादीनां सर्वार्थैकान्तरूपाणां धर्माणां मिथ्यात्वात्तत्समुदायरूपं स्या-
द्वादिभिरभ्युपगतोऽनेकान्तोऽपि मिथ्यैव स्यात् । न हि विषकणिकाया
विषत्वे तत्समूहस्याविषत्वं कैश्चिदभ्युपगम्यते । तत्र युक्तम्, मिथ्यासमूहस्य
जनैरनभ्युपगमात् । मिथ्यात्वं हि निरपेक्षत्वम्, तच्च नास्माभिः स्वीक्रियते,
सापेक्षाणामेव धर्माणां समूहस्यानेकान्तत्वाभ्युपगमात् । तत एव चार्थ-
क्रियाकारित्वम्, अर्थक्रियाकारित्वाच्च तेषां वस्तुत्वम् । क्रम-योगपद्याभ्यां
ह्यनेकान्त एवार्थक्रिया व्याप्ता, नित्यक्षणिकाद्येकान्ते तदनुपपत्तेः । तथा
च निरपेक्षा नया मिथ्या—अर्थक्रियाकारित्वाभावादसम्यक्, अवस्तु
इत्यर्थः । सापेक्षास्तु ते वस्तु—सम्यक्, अर्थक्रियाकारित्वादिति दिक् ।

१ ‘निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा
प्रमाणनयाविशेषप्रसङ्गात् । धर्मान्तरादानोपेक्षाहानि-लक्षणत्वात् प्रमाणनय-
दुर्नयानां प्रकारान्तरासम्भवाच्च’ । अष्टश०का० १०८ । २ ते सापेक्षा नया ।
३ अर्थक्रियाकारिणो भवन्तीति क्रियाध्याहारः । ४ पूर्वोक्तमेवोपसहरति
ततो इति । ५ नयशब्दस्याल्पाचनरत्वात् ‘प्रत्यासत्तेर्वलीयान्’ इति न्या-
याच्च पूर्वनिपातो बोध्यः । ६ य खलु ‘प्रमाणनयैरधिगमः’ इति सिद्धान्त-
प्रकरणादावुपन्यस्तः स सिद्ध इति भावः । ७ आगमाल्पं परोक्ष-
प्रमाणं यथेप्सितं समाप्तम् ।

‘मद्गुरो१र्वर्द्धमानेशो वर्द्धमानदयानिधेः ।

श्रोपादस्नेहसम्बन्धात् सिद्धेयं न्यायदीपिका२ ॥२॥

इति श्रीमद्वर्द्धमानभट्टारकाचार्यगुरुकारुण्यसिद्धसार-

स्वतोदयश्रीमदभिनवधर्मभूषणाचार्यविरचितायां

न्यायदीपिकायां परोक्षप्रकाशस्तृतीय ३ ॥३॥

समाप्तेयं न्यायदीपिका ।

— ० —

१ ग्रन्थकारा श्रीमदभिनवधर्मभूषणयतय प्रारब्धनिर्वहण प्रकाशय-
न्ताहुर्मद्गुरोरिति । सुगममिद पद्यम् । समाप्तमेतत्प्रकरणम् ।

जैनन्याय-प्रवेशाय बालानां हितकारकम् ।

दीपिकायाः प्रकाशाख्यं टिप्पणं रचितं मया ॥१॥

द्विसहस्रं कवर्षाब्दे ख्याते विक्रमसज्ञके ।

भाद्रस्य सितपञ्चम्यां सिद्धमेतत्सुबोधकम् ॥२॥

मतिमान्धात्प्रभादाद्वा यदत्र स्खलनं क्वचित् ।

सशोध्यं तद्वि विद्वद्भिः क्षन्तव्यं गुणदृष्टिभिः ॥३॥

इति श्रीमदभिनवधर्मभूषणयतिविरचिताया न्यायदीपिकाया न्यायतीर्थ-

जैनदर्शनशास्त्रि-न्यायाचार्यपण्डितदरवारीलालेन रचित

प्रकाशाख्य टिप्पण समाप्तम् ।

— ० —

१ द ‘यद्गुरो’ पाठ । २ पद्यमिद म प मु प्रतिपु नोपलभ्यते । ३ आ
प द ‘परोक्षप्रकाशस्तृतीय’ पाठो नास्ति । तत्र ‘आगमप्रकाश’ इति पाठो
वर्तते ।—सम्पा० ।

न्याय-दीपिकाका हिन्दी अनुवाद

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खंडितमानशृङ्गो
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥

—स्वामिसमन्तभद्र ।



श्री-समन्तभद्राय नम

श्रीमदभिनव-धर्मभूषण-प्रति-विरचित

न्याय-दीपिका

का

हिन्दी अनुवाद

—: ❁ —

पहला प्रकाश



मंगलाचरण और ग्रन्थ-प्रतिज्ञा—

ग्रन्थ के आरम्भ में मंगल करना प्राचीन भारतीय आस्तिक परम्परा है। उसके अनेक प्रयोजन और हेतु माने जाते हैं। १ निर्विघ्न-शास्त्र-परि-समाप्ति २ शिष्टाचार-परिपालन ३ नास्तिकता-परिहार ४ कृतज्ञता-प्रकाशन और ५ शिष्य-शिक्षा। इन प्रयोजनों को सप्रह 5 करने वाला निम्नलिखित पद्य है, जिसे पण्डित आशाधरजी ने अपने अनगारधर्मामृत की टीका में उद्धृत किया है :—

नास्तिकत्वपरीहारः शिष्टाचारप्रपालनम् ।

पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात् ॥

इसमे नास्तिकतापरिहार, शिष्टाचारपरिपालन, पुण्यावाप्ति और निर्विघ्नशास्त्रपरिसमाप्तिको मङ्गलका प्रयोजन बताया है। कृतज्ञता-प्रकाशनको आचार्य विद्यानन्दने^१ और शिष्यशिक्षाको आचार्य अभयदेवने^२ प्रकट किया है। इनका विशेष खुलासा इस 5 प्रकार है.—

१. प्रत्येक ग्रन्थकारके हृदयमे ग्रन्थारम्भके समय सर्व प्रथम यह कामना अवश्य होती है कि मेरा यह प्रारम्भ किया ग्रन्थरूप कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जाय। वैदिकदर्शनमे 'समाप्तिकामो-मङ्गलमाचरेत्' इस वाक्य को श्रुति-प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत करके 10 समाप्ति और मङ्गल मे कार्यकारणभाव की स्थापना भी की गई है। न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन के पीछे के अनुयायियों ने इसका अनेक हेतुओं और प्रमाणों द्वारा समर्थन किया है। प्राचीन नैयायिकों ने^३ समाप्ति और मङ्गल मे अव्यभिचारी कार्यकारणभाव स्थिर करने के लिए विघ्नध्वंसको समाप्ति का द्वार माना है और 15 जहाँ मङ्गल के होने पर भी समाप्ति नहीं देखी जाती वहाँ मङ्गल-मे कुछ कमी (साधनवैगुण्यादि) को बतलाकर समाप्ति और मङ्गल के कार्यकारणभाव की सङ्गति बिठलाई है। तथा जहाँ मङ्गल-

१ "अभिमतफलसिद्धेरन्युपायः सुबोधः

प्रभवति स च शास्त्रात् तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै-

न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति ॥"

—तत्त्वार्थश्लो पृ २ ।

२ देखो, सन्मतितर्कटीका पृ २ ।

३ देखो, सिद्धान्तमुक्तावली पृ. २, दिनकरी टीका पृ. ६ ।

के बिना भी ग्रन्थ-समाप्ति देखी जाती है वहाँ अनिवद्ध वाचिक अथवा मानसिक या जन्मान्तरीय मङ्गल को कारण माना जाता है। नवीन नैयायिकों का मत है कि मङ्गल का सीधा फल तो विघ्न-ध्वंस है और समाप्ति ग्रन्थकर्त्ता की प्रतिभा, बुद्धि और पुरुषार्थ का फल है। इनके मत से विघ्नध्वंस और मङ्गल में कार्यकारण-5 भाव है।

जैन तार्किक आचार्य विद्यानन्द ने^१ किन्हीं जैन-आचार्यों के नाम से निर्विघ्नशास्त्रपरिसमाप्ति को और वादिराज^२ आदि ने निर्विघ्नता को मङ्गल का फल प्रकट किया है।

२ मङ्गल करना एक शिष्ट कर्त्तव्य है। इससे सदाचार का 10 पालन होता है। अतः प्रत्येक शिष्ट ग्रन्थकार को शिष्टाचार परिपालन करने के लिए ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गल करना आवश्यक है। इस प्रयोजन को^३ आ० हरिभद्र और विद्यानन्द ने^४ भी माना है।

३ परमात्मा का गुण-स्मरण करने से परमात्मा के प्रति ग्रन्थ-कर्त्ता की भक्ति और श्रद्धा तथा आस्तिक्यबुद्धि स्थापित होती है। 15 और इस तरह नास्तिकता का परिहार होता है। अतः ग्रन्थकर्त्ता-को ग्रन्थ के आदि में नास्तिकता के परिहार के लिए भी मङ्गल करना उचित और आवश्यक है।

४. अपने प्रारम्भ ग्रन्थ की सिद्धि में अधिकांशतः गुरुजन ही निमित्त होते हैं। चाहे उनका सम्बन्ध ग्रन्थ-सिद्धि में साक्षात् हो 20 या परम्परा। उनका स्मरण अवश्य ही सहायक होता है। यदि उनसे या उनके रचे शास्त्रों से सुबोध न हो तो ग्रन्थ-निर्माण नहीं

१ मुक्तावली पृ० २, दिनकरी पृ ६। २ तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक पृ० १।

३ न्यायविनिश्चयविवरण लिखितप्रति पत्र २४ अनेकान्तजयपताका पृ० २।

४ तत्त्वार्थश्लो० पृ० १, आप्तप० पृ० ३।

हो सकता। इसलिये प्रत्येक कृतज्ञ ग्रन्थकार का कर्तव्य होता है कि वह अपने ग्रन्थ के आरम्भ में कृतज्ञता-प्रकाशन के लिए परा-पर गुरुओं का स्मरण करे। अतः कृतज्ञता-प्रकाशन भी मङ्गल का एक प्रमुख प्रयोजन है। इस प्रयोजन को आ० विद्यानन्दादि ने 5 स्वीकार किया है।

५ ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण को निवद्ध करने से शिष्यों, प्रशिष्यों और उपशिष्यों को मङ्गल करने की शिक्षा प्राप्ति होती है। अतः 'शिष्या अपि एव कुर्यु' अर्थात् शिष्य-समुदाय भी शास्त्रारम्भ में मङ्गल करने की परिपाटी को कायम रखते, इस 10 बात को लेकर शिष्य-शिक्षा को भी मङ्गल के अन्यतम प्रयोजन रूप में स्वीकृत किया है। पहले बतला आए हैं कि इस प्रयोजन को भी जनाचार्यों ने माना है।

इस तरह जैनपरम्परा में मंगल करने के पाँच प्रयोजन स्वीकृत किए गए हैं। इन्हीं प्रयोजनों को लेकर ग्रन्थकार श्री अभिनव धर्म- 15 भूषण भी अपने इस प्रकरण के आरम्भ में मङ्गलाचरण करते हैं और ग्रन्थ-निर्माण (न्याय-दीपिका के रचने) की प्रतिज्ञा करते हैं—

वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर और वर्द्धमान इन पाँच नाम विशिष्ट अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान स्वामी को अथवा 'अन्त-रङ्ग और बहिरङ्ग' विभूति से प्रकर्ष को प्राप्त समस्त जिनसमूह को 20 नमस्कार करके मैं (अभिनव धर्मभूषण) न्यायस्वरूप जिज्ञासु वालकों (मन्द जनो) के बोधार्थ विशद, सक्षिप्त और सुबोध न्याय-दीपिका (न्याय-स्वरूप की प्रतिपादक पुस्तिका) ग्रन्थ को बनाता हूँ।

प्रमाण और नयके विवेचन की भूमिका—

‘प्रमाणनयैरधिगम.’ [त० सू० १-६] यह महाशास्त्र तत्त्वार्थ- 25 सूत्र के पहले अध्याय का छठवाँ सूत्र है। वह, परमपुरुषार्थ—मोक्ष-

के कारणभूत^१ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विषय जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वों का^२ ज्ञान करानेवाले उपायो का प्रमाण और नयरूप से निरूपण करता है; क्योंकि प्रमाण और नय के द्वारा ही जीवादि पदार्थों का विश्लेषण पूर्वक सम्यक्ज्ञान होता है । प्रमाण और 5 नय को छोड़कर जीवादिकों के जानने में अन्य कोई उपाय नहीं है^३ । इसलिए जीवादि तत्त्वज्ञान के उपायभूत प्रमाण और नय भी विवेचनीय—व्याख्येय हैं । यद्यपि इनका विवेचन करनेवाले प्राचीन ग्रन्थ विद्यमान हैं^४ तथापि उनमें कितने ही ग्रन्थ विशाल हैं^५ और कितने ही अत्यन्त गम्भीर हैं^६—छोटे होनेपर भी 10 अत्यन्त गहन और दुरूह हैं । अतः उनमें बालकों का प्रवेश सम्भव नहीं है । इसलिए उन बालकों को सरलता से प्रमाण और नयरूप न्याय के स्वरूप का बोध करानेवाले शास्त्रों में प्रवेश पाने के लिए यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

उद्देशादिरूपसे ग्रन्थ की प्रवृत्ति का कथन—

15

इस ग्रन्थ में प्रमाण और नय का व्याख्यान उद्देश, लक्षण-निर्देश तथा परीक्षा इन तीन द्वारा किया जाता है । क्योंकि विवेचनीय वस्तु का उद्देश—नामोल्लेख किए बिना लक्षणकथन नहीं

१ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारिज्ञाणि मोक्षमार्ग'—त० सू० १-१ । २ 'जीवा-जीवास्रवबन्धसवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्'—त० सू० १-४ । ३ लक्षण और निक्षेपका भी यद्यपि शास्त्रों में पदार्थों के जानने के उपायरूपसे निरूपण है तथापि मुख्यतया प्रमाण और नय ही अविगम के उपाय हैं । दूसरे लक्षण-के ज्ञापक होनेसे प्रमाणमें ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है और निक्षेप-नयों के विषय होनेसे नयो में शामिल हो जाते हैं । ४ अकलङ्कादिप्रणीत न्याय-विनिश्चय आदि । ५ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड वगैरह । ६ न्यायविनिश्चय आदि ।

हो सकता और लक्षणकथन किए बिना परीक्षा नहीं हो सकती तथा परीक्षा हुए बिना विवेचन—निर्णयात्मक वर्णन नहीं हो सकता । लोक^१ और शास्त्र^२ में भी उक्त प्रकार से (उद्देश, लक्षण-निर्देश और परीक्षा द्वारा) ही वस्तु का निर्णय प्रसिद्ध है ।

- 5 विवेचनीय वस्तु के केवल नामोल्लेख करने को उद्देश्य कहते हैं । जैसे 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र द्वारा प्रमाण और नय का उद्देश्य किया गया है । मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग करनेवाले हेतुको (चिन्ह को) लक्षण कहते हैं । जैसा कि श्री अकलकदेव ने राजवार्त्तिक में कहा है—'परस्पर मिली हुई
- 10 वस्तुओं में से कोई एक वस्तु जिसके द्वारा व्यावृत्त (अलग) की जाती हैं उसे लक्षण कहते हैं ।'

लक्षण के दो भेद हैं^३—१ आत्मभूत और २ अनात्मभूत । जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं । जैसे अग्नि की उष्णता । यह उष्णता अग्नि का स्वरूप होती

१ स्वर्णकार जैसे सुवर्ण का पहिले नाम निश्चित करता है फिर परिभाषा वाचता है और छोटे खरेके के लिए मसान पर रखकर परीक्षा करता है तब वह इस तरह सुवर्ण का ठीक निर्णय करता है ।
 २ 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्ति—उद्देशो लक्षण परीक्षा चेति । तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधान उद्देशः । तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथा लक्षणमुपपद्यते नवेति प्रमाणैरवधारण परीक्षा ।'—न्यायभा० १-१-२ ।

३ लक्षण के सामान्यलक्षण और विशेष लक्षण के भेदसे भी दो भेद माने गए हैं । यथा—'तद् द्वेधा सामान्यलक्षण विशेषलक्षणम् च ।' प्रमाणमी० पृ० २ । न्यायदीपिकाकार को ये भेद मान्य हैं । जैसा कि ग्रन्थ के व्याख्यान से सिद्ध है । पर उनके यहा कथन न करने का कारण

हुई अग्निको जलादि पदार्थों से जुदा करती है। इसलिए उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है। जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो—उससे पृथक् हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे दण्डी पुरुष का दण्ड। 'दण्डी को लाओ' ऐसा कहने पर दण्ड पुरुष में न मिलता हुआ ही पुरुष को पुरुषभिन्न पदार्थों से पृथक् करता है। इसलिए दण्ड पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है। जैसा कि तत्त्वार्थराजवार्त्तिकभाष्य में कहा है:—'अग्नि की उष्णता आत्मभूत लक्षण है और देवदत्त का दण्ड अनात्मभूत लक्षण है।' आत्मभूत और अनात्मभूत लक्षण में यही भेद है कि आत्मभूत लक्षण वस्तु के स्वरूपमय होता है और अनात्मभूत लक्षण वस्तु के स्वरूप से भिन्न होता है और वह वस्तु के साथ सयोगादि सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है।

'असाधारण धर्म के कथन करने को लक्षण कहते हैं' ऐसा किन्हीं (नैयायिक और हेमचन्द्राचार्य) का कहना है; पर वह ठीक नहीं है। क्योंकि लक्ष्यरूप धर्मवचन का लक्षणरूप धर्मवचन के साथ सामानाधिकरण्य (शाब्द सामानाधिकरण्य) के अभाव का प्रसङ्ग आता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

यदि असाधारण धर्म को लक्षण का स्वरूप माना जाय तो लक्ष्यवचन और लक्षणवचन में सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता। यह नियम है कि लक्ष्य-लक्षणभावस्थल में लक्ष्यवचन और लक्षणवचन में एकार्थप्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य अवश्य होता है। जैसे 'ज्ञानी जीव।' अथवा 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' इनमें

यह है कि आत्मभूत और अनात्मभूत लक्षणों के कथन से ही उनका कथन हो जाता है। दूसरे, उन्होंने राजवार्त्तिककार की दृष्टि स्वीकृत की है जिसे आचार्य विद्यानन्द ने भी अपनाया है। देखो, त० श्लो० पृ० ३१८।

- शब्द सामानाधिकरण्य है। यहाँ 'जीव' लक्ष्यवचन है, क्योंकि जीव-
का लक्षण किया जा रहा है। और 'ज्ञानी' लक्षणवचन है, क्योंकि
वह जीव को अन्य अजीवादि पदार्थों से व्यावृत्त कराता है। 'ज्ञानवान्
जीव है' इसमें किसी को विवाद नहीं है। अब यहाँ देखेंगे कि
5 'जीव' शब्द का जो अर्थ है वही 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ है। और
जो 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ है वही 'जीव' शब्द का है। अतः दोनों-
का वाच्यार्थ एक है। जिन दो शब्दों—पदों का वाच्यार्थ एक होता
है उनमें शब्दसामानाधिकरण्य होता है। जैसे 'नील कमलम्' यहाँ
स्पष्ट है। इस तरह 'ज्ञानी' लक्षणवचन में और 'जीव' लक्ष्यवचन-
10 में एकार्थप्रतिपादकत्वरूप शब्दसामानाधिकरण्य सिद्ध है। इसी प्रकार
'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' यहाँ भी जानना चाहिए। इस प्रकार जहाँ
कहीं भी निर्दोष लक्ष्यलक्षणभाव किया जावेगा वहाँ सब जगह
शब्दसामानाधिकरण्य पाया जायगा। इस नियम के अनुसार
'असाधारणधर्मवचन लक्षणम्' यहाँ असाधारणधर्म जब लक्षण होगा
15 तो लक्ष्य धर्मों होगा और लक्षणवचन धर्मोंवचन तथा लक्ष्यवचन
धर्मोंवचन माना जायगा। किन्तु लक्ष्यरूप धर्मोंवचन का और
लक्षणरूप धर्मवचन का प्रतिपाद्य अर्थ एक नहीं है। धर्मवचन
का प्रतिपाद्य अर्थ तो धर्म है और धर्मवचन का प्रतिपाद्य अर्थ
धर्मों है। ऐसी हालत में दोनों का प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न भिन्न होने से
20 धर्मोंरूप लक्ष्यवचन और धर्मरूप लक्षणवचन में एकार्थप्रतिपाद-
कत्वरूप सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है और इसलिए उक्त प्रकार
का लक्षण करने में शब्दसामानाधिकरण्याभावप्रयुक्त असम्भव दोष
आता है।

अव्याप्ति दोष भी इस लक्षण में आता है। दण्डादि असाधा-
25 रण धर्म नहीं हैं, फिर भी वे पुरुष के लक्षण होते हैं। अग्नि की
उष्णता, जीव का ज्ञान आदि जैसे अपने लक्ष्य में मिले हुए होते

हैं इसलिए वे उनके असाधारण धर्म कहे जाते हैं। वैसे दण्डादि पुरुष मे मिले हुए नहीं हैं—उससे पृथक् हैं और इसलिए वे पुरुष के असाधारण धर्म नहीं हैं। इस प्रकार लक्षणरूप लक्ष्य के एक देश अनात्मभूत दण्डादि लक्षण मे असाधारण धर्म के न रहने से लक्षण (असाधारण धर्म) अव्याप्त है।

5

इतना ही नहीं, इस लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष भी आता है। शावलेयत्वादि रूप अव्याप्त नाम का लक्षणाभास भी असाधारणधर्म है। इसका खुलासा निम्न प्रकार है :—

मिथ्या अर्थत्—सदोत्र लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं। उसके तीन भेद हैं :—१ अव्याप्त, २ अतिव्याप्त और ३ असम्भवि। लक्ष्य के एक देश मे लक्षण के रहने को अव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गायका शावलेयत्व। शावलेयत्व सब गायो मे नहीं पाया जाता वह कुछ ही गायो का धर्म है, इसलिए अव्याप्त है। लक्ष्य और अलक्ष्य मे लक्षण के रहने को अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गाय का ही पशुत्व (पशुपता) लक्षण करना। यह 'पशुत्व' गायो के सिवाय अश्वदि पशुओ मे भी पाया जाता है इसलिए 'पशुत्व' अतिव्याप्त है। जिसकी लक्ष्य मे वृत्ति बाधित हो अर्थात् जो लक्ष्यमे विलकुल ही न रहे वह असम्भवि लक्षणाभास है। जैसे मनुष्य का लक्षण सींग। सींग किसी भी मनुष्य मे नहीं पाया जाता। अतः वह असम्भवि लक्षणाभास है। यहाँ लक्ष्य के एक देश में रहने के कारण 'शावलेयत्व' अव्याप्त है, फिर भी उसमे असाधारणधर्मत्व रहता है—'शावलेयत्व' गाय के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं रहता—गाय मे ही पाया जाता है। परन्तु वह लक्ष्यभूत ममस्त गायो का व्यावर्त्तक—अश्वदि से जुदा करनेवाला नहीं है—कुछ ही गायो को व्यावर्त्त करता है। इसलिए अलक्ष्यभूत अव्याप्त लक्षणाभास मे असाधारणधर्म के रहने के कारण अतिव्याप्ति भी

10

15

20

25

है। इस तरह असाधारण धर्म को लक्षण कहने में असम्भव, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति ये तीनों ही दोष आते हैं। अतः पूर्वोक्त (मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु के अलग करानेवाले हेतुको लक्षण कहते हैं) ही लक्षण ठीक है। उसका कथन करना

5 लक्षण-निर्देश है।

विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुए विचार को परीक्षा कहते हैं। वह परीक्षा 'यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिए और यदि ऐसा हो तो ऐसा नहीं होना चाहिए' इस प्रकार से प्रवृत्त होती है।

10 प्रमाण के सामान्य लक्षण का कथन—

प्रमाण और नयका भी उद्देश सूत्र ('प्रमाणनयनधिगमः') में ही किया गया है। अब उनका लक्षण-निर्देश करना चाहिए। और परीक्षा यथा-वसर होगी। 'उद्देश के अनुसार लक्षण का कथन होता है' इस न्याय के अनुसार प्रधान होने के कारण प्रथमतः उद्दिष्ट प्रमाण का पहले लक्षण

15 किया जाता है।

'सम्यग्ज्ञान प्रमाणम्' अर्थात्—सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं—जो ज्ञान यथार्थ है वही प्रमाण है। यहां 'प्रमाण' लक्ष्य है; क्योंकि उसका लक्षण किया जा रहा है और 'सम्यग्ज्ञानत्व' (सच्चा ज्ञानपना) उसका लक्षण है; क्योंकि वह 'प्रमाण' को प्रमाणभिन्न

20 पदार्थों से व्यावृत्त कराता है। गाय का जैसे 'सास्नादि' और अग्नि का जैसे 'उष्णता' लक्षण प्रसिद्ध है। यहां प्रमाण के लक्षण में जो 'सम्यक्' पद का निवेश किया गया है वह सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के निराकरण के लिए किया है; क्योंकि ये तीनों ज्ञान अप्रमाण हैं—मिथ्याज्ञान हैं। इसका खुलासा निम्न प्रकार

25 है :—

विरुद्ध अनेक पक्षोका अवगाहन करनेवाले ज्ञानको सशय कहते हैं। जैसे—यह स्थाणु (डूँठ) है या पुरुष है? यहाँ 'स्थाणुत्व, स्थाणुत्वाभाव, पुरुषत्व और पुरुषत्वाभाव' इन चार अथवा 'स्थाणुत्व और पुरुषत्व' इन दो पक्षोका अवगाहन होता है। प्रायः संध्या आदिके समय मन्द प्रकाश होनेके कारण दूरसे मात्र स्थाणु और पुरुष दोनों में सामान्यरूपसे रहनेवाले ऊँचाई आदि साधारण धर्मोंके देखने और स्थाणुगत टेढ़ापन, कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत शिर, पैर आदि विशेष धर्मोंके साधक प्रमाणोका अभाव होनेसे नाना कोटियोको अवगाहन करनेवाला यह सशय ज्ञान होता है।

विपरीत एक पक्षका निश्चय करनेवाले ज्ञानको विपर्यय कहते हैं। जैसे—सीपमे 'यह चादी है' इस प्रकारका ज्ञान होना। इस ज्ञानमे सदृशता आदि कारणींसे सीपसे विपरीत चाँदीमे निश्चय होता है। अतः सीपमे सीपका ज्ञान न करनेवाला और चाँदीका निश्चय करनेवाला यह ज्ञान विपर्यय माना गया है।

'क्या है' इस प्रकारके अनिश्चयरूप सामान्य ज्ञानको अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे—मार्गमे चलते हुए तृण, फंटक आदिके स्पर्श हो जानेपर ऐसा ज्ञान होना कि 'यह क्या है।' यह ज्ञान नाना पक्षोका अवगाहन न करनेसे न सशय है और विपरीत एक पक्षका निश्चय न करनेसे न विपर्यय है। इसलिए उक्त दोनों ज्ञानोसे यह ज्ञान पृथक् ही है।

ये तीनों ज्ञान अपने गृहीत विषयमे प्रमिति—यथार्थताको उत्पन्न न करनेके कारण अप्रमाण हैं, सम्यग्ज्ञान नहीं हैं। अतः 'सम्यक्' पदसे इनका व्यवच्छेद हो जाता है। और 'ज्ञान' पदसे प्रमाता, प्रमिति और 'च' शब्दसे प्रमेयकी व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि निर्दोष होनेके कारण 'सम्यक्त्व'

उनमें भी है, परन्तु 'ज्ञानत्व' (ज्ञानपना) उनमें नहीं है । इस तरह प्रमाणके लक्षणमें दिये गये 'सम्यक्' और 'ज्ञान' ये दोनों पद सार्यक हैं ।

शङ्का—प्रमाता प्रमितिको करनेवाला है । अतः वह ज्ञाता ही है, 5 ज्ञानरूप नहीं हो सकता । इसलिए ज्ञान पदसे प्रमाताकी तो व्यावृत्ति हो सकती है । परन्तु प्रमिति की व्यावृत्ति नहीं हो सकती । कारण, प्रमिति भी सम्यग्ज्ञान है ।

समाधान—यह कहना उस हालतमें ठीक है जब ज्ञान पद यहाँ 10 भावसाधन हो । पर 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' अर्थात् जिसके द्वारा जाना जावे वह ज्ञान है । इस प्रकारकी व्युत्पत्तिको लेकर ज्ञान पद करणसाधन इष्ट है । 'करणाधारे चानद्' [१-३-११२] इस जैनेन्द्र-व्याकरणके सूत्रके अनुसार करणमें भी 'अनद्' प्रत्ययका विधान है । भावसाधनमें ज्ञानपदका अर्थ प्रमिति होता है । और भावसाधनसे करणसाधन पद भिन्न है । फलितार्थ यह हुआ कि प्रमाणके लक्षणमें 15 ज्ञान पद करणसाधन विवक्षित है, भावसाधन नहीं । अतः ज्ञान पदसे प्रमितिकी व्यावृत्ति हो सकती है ।

इसी प्रकार प्रमाणपद भी 'प्रमोयतेऽनेनेति प्रमाणम्' इस व्युत्पत्तिको लेकर करणसाधन करना चाहिए । अन्यथा 'सम्यग्-ज्ञानं प्रमाणम्' यहाँ करणसाधनरूपसे प्रयुक्त 'सम्यग्ज्ञान' पदके 20 साथ 'प्रमाण' पदका एकार्थप्रतिपादकत्वरूप समानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा । तात्पर्य यह कि 'प्रमाण' पदको करणसाधन न मानने पर और भावसाधन मानने पर 'प्रमाण' पदका अर्थ प्रमिति होगा और 'सम्यग्ज्ञान' पदका अर्थ प्रमाणज्ञान होगा और ऐसी हालतमें दोनों पदोंका प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न-भिन्न होनेसे 25 शाब्द सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता । अतः 'प्रमाण' पदको करणसाधन करना चाहिए । इससे यह बात सिद्ध हो गई कि

अज्ञाननिवृत्ति अथवा अर्थपरिच्छेदरूप प्रमितिक्रियामे जो करण हो वह प्रमाण है। इसी बातको आचार्य वादिराजने अपने 'प्रमाणनिर्णय' [पृ० १] मे कहा है :—'प्रमाण वही है जो प्रमितिक्रियाके प्रति साधकतमरूपसे करण (नियमसे कार्यका उत्पादक) हो।

5

शङ्का—इस प्रकारसे (सम्यक् और ज्ञान पद विशिष्ट) प्रमाणका लक्षण माननेपर भी इन्द्रिय और लिङ्गादिकोंमे उसकी अतिव्याप्ति है। क्योंकि इन्द्रिय और लिङ्गादि भी जाननेरूप प्रमितिक्रियामे करण होते हैं। 'आँखसे जानते हैं, घूमसे जानते हैं, शब्दसे जानते हैं' इस प्रकार का व्यवहार हम देखते ही हैं ?

10

समाधान—इन्द्रियादिकोंमे लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं है; क्योंकि इन्द्रियादिक प्रमितिके प्रति साधकतम नहीं हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है .—

'प्रमिति प्रमाणका फल (कार्य) है' इसमे किसी भी (वादी अथवा प्रतिवादी) व्यक्तिको विवाद नहीं है—सभीको मान्य है। और वह प्रमिति अज्ञाननिवृत्तिस्वरूप है। अतः उसकी उत्पत्ति-मे जो करण हो उसे अज्ञान-विरोधी होना चाहिए। किन्तु इन्द्रियादिक अज्ञानके विरोधी नहीं हैं; क्योंकि अचेतन (जड) हैं। अतः अज्ञान-विरोधी चेतनधर्म—ज्ञानको ही करण मानना युक्त है। लोकमे भी अन्धकारको दूर करनेके लिए उससे विरुद्ध प्रकाशको ही खोजा जाता है, घटादिकको नहीं। क्योंकि घटादिक अन्धकारके विरोधी नहीं हैं—अन्धकारके साथ भी वे रहते हैं और इसलिए उनसे अन्धकारकी निवृत्ति नहीं होती। वह तो प्रकाशसे ही होती है।

15

20

दूसरी बात यह है, कि इन्द्रिय वर्गरह अस्वसवेदी (अपनेको न जाननेवाले) होनेसे पदार्थोंका भी ज्ञान नहीं करा सकते हैं।

25

जो स्वयं अपना प्रकाश नहीं कर सकता है वह दूसरेका भी प्रकाश नहीं कर सकता है। घटकी तरह। किन्तु ज्ञान दीपक आदिकी तरह अपना तथा अन्य पदार्थोंका प्रकाशक है, यह अनुभवसे सिद्ध है। अतः यह स्थिर हुआ कि इन्द्रिय वगैरह पदार्थोंके ज्ञान करानेमें साधकतम 5 न होनेके कारण करण नहीं है।

‘आँखसे जानते हैं’ इत्यादि व्यवहार तो उपचारसे प्रवृत्त होता है और उपचारकी प्रवृत्तिमें सहकारिता निमित्त है। अर्थात् इन्द्रियादिक अर्थपरिच्छेदमें ज्ञानके सहकारी होनेसे उपचारसे परिच्छेदक नान लिये जाते हैं। वस्तुतः मुख्य परिच्छेदक तो ज्ञान ही है। अतः इन्द्रियादिक 10 सहकारी होनेसे प्रमिति क्रियामें मात्र साधक हैं, साधकतम नहीं। और इसलिए करण नहीं हैं। क्योंकि अतिशयवान् साधकविशेष (असाधारण कारण) ही करण होता है। जैसा कि जैनेन्द्र व्याकरण [१।२।११३] में कहा है—‘साधकतम करणम्’ अर्थात्—अतिशय-विशिष्ट साधकका नाम करण है। अतः इन्द्रियादिक में लक्षण की 15 अतिव्याप्ति नहीं है।

शङ्का—इन्द्रियादिकोंमें लक्षणकी अतिव्याप्ति न होनेपर भी धारावाहिक ज्ञानोंमें अतिव्याप्ति है, क्योंकि वे सम्यक् ज्ञान हैं। किन्तु उन्हें आर्हत मत—जैन दर्शन में प्रमाण नहीं माना है ?

समाधान—एक ही घट (घड़े) में घटविषयक अज्ञानके निरा- 20 करण करनेके लिए प्रवृत्त हुए पहले घटज्ञानसे घटकी प्रमिति (सम्यक् परिच्छित्ति) हो जानेपर फिर ‘यह घट है, यह घट है’ इस प्रकार उत्पन्न हुए ज्ञान धारावाहिक ज्ञान हैं। ये ज्ञान अज्ञान-निवृत्तिरूप प्रमितिके प्रति साधकतम नहीं हैं; क्योंकि अज्ञानकी निवृत्ति पहले ज्ञानसे ही हो जाती है। फिर उनमें लक्षणकी अतिव्याप्ति कैसे हो 25 सकती है ? क्योंकि यह गृहीतग्राही हैं—ग्रहण किये हुए ही अर्थको ग्रहण करते हैं।

शङ्का—यदि गृहीतग्राही ज्ञानको अप्रमाण मानेंगे तो घटको जान लेनेके बाद दूसरे किसी कार्यमें उपयोगके लग जानेपर पीछे घटके ही देखनेपर उत्पन्न हुआ पश्चाद्वर्ती ज्ञान अप्रमाण हो जायगा । क्योंकि धारावाहिक ज्ञानकी तरह वह भी गृहीतग्राही हैं—अपूर्वार्थ-ग्राहक नहीं है ?

5

समाधान—नहीं, जाने गये भी पदार्थमें कोई समारोप—सशय आदि हो जानेपर वह पदार्थ अदृष्ट—नहीं जाने गयेके ही समान हैं । कहा भी है—‘दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्’ [परीक्षा० १-५] अर्थात् ग्रहण किया हुआ भी पदार्थ सशय आदिके हो जाने पर ग्रहण नहीं किये हुएके तुल्य है ।

10

उक्त लक्षणकी इन्द्रिय, लिङ्ग, शब्द और धारावाहिक ज्ञानमें अतिव्याप्तिका निराकरण कर देनेसे निर्विकल्पक सामान्यावलोकनरूप दर्शनमें भी अतिव्याप्तिका परिहार हो जाता है । क्योंकि दर्शन अनिश्चयस्वरूप होनेसे प्रमितिके प्रति करण नहीं है । दूसरी बात यह है, कि दर्शन निराकार (अनिश्चयात्मक) होता है और निराकारमें ज्ञानपना नहीं होता । कारण, “दर्शन निराकार (निर्विकल्पक) होता है और ज्ञान साकार (सविकल्पक) होता है ।” ऐसा आगमका वचन है । इस तरह प्रमाणका ‘सम्यक् ज्ञान’ यह लक्षण अतिव्याप्त नहीं है । और न अव्याप्त है; क्योंकि प्रत्यक्ष और परोक्ष-रूप अपने दोनों लक्ष्योंमें व्यापकरूपसे विद्यमान रहता है । तथा असम्भवी भी नहीं है, क्योंकि लक्ष्य (प्रत्यक्ष और परोक्ष) में उसका रहना बाधित नहीं है—वहाँ वह रहता है । अतः प्रमाणका उपर्युक्त लक्षण विल्कुल निर्दोष है ।

15

20

प्रमाणके प्रामाण्यका कथन—

शङ्का—प्रमाणका यह प्रामाण्य क्या है, जिससे ‘प्रमाण’ प्रमाण कहा जाता है, अप्रमाण नहीं ?

25

समाधान—जाने हुए विषयमे व्यभिचार (अन्यथापन) का न होना प्रामाण्य है। अर्थात् ज्ञानके द्वारा पदार्थ जैसा जाना गया है वह वैसा ही सिद्ध हो, अन्य प्रकारका सिद्ध न हो, यही उस ज्ञानका प्रामाण्य (सच्चापन) है। इसके होनेसे ही ज्ञान प्रमाण कहा जाता है और इसके न होनेसे अप्रमाण कहलाता है।

शङ्का—प्रामाण्यकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ?

समाधान—मीमांसक कहते हैं कि 'स्वतः' होती है। 'स्वतः उत्पत्ति' कहनेका मतलब यह है कि ज्ञान जिन कारणोंसे पैदा होता है उन्हीं कारणोंसे प्रामाण्य उत्पन्न होता है—उमके लिए 10 भिन्न कारण (गुणादि) अपेक्षित नहीं होते। कहा भी है 'ज्ञानके कारणोंसे अभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होना उत्पत्तिमे स्वतस्त्व है।' पर उनका यह कहना विचारपूर्ण नहीं है; क्योंकि ज्ञानसामान्यकी उत्पादक सामग्री (कारण) सशय आदि मिथ्याज्ञानोंमे भी रहती है। हम तो इस विषयमे यह कहते हैं कि ज्ञानसामान्यकी 15 सामग्री सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनोंमे समान होनेपर भी 'सशयादि अप्रमाण हैं और सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, यह विभाग (भेद) बिना कारणके नहीं हो सकता है। अतः जिस प्रकार संशयादिमे अप्रमाणताको उत्पन्न करनेवाले काचकामलादि दोष और चाकचिक्च आदिको ज्ञानसामान्यकी सामग्रीके अलावा कारण 20 मानते हैं। उसी प्रकार प्रमाणमे भी प्रमाणताके उत्पादक कारण ज्ञानकी सामान्यसामग्रीसे भिन्न निर्मलता आदि गुणोंको अवश्य मानना चाहिये। अन्यथा प्रमाण और अप्रमाणका भेद नहीं हो सकता है।

शङ्का—प्रमाणता और अप्रमाणताके भिन्न कारण सिद्ध हो 25 भी जायें तथापि अप्रमाणता परसे होती है और प्रामाण्यता तो स्वतः ही होती है ?

समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह बात तो विपरीत पक्षमे भी समान है। हम यह कह सकते हैं कि 'अप्रमाणता तो स्वत होती है और प्रमाणता परसे होती है'। इसलिए अप्रमाणता-की तरह प्रमाणता भी परसे ही उत्पन्न होती है। जिस प्रकार वस्त्र-सामान्यकी सामग्री लाल वस्त्रमे कारण नहीं होती—उसके लिए दूसरी 5
ही सामग्री आवश्यक होती है उसी प्रकार ज्ञानसामान्यकी सामग्री प्रमाणमात्रमे कारण नहीं हो सकती है। क्योंकि दो भिन्न कार्य अवश्य ही भिन्न भिन्न कारणोंसे होते हैं।

शङ्का—प्रामाण्यका निश्चय कैसे होता है ?

समाधान—अभ्यस्त विषयमे तो स्वतः होता है और अनभ्यस्त 10
विषयमे परसे होता है। तात्पर्य यह है कि प्रामाण्यकी उत्पत्ति तो सर्वत्र परसे ही होती है, किन्तु प्रामाण्यका निश्चय परिचित विषयमे स्वतः और अपरिचित विषयमे परतः होता है।

शङ्का—अभ्यस्त विषय क्या है ? और अनभ्यस्त विषय क्या है ?

समाधान—परिचित—कई बार जाने हुए अपने गांवके तालावका 15
जल वगैरह अभ्यस्त विषय हैं और अपरिचित—नहीं जाने हुए दूसरे गांवके तालावका जल वगैरह अनभ्यस्त विषय हैं।

शका—स्वतः क्या है और परतः क्या है !

समाधान—ज्ञानका निश्चय करानेवाले कारणोंके द्वारा ही प्रामाण्यका निश्चय होना 'स्वतः' है और उससे भिन्न कारणोंसे 20
होना 'परतः' है।

उनमेसे अभ्यस्त विषयमे 'जल है' इस प्रकार ज्ञान होनेपर ज्ञानस्वरूपके निश्चयके समयमे ही ज्ञानगत प्रामाण्यताका भी निश्चय अवश्य हो जाता है। नहीं तो दूसरे ही क्षणमे जलमे सन्देहरहित प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु जलज्ञानके बाद ही सन्देहरहित प्रवृत्ति 25
अवश्य होती है। अतः अभ्यासदशामे तो प्रामाण्यका निश्चय

स्वतः ही होता है। पर अनभ्यासदशामें जलज्ञान होनेपर 'जल-
 ज्ञान मुझे हुआ' इस प्रकारसे ज्ञानके स्वरूपका निश्चय हो जाने
 पर भी उसके प्रामाण्यका निश्चय अन्य (अर्थक्रियाज्ञान अथवा
 संवादज्ञान) से ही होता है। यदि प्रामाण्यका निश्चय अन्यसे न
 5 हो—स्वतः ही हो तो जलज्ञानके बाद सन्देह नहीं होना चाहिये।
 पर सन्देह अवश्य होता है कि 'मुझको जो जलका ज्ञान हुआ
 है वह जल है या बालूका ढेर ?'। इस सन्देहके बाद ही कमलो-
 की गन्ध, ठण्डी हवाके आने आदिसे जिज्ञासु पुरुष निश्चय करता
 है कि 'मुझे जो पहले जलका ज्ञान हुआ है वह प्रमाण है—सच्चा है,
 10 क्योंकि जलके बिना कमलकी गन्ध आदि नहीं आ सकती है।'।
 अतः निश्चय हुआ कि अपरिचित दशामें प्रामाण्यका निर्णय परसे
 ही होता है।

नैयायिक और वैशेषिकों की मान्यता है कि उत्पत्तिकी तरह
 प्रामाण्यका निश्चय भी परसे ही होता है। इसपर हमारा कहना
 15 है कि प्रामाण्यकी उत्पत्ति परसे मानना ठीक है। परन्तु प्रामाण्य-
 का निश्चय 'परिचित विषयमे स्वतः ही होता है' यह जब सयुक्तिक
 निश्चित हो गया तब 'प्रामाण्यका निश्चय परसे ही होता है' ऐसा
 अवधारण (स्वतस्त्वका निराकरण) नहीं हो सकता है। अतः
 यह स्थिर हुआ कि प्रमाणताकी उत्पत्ति तो परसे ही होती
 20 है, पर ज्ञप्ति (निश्चय) कभी (अभ्यस्त विषयमे) स्वतः और कभी
 (अनभ्यस्त विषयमे) परत होती है। यही प्रमाणपरीक्षामें ज्ञप्तिको
 लेकर कहा है :—

"प्रमाणसे पदार्थोंका ज्ञान तथा अभिलषितकी प्राप्ति होती है
 और प्रमाणाभाससे नहीं होती है। तथा प्रमाणताका निश्चय अभ्यास-
 25 दशामें स्वतः और अनभ्यासदशामे परतः होता है।"

इस तरह प्रमाणका लक्षण सुव्यवस्थित होनेपर भी जिन

लोगोंका यह भ्रम है कि बौद्धादिकोंका भी माना हुआ प्रमाणका लक्षण वास्तविक लक्षण है। उनके उपकार के लिए यहाँ उनके प्रमाण-लक्षणोंकी परीक्षा की जाती है।

बौद्धोंके प्रमाण-लक्षणकी परीक्षा—

‘जो ज्ञान अविस्वादी है—विसंवादादरहित है वह प्रमाण है’ 5
ऐसा बौद्धोंका कहना है, परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। इससे असम्भव दोष आता है। वह इस प्रकारसे है—बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं। न्यायविन्दुमे कहा है “सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) के दो भेद हैं—१ प्रत्यक्ष और २ अनुमान।” उनमे न प्रत्यक्षमे अविस्वादीपना सम्भव है, क्योंकि वह 10 निर्विकल्पक होनेसे अपने विषयका निश्चायक न होनेके कारण सशया-दिरूप समारोपका निराकरण नहीं कर सकता है। और न अनुमानमे भी अविस्वादीपना सम्भव है, क्योंकि उनके मतके अनुसार वह भी अवास्तविक सामान्यको विषय करनेवाला है। इस तरह बौद्धोंका वह प्रमाणका लक्षण असम्भव दोषसे दूषित होनेसे सम्यक् 15 लक्षण नहीं है।

भाट्टोंके प्रमाण-लक्षणकी परीक्षा—

‘जो पहले नहीं जाने हुए यथार्थ अर्थका निश्चय कराने-वाला है वह प्रमाण है’ ऐसा भाट्ट-मीमांसकों की मान्यता है; किन्तु उनका भी यह लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित है। क्योंकि 20 उन्हींके द्वारा प्रमाणरूपमे माने हुए धारावाहिकज्ञान अपूर्वार्थ-ग्राही नहीं हैं। यदि यह आशका की जाय कि धारावाहिक ज्ञान अगले अगले क्षणसे सहित अर्थको विषय करते हैं इसलिए अपूर्वार्थविषयक ही हैं। तो यह आशका करना भी ठीक नहीं है। कारण, क्षण अत्यन्त सूक्ष्म हैं उनको लक्षित करना—जानना 25

सम्भव नहीं है। अतः धारावाहिकज्ञानोमे उक्त लक्षणकी अव्याप्ति निश्चित है।

प्राभाकरोके प्रमाण-लक्षणकी परीक्षा—

प्राभाकर—प्राभाकरमतानुयायी 'अनुभूतिको प्रमाणका लक्षण' 5 मानते हैं, किन्तु उनका भी यह लक्षण युक्तिसङ्गत नहीं है; क्योंकि 'अनुभूति' शब्दको भावसाधन करनेपर करणरूप प्रमाणमे और करण-साधन करनेपर भावरूप प्रमाणमे अव्याप्ति होती है। कारण, करण और भाव दोनों को ही उनके यहाँ प्रमाण माना गया है। जैसा कि शालिकानाथने कहा है—

10 'जब प्रमाण शब्दको 'प्रमिति. प्रमाणम्' इस प्रकार भावसाधन किया जाता है उस समय 'ज्ञान' ही प्रमाण होता है और 'प्रमोयतेऽनेन' इस प्रकार करणसाधन करनेपर 'आत्मा' और मनका सन्निकर्ष' प्रमाण होता है।' अतः अनुभूति (अनुभव) को प्रमाणका लक्षण माननेमे अव्याप्ति दोष स्पष्ट है। इसलिए यह लक्षण भी सुलक्षण 15 नहीं है।

नैयायिकोके प्रमाण-लक्षणकी परीक्षा—

'प्रमाके प्रति जो करण है वह प्रमाण है' ऐसी नैयायिकोकी मान्यता है। परन्तु उनका भी यह लक्षण निर्दोष नहीं है; क्योंकि उनके द्वारा प्रमाणरूपमे माने गये ईश्वरमे ही वह अव्याप्त है। 20 कारण, महेश्वर प्रमाका आश्रय है, करण नहीं है। ईश्वरको प्रमाण माननेका यह कथन हम—अपनी ओरसे आरोपित नहीं कर रहे हैं। किन्तु उनके प्रमुख-आचार्य उदयनने स्वयं स्वीकार किया है कि 'तन्मे प्रमाण शिव' अर्थात् 'वह-महेश्वर मेरे प्रमाण हैं'। इस अव्याप्ति दोषको दूर करनेके लिये कोई इस प्रकार 25 व्याख्यान करते हैं कि 'जो प्रमाका साधन हो, अथवा प्रमाका आश्रय हो वह प्रमाण है।' मगर उनका यह व्याख्यान युक्तिसङ्गत नहीं है।

क्योंकि प्रमासाधन और प्रमाश्रयमे से किसी एकको प्रमाण माननेपर लक्षणकी परस्परमे अव्याप्ति होती है। 'प्रमासाधन' रूप जब प्रमाणका लक्षण किया जायगा तब 'प्रमाश्रय' रूप प्रमाणलक्ष्यमे लक्षण नहीं रहेगा और जब 'प्रमाश्रय' रूप प्रमाणका लक्षण माना जायगा तब 'प्रमासाधन' रूप प्रमाणलक्ष्यमे लक्षण घटित नहीं होगा। 5
तथा प्रमाश्रय और प्रमासाधन दोनोंको सभी लक्ष्योका लक्षण माना जाय तो कहीं भी लक्षण नहीं जायगा। सन्निकर्ष आदि केवल प्रमासाधन हैं, प्रमाणके आश्रय नहीं हैं और ईश्वर केवल प्रमाका आश्रय है प्रमाका साधन नहीं है क्योंकि उसकी प्रमा (ज्ञान) नित्य है। प्रमाका साधन भी हो और प्रमाका आश्रय भी हो ऐसा 10 कोई प्रमाणलक्ष्य नहीं है। अतः नैयायिकोका भी उक्त लक्षण सुलक्षण नहीं है।

और भी दूसरोके द्वारा माने गये प्रमाणके सामान्य लक्षण हैं। जैसे साध्य 'इन्द्रियव्यापार' को प्रमाणका लक्षण मानते हैं। जरन्नैयायिक 'कारकसाकल्य' को प्रमाण मानते हैं, आदि। पर वे सब विचार 15 करनेपर सुलक्षण सिद्ध नहीं होते। अतः उनकी यहाँ उपेक्षा कर दी गई है। अर्थात् उनकी परीक्षा नहीं की गई।

अतः यही निष्कर्ष निकला कि अपने तथा परका प्रकाश करने-वाला सविकल्पक और अपूर्वार्थग्राही सम्यग्ज्ञान ही पदार्थोंके अज्ञानको दूर करनेमे समर्थ है। इसलिए वही प्रमाण है। इस तरह जैनमत 20 सिद्ध हुआ।

इस प्रकार श्रीजैनाचार्य धर्मभूषण यति विरचित न्यायदीपिकामे

प्रमाणका सामान्य लक्षण प्रकाश करनेवाला पहला प्रकाश

पूर्ण हुआ।

दूसरा प्रकाश

प्रमाणविशेषका स्वरूप बतलानेके लिये यह दूसरा प्रकाश प्रारम्भ किया जाता है ।

प्रमाणके भेद और प्रत्यक्षका लक्षण—

- प्रमाणके दो भेद हैं :—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष । विशद प्रतिभास
5 (स्पष्ट ज्ञान) को प्रत्यक्ष कहते हैं ।' यहाँ 'प्रत्यक्ष' लक्ष्य है, 'विशदप्रतिभासत्व' लक्षण है । तात्पर्य यह कि जिस प्रमाणभूत ज्ञानका प्रतिभास (अर्थप्रकाश) निर्मल हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

शङ्का—'विशदप्रतिभासत्व' किसे कहते हैं ?

समाधान—ज्ञानावरणकर्मके सर्वथा क्षयसे अथवा विशेष-

- 10 क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली और शब्द तथा अनुमानादि प्रमाणो से नहीं हो सकनेवाली जो अनुभवसिद्ध निर्मलता है वही निर्मलता 'विशदप्रतिभासत्व' है । किसी प्रामाणिक पुरुषके 'अग्नि है' इस प्रकारके वचनसे और 'यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि घुआँ है, इस प्रकारके घूमादि लिङ्गसे उत्पन्न हुए ज्ञानकी अपेक्षा 'यह अग्नि है'
15 इस प्रकारके उत्पन्न इन्द्रियज्ञानमे विशेषता (अधिकता) देखी जाती है । वही विशेषता निर्मलता, विशदता और स्पष्टता इत्यादि शब्दों द्वारा कही जाती है । अर्थात् ये उसी विशेषताके बोधक पर्याय नाम हैं । तात्पर्य यह कि विशेषप्रतिभासनका नाम विशद-प्रतिभासत्व है । भगवान् भट्टाकलङ्कदेवने भी 'न्यायविनिश्चय'
20 मे कहा है :—

स्पष्ट, यथार्थ और सविकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्षका लक्षण कहा है ।' इसका विवरण (व्याख्यान) स्याद्वादविद्यापति श्रीवादिराजने

‘न्यायविनिश्चयविवरण’ मे इस प्रकार किया है कि “निर्मलप्रतिभासत्व ही स्पष्टत्व है और वह प्रत्येक विचारकके अनुभवमे आता है। इसलिये इसका विशेष व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है”। अतः विशदप्रतिभासात्मक ज्ञानको जो प्रत्यक्ष कहा है वह विल्कुल ठीक है।

5

बौद्धोके प्रत्यक्ष-लक्षणका निराकरण—

बौद्ध ‘कल्पना-पोढ—निर्विकल्पक और अभ्रान्त—भ्रान्तिरहित ज्ञानको प्रत्यक्ष’ मानते हैं। उनका कहना है कि यहाँ प्रत्यक्षके लक्षणमे जो दो पद दिये गये हैं। उनमे ‘कल्पनापोढ’ पदसे सविकल्पककी और ‘अभ्रान्त’ पदसे मिथ्याज्ञानकी व्यावृत्ति की गई है। फलितार्थ यह हुआ कि जो समीचीन निर्विकल्पक ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। किन्तु उनका यह कथन बालचेष्टामात्र है—सयुक्तिक नहीं है। क्योंकि निर्विकल्पक संशयादिरूप समारोपका विरोधी (निराकरण करनेवाला) न होनेसे प्रमाण ही नहीं हो सकता है। कारण, निश्चयस्वरूप ज्ञानमे ही प्रमाणता व्यवस्थित (सिद्ध) होती है। तब वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

10

15

शङ्का—निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि वह अर्थसे उत्पन्न होता है। परमार्थसत्—वास्तविक है और स्वलक्षणजन्य है। सविकल्पक नहीं, क्योंकि वह अपरमार्थभूत सामान्यको विषय करनेसे अर्थजन्य नहीं है ?

20

समाधान—नहीं, क्योंकि अर्थ प्रकाशकी तरह ज्ञानमे कारण नहीं हो सकता है। इसका खुलासा इस प्रकार है :—

अन्वय (कारणके होनेपर कार्यका होना) और व्यतिरेक (कारणके अभावमे कार्यका न होना) से कार्यकारण भाव जाना

25

- जाता है। इस व्यवस्थाके अनुसार प्रकाश ज्ञानमे कारण नहीं है क्योंकि उसके अभावमें भी रात्रिमे विचरनेवाले विल्ली, चूहे आदिको ज्ञान पैदा होता है और उसके सद्भावमे भी उल्लू बगैरह-को ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। अतः जिस प्रकार प्रकाशका ज्ञानके
- 5 साथ अन्वय और व्यतिरेक न होनेसे वह ज्ञानका कारण नहीं हो सकता है उसी प्रकार अर्थ (पदार्थ) भा ज्ञानके प्रति कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि अर्थके अभावमे भी केशमशकादिज्ञान उत्पन्न होता है। (और अर्थके रहनेपर भी उपयोग न होनेपर अन्यमनस्क या सुप्तादिकों को ज्ञान नहीं होता) ऐसी दशामे ज्ञान
- 10 अर्थजन्य कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है। परीक्षा-सुखमे भी कहा है—‘अर्थ और प्रकाश ज्ञानके कारण नहीं हैं’। हमारी बात यह है कि प्रमाणतामे कारण अर्थाव्यभिचार (अर्थके अभावमे ज्ञानका न होना) है, अर्थजन्यता नहीं। कारण, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष विषयजन्य न होनेपर भी प्रमाण माना गया है। यहां यह
- 15 नहीं कहा जा सकता कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष चूंकि अपनेसे उत्पन्न होता है इसलिए वह भी विषयजन्य ही है, क्योंकि कोई भी वस्तु अपनेसे ही पैदा नहीं होती। किन्तु अपनेसे भिन्न कारणोंसे पैदा होती है।

शङ्का—यदि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता तो वह अर्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान—दीपक घटादि पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होता फिर भी वह उनका प्रकाशक है, यह देखकर आपको सन्तोष कर लेना चाहिये। अर्थात् दीपक जिस प्रकार घटादिकोंसे उत्पन्न न होकर भी उन्हें प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अर्थसे उत्पन्न न

25 होकर उसे प्रकाशित करता है।

शङ्का—ज्ञानका विषयके साथ यह प्रतिनियम कैसे बनेगा कि

घटज्ञान का घट ही विषय है, पट नहीं है ? हम तो ज्ञान को अर्थ-जन्य होने के कारण अर्थजन्यता को ज्ञानमे विषयका प्रतिनियामक मानते हैं और जिससे ज्ञान पैदा होता है उसीको विषय करता है, अन्य को नहीं, इस प्रकार व्यवस्था करते हैं। किन्तु उसे आप नहीं मानते हैं ?

5

समाधान - हम योग्यता को विषय का प्रतिनियामक मानते हैं। जिस ज्ञान मे जिस अर्थ के ग्रहण करने की योग्यता (एक प्रकार की शक्ति) होती है वह ज्ञान उस ही अर्थ को विषय करता है—अन्य को नहीं।

शंका—योग्यता किसे कहते हैं ?

10

समाधान—अपने आवरण (ज्ञानको ढकने वाले कर्म) के क्षयोपशमको योग्यता कहते हैं। कहा भी है.—‘अपने आवरण कर्म के क्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा ज्ञान प्रत्येक पदार्थ की व्यवस्था करता है’। तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा मे घटज्ञानावरण कर्म के हटने से उत्पन्न हुआ घटज्ञान घट को ही विषय करता है, पट को नहीं। इसी प्रकार दूसरे पटादिज्ञान भी अपने अपने क्षयोपशम को लेकर अपने अपने ही विषयो को विषय करते हैं। अतः ज्ञान को अर्थजन्य मानना अनावश्यक और अयुक्त है।

15

‘ज्ञान अर्थ के आकार होने से अर्थ को प्रकाशित करता है।’ यह मान्यता भी उपर्युक्त विवेचन से खडित हो जाती है। क्योंकि दीपक, मणि आदि पदार्थों के आकार न होकर भी उन्हें प्रकाशित करते हुये देखे जाते हैं। अतः अर्थाकारता और अर्थजन्यता ये दोनों ही प्रमाणता मे प्रयोजक नहीं हैं। किन्तु अर्थाव्यभिचार ही प्रयोजक है। पहले जो सविकल्पक के विषयभूत सामान्य को अपरमार्थ बता कर सविकल्पक का खण्डन किया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी

20

25

प्रमाणसे बाधित न होने के कारण सविकल्प का विषय परमार्थ (वास्तविक) ही है। बल्कि बौद्धों के द्वारा माना गया स्वलक्षण ही आपत्ति के योग्य है। अतः प्रत्यक्ष निर्विकल्पकरूप नहीं है—सविकल्पकरूप ही है।

5 यौगाभिमत सन्निकर्ष का निराकरण—

नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्ष (इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध) को प्रत्यक्ष मानते हैं। पर वह ठीक नहीं है; क्योंकि सन्निकर्ष अचेतन है। वह प्रमिति के प्रति करण कैसे हो सकता है ? प्रमिति के प्रति जब करण नहीं, तब प्रमाण कैसे ? और जब प्रमाण ही नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे ?

दूसरी बात यह है, कि चक्षु इन्द्रिय रूपका ज्ञान सन्निकर्ष के बिना ही कराती है, क्योंकि वह अप्राप्य है। इसलिए सन्निकर्ष के अभाव में भी प्रत्यक्ष ज्ञान होने से प्रत्यक्ष में सन्निकर्षरूपता ही नहीं है। चक्षु इन्द्रिय को जो यहां अप्राप्यकारी कहा गया है वह असिद्ध ही नहीं है। कारण, प्रत्यक्ष से चक्षु इन्द्रिय में अप्राप्यकारिता ही प्रतीत होती है।

शंका—यद्यपि चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यकारिता (पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करना) प्रत्यक्ष से मालूम नहीं होती तथापि उसे परमाणु की तरह अनुमान से सिद्ध करेंगे। जिस प्रकार परमाणु प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने पर भी 'परमाणु है, क्योंकि स्कन्धादि कार्य अन्यथा नहीं हो सकते' इस अनुमान से उसकी सिद्धि होती है उसी प्रकार 'चक्षु इन्द्रिय पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाश करने वाली है, क्योंकि वह बहिरिन्द्रिय है (बाहर से देखी जाने वाली इन्द्रिय है) जो बहिरिन्द्रिय है वह पदार्थ को प्राप्त करके ही प्रकाश करती है, जैसे स्पर्शन इन्द्रिय' इस अनुमान से चक्षु में

प्राप्यकारिता की सिद्धि होती है और प्राप्यकारिता ही सन्निकर्ष है । अतः चक्षु इन्द्रिय में सन्निकर्ष की अव्याप्ति नहीं है । अर्थात् चक्षु इन्द्रिय भी सन्निकर्ष के होने पर ही रूपज्ञान कराती है । इसलिए सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष मानने में कोई दोष नहीं है ?

समाधान—नहीं; यह अनुमान सम्यक् अनुमान नहीं है—अनु- 5
मानाभास है । वह इस प्रकार है :—

इस अनुमान में 'चक्षु' पदसे कौनसी चक्षु को पक्ष बनाया है ? लौकिक (गोलकरूप) चक्षुको अथवा अलौकिक (किरणरूप) चक्षुको ? पहले विकल्प में, हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधितविषय) नामका हेत्वा- 10
भास) है; क्योंकि गोलकरूप लौकिक चक्षु विषय के पास जाती हुई किसी को भी प्रतीत न होने से उसकी विषय-प्राप्ति प्रत्यक्ष से बाधित है । दूसरे विकल्प में, हेतु आश्रयासिद्ध है; क्योंकि किरणरूप अलौकिक चक्षु अभी तक सिद्ध नहीं है । दूसरी बात यह है, कि वृक्ष की शाखा और चन्द्रमा का एक ही काल में ग्रहण होने से चक्षु अप्राप्यकारी ही प्रसिद्ध होती है । अतः उपर्युक्त अनुमानगत हेतु कालात्ययापदिष्ट 15
और आश्रयासिद्ध होने के साथ ही प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) भी है । इस प्रकार सन्निकर्ष के बिना भी चक्षु के द्वारा रूपज्ञान होता है । इसलिए सन्निकर्ष अव्याप्त होने से प्रत्यक्ष का स्वरूप नहीं है, यह बात सिद्ध हो गई ।

इस सन्निकर्ष के अप्रमाण्य का विस्तृत विचार प्रमेयकमलमार्तण्ड 20
में [१-१ तथा २-४] अच्छी तरह किया गया है । सग्रहग्रन्थ होने के कारण इस लघु प्रकरण न्याय-दीपिका में उसका विस्तार नहीं किया । इस प्रकार न बौद्धाभिमत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है और न योगी का इन्द्रियार्थसन्निकर्ष । तो फिर प्रत्यक्ष का लक्षण क्या है ? विशदप्रतिभासस्वरूप ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, यह भले प्रकार सिद्ध 25
हो गया ।

प्रत्यक्ष के दो भेद करके साव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण और उसके भेदों का निरूपण—

- वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—१ साव्यवहारिक और २ पार-
 मायिक । एकदेश स्पष्ट ज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं ।
 5 तात्पर्य यह कि जो ज्ञान कुछ निर्मल है वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष
 है । उसके चार भेद हैं—१ अवग्रह, २ ईहा, ३ श्रवाय और
 ४ धारणा । इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने के बाद उत्पन्न हुए
 सामान्य अवभास (दर्शन) के अनन्तर होने वाले और अवान्तरसत्ता-
 जाति में युक्त वस्तु को ग्रहण करने वाले ज्ञानविशेष को अवग्रह
 10 कहते हैं । जैसे 'यह पुरुष है' । यह ज्ञान संशय नहीं है, क्योंकि
 विषयान्तर का निराकरण करके अपने विषय का ही निश्चय कराता
 है । और संशय उससे विपरीत लक्षण वाला है । जैसा कि राज-
 वार्तिक में कहा है—“संशय नानार्थविषयक, अनिश्चयात्मक और
 अन्य का अव्यवच्छेदक होता है । किन्तु अवग्रह एकार्यविषयक,
 15 निश्चयात्मक और अपने विषय से भिन्न विषय का व्यवच्छेदक होता
 है ।” राजवार्तिकभाष्य में भी कहा है—“संशय निर्णय का विरोधी
 है, परन्तु अवग्रह नहीं है ।” फलितार्थ यह निकला कि संशयज्ञानमें
 पदार्थ का निश्चय नहीं होता और अवग्रह में होता है । अतः अवग्रह
 संशयज्ञान से पृथक् है ।
- 20 अवग्रह से जाने हुये अर्थमें उत्पन्न संशयको दूर करने के लिये
 ज्ञाताका जो अभिलाषात्मक प्रयत्न होता है उसे ईहा कहते हैं । जैसे
 अवग्रह ज्ञानके द्वारा 'यह पुरुष है' इस प्रकार का निश्चय किया गया
 था, इससे यह 'दक्षिणी' है अथवा 'उत्तरीय' इस प्रकार के सन्देह होने
 पर उसको दूर करने के लिये 'यह दक्षिणी होना चाहिये' ऐसा ईहा
 25 नाम का ज्ञान होता है ।

भाषा, वेद्य और भूषा आदि के विशेष को जानकर यथार्थता का निश्चय करना अवाय है। जैसे 'यह दक्षिणी ही है'।

अवाय से निश्चित किये गये पदार्थ को कालान्तर में न भूलने की शक्ति से उसी का ज्ञान होना धारणा है। जिससे भविष्य में भी 'वह' इस प्रकार का स्मरण होता है। तात्पर्य यह कि 5 पदार्थका निश्चय होने के बाद जो उसको न भूलने रूप से सस्कार (वासना) स्थिर हो जाता है और जो स्मरण का जनक होता है वही धारणाज्ञान है। अतएव धारणा का दूसरा नाम सस्कार भी है।

शङ्का—ये ईहादिक ज्ञान पहले पहले ज्ञान से ग्रहण किये 10 हुये पदार्थ को ही ग्रहण करते हैं, अतः धारावाहिक ज्ञान की तरह अप्रमाण हैं ?

समाधान—नहीं; भिन्न विषय होने से अग्रहीतार्थग्राही हैं। अर्थात्—पूर्व में ग्रहण नहीं किये हुये विषय को ही ग्रहण करते हैं। यथा—जो पदार्थ अवग्रह ज्ञान का विषय है वह ईहा का नहीं है। और जो 15 ईहा का है वह अवाय का नहीं है। तथा जो अवाय का है वह धारणा का नहीं है। इस तरह इनका विषयभेद बिल्कुल स्पष्ट है और उसे वृद्धिमान अच्छी तरह जान सकते हैं।

ये अवग्रहादि चारों ज्ञान जब इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं तब इन्द्रियप्रत्यक्ष कहे जाते हैं। और जब अनिन्द्रिय—मन के द्वारा 20 पैदा होते हैं तब अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहे जाते हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं—१ स्पर्शन, २ रसना, ३ घ्राण, ४ चक्षु, और ५ श्रोत्र। अनिन्द्रिय

१ 'स्मृतिहेतुधारणा, सस्कार इति यावत्—लघी०स्वोपज्ञविवृ०का०-६।
वैशेषिकदर्शन में इसे (धारणाको) भावना नामका सस्कार कहा है और उसे स्मृतिजनक माना है।

केवल एक मन है। इन दोनों के निमित्त से होनेवाला यह अवग्रहादिरूप ज्ञान लोकव्यवहार में 'प्रत्यक्ष' प्रसिद्ध है। इसलिये यह साव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहा जाता है। परीक्षामुख में भी कहा है—“इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले एक देश स्पष्ट ज्ञान 5 को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।” और यह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष अमुख्य प्रत्यक्ष है—गौरवरूपसे प्रत्यक्ष है, क्योंकि उपचार से सिद्ध होता है। वास्तव में तो परोक्ष ही है। कारण वह मतिज्ञान है और मतिज्ञान परोक्ष है।

शङ्का—मतिज्ञान परोक्ष कैसे है ?

10 समाधान—“आद्ये परोक्षम्” [त० सू० १-११] ऐसा सूत्र है—आगम का वचन है। सूत्र का अर्थ यह है कि प्रथम के दो ज्ञान—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। यहाँ साव्यवहारिक प्रत्यक्ष को जो उपचार से प्रत्यक्ष कहा गया है उस उपचार में निमित्त 'एकदेश स्पष्टता' है। अर्थात्—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय जन्य ज्ञान 15 कुछ स्पष्ट होता है, इसलिये उसे प्रत्यक्ष कहा गया है। इस सम्बन्ध में और अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। इतना विवेचन पर्याप्त है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण और उसके भेदों का कथन—

सम्पूर्णरूप से स्पष्ट ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। जो 20 ज्ञान समस्त प्रकार से निर्मल है वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। उसी को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

उसके दो भेद हैं—एक सकल प्रत्यक्ष और दूसरा विकल प्रत्यक्ष। उनमें से कुछ पदार्थों को विषय करने वाला ज्ञान विकल पारमार्थिक है। उसके भी दो भेद हैं—१ अवधिज्ञान और 2 25 मन-पर्ययज्ञान। अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोप-

ज्ञानसे उत्पन्न होने वाले तथा मूर्त्तिक द्रव्य मात्रको विषय करने वाले ज्ञान को अवधि ज्ञान कहते हैं । मन पर्ययज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुये और दूसरे के मन मे स्थित पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को मन.पर्ययज्ञान कहते हैं । मतिज्ञान की तरह अवधि और मन पर्ययज्ञान के भी भेद और प्रभेद है, उन्हे तत्त्वार्थ- 5 राजवार्त्तिक और श्लोकवार्त्तिकभाष्य से जानना चाहिये ।

समस्त द्रव्यो और उनकी समस्त पर्यायों को जानने वाले ज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहते हैं । वह सकल प्रत्यक्ष ज्ञानावरण आदि घातिया-कर्मों के सम्पूर्ण नाश से उत्पन्न केवलज्ञान ही है । क्योंकि “समस्त द्रव्यो और समस्त पर्यायो मे केवल ज्ञान की प्रवृत्ति है” ऐसा तत्त्वार्थ- 10 सूत्र का उपदेश है ।

इस प्रकार अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ज्ञान सब तरह से स्पष्ट होने के कारण पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं । सब तरह से स्पष्ट इसलिये हैं कि ये मात्र आत्मा की अपेक्षा लेकर उत्पन्न होते हैं—इन्द्रियादिक पर पदार्थ की अपेक्षा नहीं लेते । 15

शङ्का—केवलज्ञान को पारमार्थिक कहना ठीक है, परन्तु अवधि और मन.पर्यय को पारमार्थिक कहना ठीक नहीं है । कारण, वे दोनों विकल (एकदेश) प्रत्यक्ष हैं ?

समाधान—नहीं ; सकलपना और विकलपना यहाँ विषय की अपेक्षा से है, स्वरूपतः नहीं । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है— 20 चूँकि केवलज्ञान समस्त द्रव्यो और पर्यायों को विषय करने वाला है, इसलिये वह सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है । परन्तु अवधि और मन.पर्यय कुछ पदार्थों को विषय करते हैं, इसलिये वे विकल कहे जाते हैं । लेकिन इतने से उनमे पारमार्थिकता की हानि नहीं होती । क्योंकि पारमार्थिकता का कारण सकलार्थविषयता नहीं है—पूर्ण 25

निर्मलता है और वह पूर्ण निर्मलता केवलज्ञान की तरह अवधि और मन पर्यय में भी अपने विषय में विद्यमान है। इसलिये वे दोनों भी पारमार्थिक ही हैं।

अवधि आदि तीनों ज्ञानों को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष न हो सकने की
5 शङ्का और उसका समाधान—

शङ्का—अक्ष नाम चक्षु आदि इन्द्रियो का है, उनकी सहायता लेकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे ही प्रत्यक्ष कहना ठीक है, अन्य (इन्द्रियनिरपेक्ष अवधिज्ञानादिक) को नहीं ?

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं है ; क्योंकि आत्मा मात्र की
10 अपेक्षा रखने वाले और इन्द्रियो की अपेक्षा न रखने वाले भी अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहने में कोई विरोध नहीं है। कारण, प्रत्यक्षता का प्रयोजक स्पष्टता ही है, इन्द्रिय-जन्यता नहीं। और वह स्पष्टता इन तीनों ज्ञानों में पूर्णरूप से है।
15 इसीलिये मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों में 'आद्ये परोक्षम्' [त० सू० १-११] और 'प्रत्यक्षमन्यत्' [त० सू० १-१२] इन दो सूत्रों द्वारा प्रथम के मति और श्रुत इन दो ज्ञानों को परोक्ष तथा अवधि, मन पर्यय और केवल इन तीनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहा है।

शङ्का—फिर ये प्रत्यक्ष शब्द के वाच्य कैसे हैं ? अर्थात् इनको
20 प्रत्यक्ष शब्द से क्यों कहा जाता है ? क्योंकि अक्ष नाम तो इन्द्रियो का है और इन्द्रियो की सहायता से होने वाला इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष शब्द से कहने योग्य है ?

समाधान—हम इन्हें रूढि से प्रत्यक्ष कहते हैं। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष शब्द के व्युत्पत्ति (यौगिक) अर्थ की अपेक्षा न करके अवधि
25 आदि ज्ञानों में प्रत्यक्ष शब्द की प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति में

निमित्त^१ स्पष्टता है। और वह उक्त तीनों ज्ञानों में मौजूद है। अतः जो ज्ञान स्पष्ट है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है।

अथवा, व्युत्पत्ति अर्थ भी इनमें मौजूद है। 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा' अर्थात्—जो व्याप्त करे—जाने उसे अक्ष कहते हैं और वह आत्मा है। इस व्युत्पत्ति को लेकर अक्ष शब्द का अर्थ 5 आत्मा भी होता है। इसलिये उस अक्ष—आत्मा मात्रकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहने में क्या बाधा है? अर्थात् कोई बाधा नहीं है।

शङ्का—यदि ऐसा माना जाय तो इन्द्रियजन्य ज्ञान अप्रत्यक्ष कहलायेगा ?

10

समाधान—हमें खेद है कि आप भूल जाते हैं। हम कह आये हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान उपचार से प्रत्यक्ष है। अतः वह वस्तुतः अप्रत्यक्ष हो, इसमें हमारी कोई हानि नहीं है।

इस उपर्युक्त विवेचन से 'इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानको परोक्ष' कहने- 15 की मान्यता का भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि अविशदता (अस्पष्टता) को ही परोक्ष का लक्षण माना गया है। तात्पर्य यह

१ व्युत्पत्तिनिमित्त से प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न हुआ करता है। जैसे गो-शब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त 'गच्छतीति गौ' जो गमन करे वह गौ है, इस प्रकार 'गमनक्रिया' है और प्रवृत्तिनिमित्त 'गोत्व' है। यदि व्युत्पत्तिनिमित्त (गमनक्रिया) को ही प्रवृत्तिमें निमित्त माना जाय तो वैठी या खड़ी गाय में गोशब्दकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती और गमन कर रहे मनुष्यादिमें भी गोशब्दकी प्रवृत्ति का प्रसङ्ग आयेगा। अतः गोशब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त व्युत्पत्तिनिमित्तसे भिन्न 'गोत्व' है। उसी प्रकार प्रकृत में प्रत्यक्ष शब्दकी प्रवृत्तिमें व्युत्पत्तिनिमित्त 'अक्षाश्रितत्व'से भिन्न 'स्पष्टत्व' है। अतः अवधि आदि तीनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहनेमें कोई बाधा नहीं है।

कि जिस प्रकार इन्द्रियसापेक्षता प्रत्यक्षता से प्रयोजक नहीं है। उसी प्रकार इन्द्रियनिरपेक्षता परोक्षता से भी प्रयोजक नहीं है। किन्तु प्रत्यक्षता से स्पष्टताकी तरह परोक्षता से अस्पष्टता कारण है।

शङ्का—‘अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं’ यह कहना बड़े साहस की बात है; 5 क्योंकि वह असम्भव है। यदि असम्भव को भी कल्पना करें तो आकाश के फूल आदि भी कल्पना होनी चाहिए ?

समाधान—नहीं; आकाश के फूल आदि अप्रसिद्ध हैं। परन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। वह इस प्रकार से है—
‘केवलज्ञान’ जो कि अतीन्द्रिय है, अल्पज्ञानी कपिल आदि के असम्भव 10 होने पर भी अरहन्तके अवश्य सम्भव है; क्योंकि अरहन्त भगवान् सर्वज्ञ हैं।

प्रसङ्गवश शङ्का-समाधान पूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि—

शङ्का—सर्वज्ञता ही जब अप्रसिद्ध है तब आप यह कैसे कहते हैं कि ‘अर्हन्त भगवान् सर्वज्ञ हैं’ ? क्योंकि जो सामान्यतया कहीं भी 15 प्रसिद्ध नहीं है उसका किसी खास जगह में व्यवस्थापन नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं; सर्वज्ञता अनुमान से सिद्ध है। वह अनुमान इस प्रकार है—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि अनुमान से जाने जाते हैं। जैसे अग्नि आदि 20 पदार्थ। स्वामी समन्तभद्र ने भी महाभाष्य^१ के प्रारम्भ में आप्तमी-

१ महाभाष्यसे सम्भवतः ग्रन्थकार का आशय गन्वहस्तिमहाभाष्य से जान पड़ता है क्योंकि अनुश्रुति ऐसी है कि स्वामी समन्तभद्रने ‘तत्त्वार्थ-सूत्र’ पर ‘गन्वहस्तिमहाभाष्य’ नामकी कोई बृहद् टीका लिखी है और आप्तमीमांसा जिसका आदिम प्रकरण है। पर उसके अस्तित्वमें विद्वानोंका मतभेद है। इसका कुछ विचार प्रस्तावनामें किया है। पाठक वहाँ देखें।

माता प्रकरण में कहा है—“सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमानसे जाने जाते हैं। जैसे अग्नि आदि। इस अनुमान से सर्वज्ञ भले प्रकार सिद्ध होता है।”

सूक्ष्म पदार्थ वे हैं जो स्वभाव से विप्रकृष्ट हैं—दूर हैं, जैसे परमाणु आदि। अन्तरित वे हैं जो काल से विप्रकृष्ट हैं, जैसे राम 5 आदि। दूर वे हैं जो देश से विप्रकृष्ट हैं, जैसे मेरु आदि। ये ‘स्वभाव, काल और देश से विप्रकृष्ट पदार्थ’ यहाँ धर्मों (पक्ष) हैं। ‘किसी के प्रत्यक्ष हैं’ यह साध्य है। यहाँ ‘प्रत्यक्ष’ शब्द का अर्थ ‘प्रत्यक्षज्ञान के विषय’ यह विवक्षित है, क्योंकि विषयी (ज्ञान) के धर्म (जानना) का विषय में भी उपचार होता है। ‘अनुमान से जाने जाते हैं’ यह 10 हेतु है। ‘अग्नि आदि’ दृष्टान्त है। ‘अग्नि आदि’ दृष्टान्त में ‘अनुमान से जाने जाते हैं’ यह हेतु ‘किसी के प्रत्यक्ष’ हैं’ इस साध्य के साथ पाया जाता है। अतः वह परमाणु, वगैरह सूक्ष्मादि पदार्थों में भी किसी की प्रत्यक्षता को अवश्य सिद्ध करता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अग्नि आदि अनुमान से जाने जाते हैं। अतएव वे किसी के 15 प्रत्यक्ष भी होते हैं। उसी प्रकार सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ चूँकि हम लोगो के द्वारा अनुमान से जाने जाते हैं अतएव वे किसी के प्रत्यक्ष भी हैं और जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ है। परमाणु आदि में ‘अनुमान से जाने जाते हैं’ यह हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि उनको अनुमान से जानने में किसी को विवाद नहीं है। अर्थात्—सभी मतवाले इन पदार्थों 20 को अनुमेय मानते हैं।

शङ्का—सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध करने के द्वारा किसी के सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्षज्ञान हो, यह हम मान सकते हैं। परन्तु वह अतीन्द्रिय है—इन्द्रियो की अपेक्षा नहीं रखता है, यह कैसे ?

समाधान—इस प्रकार से—यदि वह ज्ञान इन्द्रियजन्य हो तो 25

- सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला नहीं हो सकता है; क्योंकि इन्द्रियों अपने योग्य विषय' (सन्निहित और वर्तमान अर्थ) में ही ज्ञान को उत्पन्न कर सकती हैं। और सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियों के योग्य विषय नहीं हैं। अतः वह सम्पूर्ण पदार्थ विषयक ज्ञान अनेन्द्रियिक ही है—
- 5 इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अतीन्द्रिय है, यह बात सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार से सर्वज्ञ के मानने में किसी भी सर्वज्ञवादी को विवाद नहीं है। जैसा कि दूसरे भी कहते हैं—“पुण्य-पापादिक किसी के प्रत्यक्ष है; क्योंकि वे प्रमेय हैं।”

- सामान्य से सर्वज्ञ को सिद्ध करके अर्हन्त के सर्वज्ञता की सिद्धि—
- 10 शङ्का—सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाला अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान सामान्यतया सिद्ध हो, परन्तु वह अरहन्त के है यह कैसे? क्योंकि 'किसी के' यह सर्वनाम शब्द है और सर्वनाम शब्द सामान्य का ज्ञापक होता है?

- समाधान—सत्य है। इस अनुमान से सामान्य सर्वज्ञ की
- 15 सिद्धि की है। 'अरहन्त सर्वज्ञ हैं' यह हम अन्य अनुमान से सिद्ध करते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—'अरहन्त सर्वज्ञ होने के योग्य हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं, जो सर्वज्ञ नहीं है वह निर्दोष नहीं है, जैसे रथ्यापुरुष (पागल)।' यह केवलव्यतिरेकी हेतु जन्य अनुमान है।

- 20 आवरण और रागादि ये दोष हैं और इनसे रहित का नाम निर्दोषता है। वह निर्दोषता सर्वज्ञता के बिना नहीं हो सकती है। क्योंकि जो किञ्चिज्ज्ञ है—अल्पज्ञानी है उसके आवरणादि दोषों का अभाव नहीं है। अतः अरहन्त में रहने वाली यह निर्दोषता उनमें

सर्वज्ञता को अवश्य सिद्ध करती है। और यह निर्दोषता अरहन्त पर-
मेष्ठी में उनके युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन होने से सिद्ध
होती है। युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन भी उनके द्वारा माने
गये मुक्ति, ससार और मुक्ति तथा ससार के कारण तत्त्व और
अनेकधर्मयुक्त चेतन तथा अचेतन तत्त्व के प्रत्यक्षादि प्रमाण से 5
वाधित न होने से अच्छी तरह सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि अरहन्त
के द्वारा उपदेशित तत्त्वों में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से कोई वाधा नहीं
आती है। अतः वे यथार्थवक्ता हैं। और यथार्थवक्ता होने से निर्दोष
हैं। तथा निर्दोष होने से सर्वज्ञ हैं।

शङ्का—इस प्रकार अरहन्त के सर्वज्ञता सिद्ध हो जाने पर भी 10
वह अरहन्त के ही हैं, यह कैसे? क्योंकि कपिल आदि के भी वह
सम्भव है?

समाधान—कपिल आदि सर्वज्ञ नहीं हैं; क्योंकि वे सदोष हैं।
और सदोष इसलिए हैं कि वे युक्ति और शास्त्र से विरोधी कथन
करने वाले हैं। युक्ति और शास्त्र से विरोधी कथन करने वाले भी 15
इस कारण हैं कि उनके द्वारा माने गये मुक्ति आदिक तत्त्व और सर्वथा
एकान्त तत्त्व प्रमाण से वाधित हैं। अतः वे सर्वज्ञ नहीं हैं। अरहन्त
ही सर्वज्ञ हैं। स्वामी समन्तभद्र ने ही कहा है—“हे अर्हन् ! वह
सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं। निर्दोष इसलिये हैं कि
युक्ति और आगम से आपके वचन अविरोध हैं—युक्ति तथा आगम से 20
उनमें कोई विरोध नहीं आता। और वचनों में विरोध इस कारण
नहीं है कि आपका इष्ट (मुक्ति आदि तत्त्व) प्रमाण से वाधित
नहीं है। किन्तु तुम्हारे अनेकान्त मतरूप अमृत का पान नहीं करने
वाले तथा सर्वथा एकान्त तत्त्व का कथन करने वाले और अपने को
आप्त समझने के अभिमान से दग्ध हुए एकान्तवादियों का इष्ट (अभि- 25
मत तत्त्व) प्रत्यक्ष से वाधित है।”

रूप वस्तु प्रमाणका विषय है।" अतः अविशद (अस्पष्ट) प्रतिभाग को जो परोक्ष का लक्षण कहा है वह वित्कुल ठीक है।

परोक्ष प्रमाण के जेद और उनमें ज्ञानान्तर की सापेक्षता का कथन—

- 5 उस परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं—१ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान और ५ आगम। ये पांचो ही परोक्ष प्रमाण ज्ञानान्तर की अपेक्षा में उत्पन्न होते हैं। स्मरण में पूर्व अनुभव की अपेक्षा होती है, प्रत्यभिज्ञान में स्मरण और अनुभव की, तर्क में अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की, अनुमान में लिङ्गदर्शन, 10 व्याप्ति स्मरण आदि की और आगम में शब्दश्रवण, सङ्केतग्रहण (इस शब्द का यह अर्थ है, इस प्रकार के सकेत के ग्रहण) आदि की अपेक्षा होती है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण में ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती, वह स्वतन्त्र रूप से—ज्ञानान्तर निरपेक्ष ही उत्पन्न होता है। स्मरण आदि की यह ज्ञानान्तरापेक्षा उनके अपने अपने निरूपण के 15 समय बतलायी जायगी।

प्रथमतः उद्दिष्ट स्मृति का निरूपण—

- स्मृति किसे कहते हैं ? 'वह' इस प्रकार से उल्लिखित होने वाले और पहले अनुभव किये हुये पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे 'वह देवदत्त'। यहाँ पहले अनुभव किया हुआ 20 ही देवदत्त 'वह' शब्द के द्वारा जाना जाता है। इसलिये यह ज्ञान 'वह' शब्द से उल्लिखित होने वाला और अनुभूत पदार्थ को विषय करने वाला है। जिसका अनुभव नहीं किया उसमें यह ज्ञान नहीं होता। इस ज्ञान का जनक अनुभव है और वह अनुभव धारणारूप ही कारण होता है; क्योंकि पदार्थ में अवग्रहादिक ज्ञान हो जाने पर भी 25 धारणा के अभाव में स्मृति उत्पन्न नहीं होती। कारण, धारणा

आत्मा मे उस प्रकार का सस्कार पैदा करती है, जिससे वह कालान्तर मे भी उस अनुभूत विषय का स्मरण करा देती है। इसलिये धारणाके विषय मे उत्पन्न हुआ 'वह' शब्द से उल्लिखित होने वाला यह ज्ञान स्मृति है, यह सिद्ध होता है।

शङ्का—यदि धारणा के द्वारा ग्रहण किये विषय मे ही स्मरण 5 उत्पन्न होता है तो गृहीतग्राही होने से उसके अप्रमाणता का प्रसङ्ग आता है ?

समाधान—नहीं; ईहा आदिक की तरह स्मरणमे भी विषयभेद मौजूद है। जिस प्रकार अवग्रहादिक के द्वारा ग्रहण किये हुए अर्थ को विषय करने वाले ईहादिक ज्ञानो मे विषयभेद होने से अपने विषय-सम्बन्धी 10 सशयदिरूप समारोप को दूर करने के कारण प्रमाणता है उसी प्रकार स्मरण मे भी धारणा के द्वारा ग्रहण किये गये विषय मे प्रवृत्त होने पर भी प्रमाणता ही है। कारण, धारणा का विषय इदन्ता से युक्त अर्थात् यह है—'यह' शब्द के प्रयोग पूर्वक उल्लिखित होता है और स्मरण का तत्ता से युक्त अर्थात् 'वह' है—'वह' शब्द के द्वारा निदिष्ट 15 होता है। तात्पर्य यह है कि धारणा का विषय तो वर्तमान कालीन है और स्मरण का विषय भूतकालीन है। अतः स्मरण अपने विषय मे उत्पन्न हुये अस्मरण आदि समारोपको दूर करने के कारण प्रमाण ही है—अप्रमाण नहीं। प्रमेयकमलमार्तण्ड मे भी कहा है—“विस्मरण, सशय और विपर्ययरूप समारोप है और उस समारोप को दूर करने 20 से यह स्मृति प्रमाण है।”

'स्मरण अनुभूत विषय मे प्रवृत्त होता है' इतने से यदि वह अप्रमाण हो तो अनुमान से जानी हुई अग्नि को जानने के लिये पीछे प्रवृत्त हुआ प्रत्यक्ष भी अप्रमाण ठहरेगा। अतः स्मरण किसी भी प्रकार अप्रमाण सिद्ध नहीं होता।

प्रत्यक्षादिककी तरह स्मृति अविसवादी है—विमंवाद रहित है, इसलिए भी वह प्रमाण है। क्योंकि स्मरण करके यथास्थान रक्खी हुई वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को स्मरण के विषय (पदार्थ) से विसवाद—भूल जाना या अन्यत्र प्रवृत्ति करना 5 नहीं होता। जहाँ विसवाद होना है वह प्रत्यक्षाभास की तरह स्मरणाभास है। उसे हम प्रमाण नहीं मानते। इस तरह स्मरण नामका पृथक् प्रमाण है, यह सिद्ध हुआ।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण और उसके भेदों का निरूपण—

अनुभव और स्मरणपूर्वक होने वाले जोड़रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान 10 कहते हैं। 'यह' का उल्लेख करने वाला ज्ञान अनुभव है और 'वह' का उल्लेखी ज्ञान स्मरण है। इन दोनों से पैदा होने वाला तथा पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में वर्तमान एकत्व, सादृश्य और वैनसप्य आदि को विषय करने वाला जो जोड़रूप ज्ञान होता है वह प्रत्यभिज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए। जैसे वही यह जिनदत्त है, गौ के समान 15 गवय (जङ्गली पशुविशेष) होता है, गाय से भिन्न भंसा होता है, इत्यादिक प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण हैं।

यहाँ पहले उदाहरण में, जिनदत्त की पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में रहने वाली एकता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। इसीको एकत्व-प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। दूसरे उदाहरण में, पहले अनुभव की हुई 20 गाय को लेकर गवय में रहने वाली सदृशता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। इस प्रकार के ज्ञान को सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं। तीसरे उदाहरण में, पहले अनुभव की हुई गाय को लेकर भंसा में रहने वाली विसदृशता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। इस तरह का ज्ञान वीत्तादृश्य-प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार और भी प्रत्यभिज्ञान के 25 भेद अपने अनुभव से स्वयं विचार लेना चाहिये। इन सभी प्रत्य-

भिन्नानों में अनुभव और स्मरण की अपेक्षा होने से उन्हें अनुभव और स्मरणहेतुक माना जाता है ।

किन्हीं का कहना है कि अनुभव और स्मरण से भिन्न प्रत्यभिज्ञान नहीं है । (क्योंकि पूर्व और उत्तर अवस्थाओं को विषय करने वाला एक ज्ञान नहीं हो सकता है । कारण, विषय भिन्न है । दूसरी 5 वात यह है कि 'वह' इस प्रकार से जो ज्ञान होता है वह तो परोक्ष है और 'यह' इस प्रकार से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है—इसलिये भी प्रत्यक्ष और परोक्षरूप एक ज्ञान नहीं हो सकता है, किन्तु वे अनुभव और स्मरणरूप दो ज्ञान हैं ।) यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अनुभव तो वर्तमानकालीन पर्याय को ही विषय करता 10 है और स्मरण भूतकालीन पर्याय का द्योतन करता है । इसलिये ये दोनों अतीत और वर्तमान पर्यायों में रहने वाली एकता, सदृशता आदि को कैसे विषय कर सकते हैं ? अर्थात्—नहीं कर सकते हैं । अतः स्मरण और अनुभव से भिन्न उनके बाद में होने वाला तथा उन एकता, सदृशता आदि को विषय करने वाला जो जोड़रूप ज्ञान 15 होता है वही प्रत्यभिज्ञान है ।

अन्य (दूसरे वंशोपिकादि) एकत्वप्रत्यभिज्ञान को स्वीकार करके भी उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव कल्पित करते हैं । वह इस प्रकार से है—जो इन्द्रियों के साथ अन्वय और व्यतिरेक रखता है वह प्रत्यक्ष है । अर्थात्—जो इन्द्रियों के होने पर होता है और उनके 20 अभाव में नहीं होता वह प्रत्यक्ष है, यह प्रसिद्ध है । और इन्द्रियों का अन्वय तथा व्यतिरेक रखने वाला यह प्रत्यभिज्ञान है, इस कारण वह प्रत्यक्ष है । उनका भी यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ वर्तमान पर्याय मात्र के विषय करने में ही उपक्षीण (चरितार्थ) हो जाने से वर्तमान और अतीत अवस्थाओं में रहने वाले 25

एकत्वको विषय नहीं कर सकती हैं। इन्द्रियो की अविषय में प्रवृत्ति मानना योग्य नहीं है। अन्यथा चक्षु के द्वारा रसादि का भी ज्ञान होने का प्रसङ्ग आवेगा।

शङ्का—यह ठीक है कि इन्द्रियां वर्तमान पर्याय मात्र को ही
 5 विषय करती हैं तथापि वे सहकारियों की सहायता से वर्तमान और
 अतीत अवस्थाओं में रहने वाले एकत्व में भी ज्ञान करा सकती हैं।
 जिस प्रकार अञ्जन के संस्कार से चक्षु व्यवधान प्राप्त (ढके हुए)
 पदार्थ को भी जान लेती है। यद्यपि चक्षु के व्यवहित पदार्थ को जानने
 की सामर्थ्य (शक्ति) नहीं है। परन्तु अञ्जन संस्कार की सहायता
 10 से वह उसमें देखी जाती है। उसी प्रकार स्मरण आदि की सहायता से
 इन्द्रियां ही दोनों अवस्थाओं में रहने वाले एकत्व को जान लेंगी। अतः
 उसको जानने के लिए एकत्वप्रत्यभिज्ञान नाम के प्रमाणान्तर की
 कल्पना करना अनावश्यक है ?

समाधान—यह कहना भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि हजार सह-
 15 कारियों के मिल जाने पर भी अविषय में—जिसका जो विषय नहीं है,
 उसकी उसमें—प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। चक्षु के अञ्जन संस्कार
 आदि सहायक उसके अपने विषय रूपादि में ही उसको प्रवृत्त करा
 सकते हैं, रसादिक विषय में नहीं। और इन्द्रियो का अविषय है पूर्व
 तथा उत्तर अवस्थाओं में रहने वाला एकत्व। अतः उसे जानने के लिये
 20 पृथक् प्रमाण मानना ही होगा। सभी जगह विषय-भेद के द्वारा ही
 प्रमाण के भेद स्वीकार किये गये हैं।

दूसरी बात यह है कि 'वही यह है' यह ज्ञान अस्पष्ट ही
 है—स्पष्ट नहीं है। इसलिए भी उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं
 हो सकता है। और यह निश्चय ही जानना चाहिये कि चक्षु
 25 आदिक इन्द्रियों में एकत्वज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है।

अन्यथा लिङ्गदर्शन (धूमादि का देखना) और व्याप्ति के स्मरण आदि की सहायता से चक्षुरादिक इन्द्रियाँ ही अग्नि आदिक लिङ्ग (साध्य) का ज्ञान उत्पन्न कर दें। इस तरह अनुमान भी पृथक् प्रमाण न हो। यदि कहा जाय, कि चक्षुरादिक इन्द्रियाँ तो अपने विषय धूमादि के देखने मात्र में ही चरितार्थ हो जाती हैं, वे अग्नि आदि परोक्ष 5 अर्थ में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं, अतः अग्नि आदि परोक्ष अर्थों का ज्ञान करने के लिये अनुमान प्रमाण को पृथक् मानना आवश्यक है, तो प्रत्यभिज्ञान ने क्या अपराध किया? एकत्व को विषय करने के लिए उसको भी पृथक् मानना जरूरी है। अतः प्रत्यभिज्ञान नामका पृथक् प्रमाण है, यह स्थिर हुआ।

10

‘सादृश्यप्रत्यभिज्ञान उपमान नाम का पृथक् प्रमाण है’ ऐसा किन्हीं (नैयायिक और मीमांसको) का कहना है। पर वह ठीक नहीं हैं; क्योंकि स्मरण और अनुभवपूर्वक जोड़रूप ज्ञान होने से उसमें प्रत्यभिज्ञानता (प्रत्यभिज्ञानपना) का उलघन नहीं होता—वह उसमें रहती है। अतः वह प्रत्यभिज्ञान ही है। अन्यथा (यदि सादृश्य- 15 विषयक ज्ञानको उपमान नाम का पृथक् प्रमाण माना जाय तो) ‘गाय से भिन्न भंसा है’ इत्यादि विसदृशता को विषय करने वाले वंसादृश्यज्ञान को और ‘यह इससे दूर है’ इत्यादि आपेक्षिक ज्ञान को भी पृथक् प्रमाण होना चाहिए। अतः जिस प्रकार वंसादृश्यादि-ज्ञानों में प्रत्यभिज्ञान का लक्षण पाया जाने से वे प्रत्यभिज्ञान हैं 20 उसी प्रकार सादृश्यविषयक ज्ञान में भी प्रत्यभिज्ञान का लक्षण पाया जाने से वह प्रत्यभिज्ञान ही है—उपमान नहीं। यही प्रामाणिक परम्परा है।

तर्क प्रमाण का निरूपण—

प्रत्यभिज्ञान प्रमाण हो। तर्क का क्या स्वरूप है? व्याप्ति के 25

- ज्ञानको तर्क कहते हैं। साध्य और साधन में गम्य और गमक (बोध्य और बोधक) भाव का साधक और व्यभिचार की गन्व में रहित जो सम्बन्धविशेष है उसे व्याप्ति कहते हैं। उसी को अविनाभाव भी कहते हैं। उस व्याप्ति के होने से श्रग्यादिक को धूमादिक ही
- 5 जनाते हैं, घटादिक नहीं। क्योंकि घटादिक की श्रग्यादिक के साथ व्याप्ति (अविनाभाव) नहीं है। इस अविनाभावरूप व्याप्ति के ज्ञान में जो साधकत्व है वह वह तर्क नाम का प्रमाण है। श्लोकवार्तिक साध्य में भी कहा है—“माध्य और साधन के सम्बन्धविषयक अज्ञान को दूर करने रूप फल में जो साधकत्व है वह तर्क है।” ‘उहा’ भी
- 10 तर्क का ही दूसरा नाम है। वह तर्क उक्त व्याप्तिको सर्वदेश और सर्वकाल की अपेक्षा में विषय करता है।

शङ्का—इस तर्क का उदाहरण क्या है ?

- समाधान—‘जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है’ यह तर्क का उदाहरण है। यहाँ धूम के होने पर अनेक बार
- 15 अग्नि की उपलब्धि और अग्नि के अभाव में धूम की अनुपलब्धि पाई जाने पर ‘सब जगह और सब काल में धुआँ अग्नि का व्यभिचारी नहीं है—अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के अभाव में नहीं होता’ इन प्रकार का जो सर्वदेश और सर्वकालरूप से अविनाभाव को ग्रहण करने वाला वाद में ज्ञान उत्पन्न होता है वह तर्क
- 20 नाम का प्रत्यक्षादिक से निम्न ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष निःसन्देह ही धूम और अग्नि के सम्बन्ध का ज्ञान कराता है, अतः वह व्याप्ति का ज्ञान नहीं करा सकता। कारण, व्याप्ति सर्वदेश और सर्वकाल को लेकर होती है।

- शङ्का—यद्यपि प्रत्यक्षनामान्य (साधारण प्रत्यक्ष) व्याप्ति को
- 25 विषय करने में समर्थ नहीं है तथापि विशेष प्रत्यक्ष उनको विषय

करने में समर्थ है ही। वह इस प्रकार से—रसोईशाला आदि में धूम और अग्नि को सबसे पहले देखा, यह एक प्रत्यक्ष हुआ। इसके बाद अनेको बार और कई प्रत्यक्ष हुये; पर वे सब प्रत्यक्ष व्याप्ति को विषय करने में समर्थ नहीं हैं। लेकिन पहले पहले के अनुभव किये धूम और अग्नि का स्मरण तथा तत्सजातीय के अनुसन्धानरूप 5 प्रत्यभिज्ञान से सहित होकर कोई प्रत्यक्ष-विशेष सर्वदेश-काल को भी लेकर होने वाली व्याप्ति को ग्रहण कर सकता है। और इसलिये स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञान से सहित प्रत्यक्ष-विशेष ही जब व्याप्ति को विषय करने में समर्थ है, तब तर्क नामके पृथक् प्रमाण के मानने की क्या आवश्यकता है ? 10

समाधान—ऐसा कथन उनकी न्याय-मार्ग की अनभिज्ञता को प्रकट करता है, क्योंकि 'हजार सहकारियों के मिल जाने पर भी अविषय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है' यह हम पहले कह आये हैं। इस कारण प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण बतलाना सङ्गत नहीं है। किन्तु यह सङ्गत प्रतीत होता है कि स्मरण, प्रत्यभिज्ञान 15 और अनेको बार का हुआ प्रत्यक्ष ये तीनों मिल कर एक वैसे ज्ञान को उत्पन्न करते हैं जो व्याप्ति के ग्रहण करने में समर्थ है और वही तर्क है। अनुमान आदि के द्वारा तो व्याप्ति का ग्रहण होना सम्भव ही नहीं है। तात्पर्य यह कि अनुमान से यदि व्याप्ति का ग्रहण माना जाय तो यहाँ दो विकल्प उठते हैं—जिस अनुमान की 20 व्याप्ति का ग्रहण करना है उसी अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण होता है या अन्य दूसरे अनुमान से ? पहले विकल्प में अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि व्याप्ति का ज्ञान जब हो जाय, तब अनुमान अपना स्वरूप लाभ करे और अनुमान जब स्वरूप लाभ कर ले, तब व्याप्तिका ज्ञान हो, इस तरह दोनों परस्परापेक्ष हैं। अन्य दूसरे अनुमान से 25

व्याप्ति का ज्ञान मानने पर अनवस्था दोष आता है, क्योंकि दूसरे अनुमान की व्याप्ति का ज्ञान अन्य तृतीय अनुमान से मानना होगा, तृतीय अनुमान की व्याप्ति का ज्ञान अन्य चौथे अनुमान से माना जायगा, इस तरह कही भी व्यवस्था न होने से अनवस्था नाम का 5 दोष प्रसक्त होता है। इसलिए अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है। और न आगमादिक प्रमाणों से भी सम्भव है, क्योंकि उन सबका विषय भिन्न भिन्न है। और विषयभेद से प्रमाणभेद की व्यवस्था होती है। अतः व्याप्ति को ग्रहण करने के लिए तर्क प्रमाण का मानना आवश्यक है।

- 10 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर जो विकल्प पैदा होता है वह व्याप्ति को ग्रहण करता है' ऐसा बौद्ध मानते हैं, उनसे हम पूछते हैं कि वह विकल्प अप्रमाण है अथवा प्रमाण? यदि अप्रमाण है, तो उसके द्वारा गृहीत व्याप्ति में प्रमाणता कैसे? और यदि प्रमाण है, तो वह प्रत्यक्ष है अथवा अनुमान? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता; क्योंकि 15 वह अस्पष्टज्ञान है और अनुमान भी नहीं हो सकता; कारण, उसमें लिङ्गदर्शन आदि की अपेक्षा नहीं होती। यदि इन दोनों से भिन्न ही कोई प्रमाण है, तो वही तो तर्क है। इस प्रकार तर्क नाम के प्रमाण का निर्णय हुआ।

अनुमान प्रमाण का निरूपण—

- 20 अब अनुमान का वर्णन करते हैं। साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। यहाँ 'अनुमान' यह लक्ष्य-निर्देश है और 'साधन से साध्य का ज्ञान होना' यह उसके लक्षण का कथन है। तात्पर्य यह कि साधन—धूमादि लिङ्ग से साध्य—अग्नि आदिक लिङ्गी में जो ज्ञान होता है वह अनुमान है। क्योंकि वह साध्य- 25 ज्ञान ही अग्नि आदि के अज्ञान को दूर करता है। साधनज्ञान अनुमान

नहीं है, क्योंकि वह तो साधन सम्बन्धी अज्ञान के ही दूर करने में चरितार्थ हो जाने से साध्य सम्बन्धी अज्ञान को दूर नहीं कर सकता है। अतः नैयायिकों ने अनुमान का जो लक्षण कहा है कि “लिङ्गज्ञान अनुमान है” वह सङ्गत नहीं है। हम तो स्मरण आदि की उत्पत्ति में अनुभव आदि की तरह व्याप्ति स्मरण से सहित लिङ्गज्ञान को 5 अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में कारण मानते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है—जिस प्रकार धारणा नाम का अनुभव स्मरण में कारण होता है, तात्कालिक अनुभव तथा स्मरण प्रत्यभिज्ञान में और साध्य तथा साधनविषयक स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनुभव तर्क में कारण होते हैं उसी प्रकार व्याप्तिस्मरण आदि से सहित होकर लिङ्गज्ञान 10 अनुमान की उत्पत्ति में कारण होता है—वह स्वयं अनुमान नहीं है। यह कथन सुसङ्गत ही है।

शङ्का—आपके मतमें—जैनदर्शनमें साधनको ही अनुमानमें कारण माना है, साधन के ज्ञान को नहीं, क्योंकि “साधन से साध्य के ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं।” ऐसा पहले कहा गया है ? 15

समाधान—नहीं, ‘साधन से’ इस पद का अर्थ ‘निश्चय पथ प्राप्त धूमादिक से’ यह विवक्षित है। क्योंकि जिस धूमादिक साधन का निश्चय नहीं हुआ है। अर्थात्—जिसे जाना नहीं है वह साधन ही नहीं हो सकता है। इसी बात को तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक में कहा है—“साधन से साध्य के ज्ञान होने को विद्वानों ने अनुमान कहा 20 है।” इस वार्त्तिक का अर्थ यह है कि साधन से—अर्थात् जाने हुए धूमादिक लिङ्ग से साध्य में अर्थात्—अग्नि आदिक लिङ्गी में जो ज्ञान होना है वह अनुमान है। क्योंकि जिस धूमादिक लिङ्ग को नहीं जाना है उसको साध्य के ज्ञान में कारण मानने पर सोये हुये अथवा जिन्होंने धूमादिक लिङ्ग को ग्रहण नहीं किया उनको भी 25

अग्नि आदि का ज्ञान हो जावेगा । इस कारण जाने हुये साधन से होने वाला साध्य का ज्ञान ही साध्यविषयक अज्ञान को दूर करने से अनुमान है, लिङ्गज्ञानादिक नहीं । ऐसा अकलङ्कादि प्रामाणिक विद्वान कहते हैं । तात्पर्य यह है कि ज्ञायमान साधन को अनुमान मे 5 कारण प्रतिपादन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन में साधन को अनुमान मे कारण नहीं माना, अपितु साधनज्ञान को ही कारण माना है ।

साधन का लक्षण—

वह साधन क्या है, जिससे होने वाले साध्य के ज्ञान को अनु-
10 मान कहा है ? अर्थात्—साधन क्या लक्षण है ? इसका उत्तर यह है—जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) निश्चित है उसे साधन कहते हैं । तात्पर्य यह कि जिसकी साध्य के अभाव मे नहीं होने रूप व्याप्ति, अविनाभाव आदि नामो वाली साध्यान्यथानुप-
पत्ति—साध्य के होने पर ही होना और साध्य के अभाव मे नहीं
15 होना—तर्क नाम के प्रमाण द्वारा निर्णोत है वह साधन है । श्री कुमार-
नन्दी भट्टारक ने भी कहा है—“अन्यथानुपपत्तिमात्र जिसका लक्षण है उसे लिङ्ग कहा गया है ।”

साध्य का लक्षण—

वह साध्य क्या है, जिसके अविनाभाव को साधन का लक्षण
20 प्रतिपादन किया है । ? अर्थात्—साध्य का क्या स्वरूप है ? सुनिये—
शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध को साध्य कहते हैं । शक्य वह है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधित न होने से सिद्ध किया जा सकता है । अभिप्रेत वह है जो वादी को सिद्ध करने के लिए अभिमत है—
इष्ट है । और अप्रसिद्ध वह है जो सन्देहादिक से युक्त होने से
25 अनिश्चित है, इस तरह जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है वही साध्य है ।

यदि अशक्य (बाधित) को साध्य माना जाय, तो अग्नि मे अनुष्णता (उष्णता का अभाव) आदि भी साध्य हो जायगी । अनभिप्रेत को साध्य माना जाय, तो अतिप्रसङ्ग नामका दोष आवेगा । तथा प्रसिद्ध को साध्य माना जाय, तो अनुमान व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि साध्य की सिद्धि के लिये अनुमान किया जाता है 5 और वह साध्य पहले से प्रसिद्ध है । अतः शक्यादिरूप ही साध्य है । न्यायविनिश्चय मे भी कहा है :—

साध्य शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्ध ततोऽपरम् ।

साध्याभास विरुद्धादि साधनाविषयत्वत ॥१७२॥

इसका अर्थ यह है कि जो शक्य है, अभिप्रेत है और अप्रसिद्ध 10 है वह साध्य है और जो इससे विपरीत है वह साध्याभास है । वह साध्याभास कौन है ? विरुद्धादिक हैं । प्रत्यक्षादि से बाधित को विरुद्ध कहते हैं । 'आदि' शब्द से अनभिप्रेत और प्रसिद्ध का ग्रहण करना चाहिए । ये तीनों साध्याभास क्यों हैं ? क्योंकि ये तीनों ही साधन के विषय नहीं हैं । अर्थात्—साधन के द्वारा ये 15 विषय नहीं किये जाते हैं । इस प्रकार यह अकलङ्कदेव के अभिप्राय का संक्षेप है । उनके सम्पूर्ण अभिप्राय को तो स्याद्वादविद्यापति श्री वादिराज जानते हैं । अर्थात्—अकलङ्कदेव की उक्त कारिका का विशद एवं विस्तृत व्याख्यान श्री वादिराज ने न्यायविनिश्चय के व्याख्यानभूत अपने न्यायविनिश्चयविवरण मे किया है । अतः 20 अकलङ्कदेव के पूरे आशय को तो वे ही जानते हैं । यहां सिर्फ उनके अभिप्राय के अशमात्र को दिया है । साधन और साध्य दोनों को लेकर श्लोकवार्त्तिक मे भी कहा है—“जिसका अन्यथानुपपत्तिसात्र लक्षण है, अर्थात्—जो न त्रिलक्षणरूप है और न पञ्चलक्षणरूप है, केवल अविनाभावविशिष्ट है वह साधन है । तथा जो शक्य है, अभिप्रेत है 25

और अप्रसिद्ध है उसे साध्य कहा गया है ।”

इस प्रकार अविनाभाव निश्चयरूप एक लक्षण वाले साधन से शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्धरूप साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, यह सिद्ध हुआ ।

- 5 वह अनुमान दो प्रकारका है—१ स्वार्थानुमान और २ परार्थानुमान । उनमें स्वयं ही जाने हुए साधन से साध्य के ज्ञान होने को स्वार्थानुमान कहते हैं । अर्थात्—दूसरे के उपदेश (प्रतिज्ञादिवाक्यप्रयोग) की अपेक्षा न करके स्वयं ही निश्चित किये और पहले तर्क प्रमाण से जाने गये तथा व्याप्ति के स्मरण से सहित
- 10 धूमादिक साधन से पर्वत आदिक धर्मों में अग्नि आदि साध्य का जो ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान है । जैसे—यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूम पाया जाता है । यद्यपि स्वार्थानुमान ज्ञानरूप है तथापि समझाने के लिये उसका यह शब्द द्वारा उल्लेख किया गया है । जैसे ‘यह घट है’ इस शब्द के द्वारा प्रत्यक्ष का उल्लेख किया
- 15 जाता है । ‘पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूम पाया जाता है’ इस प्रकार अनुमाता जानता है—अनुमिति करता है, इस तरह स्वार्थानुमान की स्थिति है । अर्थात्—स्वार्थानुमान इस प्रकार प्रवृत्त होता है, ऐसा समझना चाहिए ।

स्वार्थानुमान के अङ्गों का कथन—

- 20 इस स्वार्थानुमान के तीन अङ्ग हैं—१ धर्मों, २ साध्य और ३ साधन । साधन साध्य का गमक (जापक) होता है, इसलिए वह गमकरूप से अङ्ग है । साध्य साधन के द्वारा गम्य होता है—जाना जाता है, इसलिए वह गम्यरूप से अङ्ग है । और धर्मों साध्य-धर्म का आधार होता है, इसलिए वह साध्यधर्म के आधार
- 25 रूप से अङ्ग है । क्योंकि किसी आधारविशेष में साध्य की सिद्धि

करना अनुमान का प्रयोजन है। केवल धर्म की सिद्धि तो व्याप्ति-
निश्चय के समय में ही हो जाती है। कारण, जहाँ जहाँ धूम होता है
वहाँ वहाँ अग्नि होती है' इस प्रकार की व्याप्ति के ग्रहण समय में
साध्यधर्म—अग्नि ज्ञात हो ही जाती है। इसलिए केवल धर्म की
सिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन नहीं है। किन्तु 'पर्वत अग्नि- 5
वाला है' अथवा 'रसोईशाला अग्निवाली है' इस प्रकार 'पर्वत' या
'रसोईशाला' में वृत्तिरूप से अग्नि का ज्ञान अनुमान से ही होता है।
अतः आधारविशेष (पर्वतादिक) में रहने रूप से साध्य (अग्न्यादिक)
की सिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन है। इसलिए धर्मों भी
स्वार्थानुमान का अङ्ग है। 10

अथवा स्वार्थानुमान के दो अङ्ग हैं—१ पक्ष और २ हेतु।
क्योंकि साध्य-धर्म से युक्त धर्मों को पक्ष कहा गया है। इसलिए
पक्ष के कहने से धर्म और धर्मों दोनों का ग्रहण हो जाता है। इस
तरह स्वार्थानुमान के धर्मों, साध्य और साधन के भेद से तीन अङ्ग
अथवा पक्ष और साधन के भेद से दो अङ्ग हैं, यह सिद्ध हो गया। 15
यहाँ दोनों जगह विवक्षा का भेद है। जब स्वार्थानुमान के तीन
अङ्ग कथन किये जाते हैं तब धर्मों और धर्म के भेद की विवक्षा है
और जब दो अङ्ग कहे जाते हैं तब धर्मों और धर्म के समुदाय की
विवक्षा है। तात्पर्य यह कि स्वार्थानुमान के तीन या दो अङ्गों के
कहने में कुछ भी विरोध अथवा अर्थभेद नहीं है। केवल कथन का 20
भेद है। उपर्युक्त यह धर्मों प्रसिद्ध हो जाता है—अप्रसिद्ध नहीं।
इसी बात को दूसरे विद्वानों ने कहा है—“प्रसिद्धो धर्मो” अर्थात्—
धर्मों प्रसिद्ध होता है।

धर्मों की तीन प्रकार से प्रसिद्धि का निरूपण—

धर्मों की प्रसिद्धि कहीं तो प्रमाण से, कहीं विकल्प से और 25

- कहीं प्रमाण तथा विकल्प दोनों से होती है। प्रत्यक्षादिक प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण से धर्मों का निश्चय होना 'प्रमाणसिद्ध धर्मों' है। जिसकी प्रमाणता या अप्रमाणता का निश्चय नहीं हुआ है ऐसे ज्ञान से जहाँ धर्मों की सिद्धि होती है उसे 'विकल्पसिद्ध धर्मों' कहते हैं। और
- 5 जहाँ प्रमाण तथा विकल्प दोनों से धर्मों का निर्णय किया जाता है वह 'प्रमाणविकल्पसिद्ध धर्मों' है।

प्रमाणसिद्ध धर्मों का उदाहरण—'धूम से अग्नि की सिद्धि करने में पर्वत' है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष से जाना जाता है।

- विकल्पसिद्ध धर्मों का उदाहरण इस प्रकार है—'सर्वज्ञ है, 10 क्योंकि उसके सद्भाव के बाधक प्रमाणों का अभाव अच्छी तरह निश्चित है, अर्थात्—उसके अस्तित्व का कोई बाधक प्रमाण नहीं है।' यहाँ सद्भाव सिद्ध करने में 'सर्वज्ञ' रूप धर्मों विकल्पसिद्ध धर्मों हैं। अथवा 'खरविषाण नहीं है, क्योंकि उसको सिद्ध करने वाले प्रमाणों का अभाव निश्चित है' यहाँ अभाव सिद्ध करने में 'खरविषाण'
- 15 विकल्पसिद्ध धर्मों हैं। 'सर्वज्ञ' सद्भाव सिद्ध करने के पहले प्रत्यक्षादिक किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, किन्तु केवल प्रतीति (कल्पना) से सिद्ध है, इसलिए वह विकल्पसिद्ध धर्मों हैं। इसी प्रकार 'खरविषाण' असद्भाव सिद्ध करने के पहले केवल कल्पना से सिद्ध है, अतः वह भी विकल्पसिद्ध धर्मों हैं।

- 20 उभयसिद्ध धर्मों का उदाहरण—'शब्द परिणमनशील है, क्योंकि वह किया जाता है—तालु आदि की क्रिया से उत्पन्न होता है।' यहाँ शब्द हैं। कारण, वर्तमान शब्द तो प्रत्यक्ष से जाने जाते हैं, परन्तु भूतकालीन और भविष्यत्कालीन शब्द केवल प्रतीति से सिद्ध हैं और वे समस्त शब्द यहाँ धर्मों हैं, इसलिए 'शब्द' रूप धर्मों प्रमाण
- 25 तथा विकल्प दोनों से सिद्ध अर्थात्—उभयसिद्ध धर्मों हैं। प्रमाण-

सिद्ध और उभयसिद्ध धर्मों में साध्य यथेच्छ होता है—उसमें कोई नियम नहीं होता । किन्तु विकल्पसिद्ध धर्मों में सद्भाव और असद्भाव ही साध्य होते हैं, ऐसा नियम है । कहा भी है—“विकल्पसिद्ध धर्मों में सत्ता और असत्ता ये दो ही साध्य होते हैं ।” इस प्रकार दूसरे के उपदेश की अपेक्षा से रहित स्वयं जाने गये साधन से पक्ष में रहने रूप से 5 साध्य का जो ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान है, यह बृढ़ हो गया । कहा भी है—“परोपदेश के बिना भी दृष्टा को साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं ।”

परार्थानुमान का निरूपण—

दूसरे के उपदेश की अपेक्षा लेकर जो साधन से साध्य का ज्ञान 10 होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं । तात्पर्य यह कि प्रतिज्ञा और हेतु-रूप परोपदेश की सहायता से श्रोता को जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है । जैसे—‘यह पर्वत अग्निवाला होने के योग्य है, क्योंकि धूम वाला है ।’ ऐसा किसी के वाक्य-प्रयोग करने पर उस वाक्य के अर्थ का विचार और पहले ग्रहण की हुई व्याप्ति का 15 स्मरण करने वाले श्रोता को अनुमान ज्ञान होता है । और ऐसे अनुमान ज्ञान का ही नाम परार्थानुमान है ।

‘परोपदेश वाक्य ही परार्थानुमान है । अर्थात् जिस प्रतिज्ञादि पञ्चावयवरूप वाक्य से सुनने वाले को अनुमान होता है वह वाक्य ही परार्थानुमान है ।’ ऐसा किन्हीं (नैयायिकों) का कहना है । पर उनका 20 यह कहना ठीक नहीं है । हम उनसे पूछते हैं कि वह वाक्य मुख्य अनुमान है अथवा गौण अनुमान ? मुख्य अनुमान तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि वाक्य अज्ञानरूप है । यदि वह गौण अनुमान है, तो उसे हम मानते हैं, क्योंकि परार्थानुमान ज्ञान के कारण—परार्थानुमान वाक्य में परार्थानुमान का व्यपदेश हो सकता है । जैसे—‘घो आया 25

हैं' इत्यादि व्यपदेश होता है। तात्पर्य यह कि परार्थानुमान वाक्य परार्थानुमान ज्ञान के उत्पन्न करने में कारण होता है, अतः उसको उपचार से परार्थानुमान माना गया है।

परार्थानुमान की अङ्गसम्पत्ति और उसके अवयवों का

5 प्रतिपादन—

- इस परार्थानुमान के अङ्गों का कथन स्वार्थानुमान की तरह जानना चाहिए। अर्थात्—उसके भी धर्मों, साध्य और साधन के भेद से तीन अथवा पक्ष और हेतु के भेद से दो अङ्ग हैं। और परार्थानुमान में कारणीभूत वाक्य के दो अवयव हैं—१ प्रतिज्ञा और
- 10 २ हेतु। धर्म और धर्मों के समुदाय रूप पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—'यह पर्वत अग्नि वाला है।' साध्य के अविनाभावी साधन के बोलने को हेतु कहते हैं। जैसे—'धूम वाला अन्यथा हो नहीं सकता' अथवा 'अग्नि के होने से ही धूम वाला है।' इन दोनों हेतु-प्रयोगों में केवल कथन का भेद है। पहले हेतु-प्रयोग में तो
- 15 'धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता' इस तरह निषेधरूप से कथन किया है और दूसरे हेतु-प्रयोग में 'अग्नि के होने पर ही धूम होता है' इस तरह सङ्गावरूप से प्रतिपादन किया है। अर्थ में भेद नहीं है। दोनों ही जगह अविनाभावी साधन का कथन समान है। इसलिए उन दोनों हेतुप्रयोगों में से किसी एक को ही बोलना चाहिए।
- 20 दोनों के प्रयोग करने में पुनरुक्ति आती है। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रतिज्ञा और इन दोनों हेतु-प्रयोगों में से कोई एक हेतु-प्रयोग, ये दो ही परार्थानुमान वाक्य के अवयव हैं—अङ्ग हैं; क्योंकि व्युत्पन्न (समझदार) श्रोता को प्रतिज्ञा और हेतु इन दो से ही अनुमिति—अनुमान ज्ञान हो जाता है।

25 नैयायिकाभिमत पाँच अवयवों का निराकरण—

नैयायिक परार्थानुमान वाक्य के उपर्युक्त प्रतिज्ञा और हेतु

इन दो अवयवों के साथ उदाहरण, उपनय तथा निगमन इस तरह पाँच अवयव कहते हैं। जैसा कि वे सूत्र द्वारा प्रकट करते हैं :—

“प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमानान्यवयवाः” [न्यायसू० १।१।२२]

अर्थात्—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव हैं। उनके वे लक्षणपूर्वक उदाहरण भी देते हैं—पक्ष के प्रयोग करने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—यह पर्वत अग्नि वाला है। साधनता (साधनपना) बतलाने के लिए पञ्चमी विभक्ति रूप से लिङ्ग के कहने को हेतु कहते हैं। जैसे—क्योंकि धूमवाला है। व्याप्ति को दिखलाते हुए दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं। जैसे—जो जो धूमवाला है वह वह अग्निवाला है। जैसे—रसोई का घर। यह साधर्म्य उदाहरण है। जो जो अग्निवाला नहीं होता वह वह धूमवाला नहीं होता। जैसे—तालाब। यह वैधर्म्य उदाहरण है। उदाहरण के पहले भेद में हेतु की अन्वयव्याप्ति (साध्य की मौजूदगी में साधन की मौजूदगी) दिखाई जाती है और दूसरे भेद में व्यतिरेक-व्याप्ति (साध्य की गैर मौजूदगी में साधन की गैर मौजूदगी) बतलाई जाती है। जहाँ अन्वयव्याप्ति प्रदर्शित की जाती है उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं और जहाँ व्यतिरेकव्याप्ति दिखाई जाती है उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। इस प्रकार दृष्टान्त के दो भेद होने से दृष्टान्त के कहने रूप उदाहरण के भी दो भेद जानना चाहिए। इन दोनों उदाहरणों में से किसी एक का ही प्रयोग करना पर्याप्त (काफी) है, अन्य दूसरे का प्रयोग करना अनावश्यक है। दृष्टान्त की अपेक्षा लेकर पक्ष में हेतु के दोहराने को उपनय कहते हैं। जैसे—इसीलिए यह पर्वत धूमवाला है। हेतुपुरस्सर पक्ष के कहने को निगमन कहते हैं। जैसे—धूमवाला होने से यह अग्निवाला है। ये पाँचो अवयव परार्थानुमान प्रयोग के हैं। इनमें से कोई भी एक न हो तो

वीतराग कथा मे और विजिगीषुकथा मे अनुमिति उत्पन्न नहीं होती, ऐमा नैयायिको का मानना है ।

पर उनका यह मानना अविचारपूर्ण है; क्योंकि वीतरागकथा में शिष्यो के अभिप्राय को लेकर अधिक भी अवयव बोले जा सकते हैं ।
 5 परन्तु विजिगीषुकथा मे प्रतिज्ञा और हेतुरूप दो ही अवयव बोलना पर्याप्त है, अन्य अवयवो का बोलना वहाँ अनावश्यक है । इसका खुलासा इस प्रकार है—

वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए जीत-हार होने तक जो परस्पर (आपस) मे वचनप्रवृत्ति (चर्चा) होती है वह विजिगीषुकथा कहलाती है । और गुरु तथा शिष्यो मे
 10 अथवा रागद्वेष रहित विशेष विद्वानो मे तत्त्व (वस्तुस्वरूप) के निर्णय होने तक जो आपस मे चर्चा की जाती है वह वीतरागकथा है । इनमे विजिगीषुकथा को वाद कहते हैं । कोई (नैयायिक) वीत-रागकथा को भी वाद कहते हैं । पर वह स्वग्रहमान्य ही है, क्योंकि
 15 लोक मे गुरु-शिष्य आदि की सौम्यचर्चा को वाद (शास्त्रार्थ) नहीं कहा जाता । हाँ, हार-जीत की चर्चा को अवश्य वाद कहा जाता है । जैसे स्वामी समन्तभद्राचार्य ने सभी एकान्तवादियों को वाद मे जीत लिया । अर्थात्—विजिगीषुकथा मे उन्हें विजित कर लिया । और उस वाद मे परार्थानुमान वाक्य के प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही
 20 अवयव कार्यकारी हैं, उदाहरणादिक नहीं । इसका भी स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सबसे पहले लिङ्गवचनरूप हेतु अवश्य होना चाहिये, क्योंकि लिङ्ग का ज्ञान न हो, तो अनुमिति ही उत्पन्न नहीं हो सकती है । इसी प्रकार पक्ष-वचनरूप प्रतिज्ञा का भी होना आवश्यक है । नहीं तो, अपने इष्ट साध्य का किसी आधारविशेष मे निश्चय नहीं
 25 होने पर साध्य के सन्देह वाले श्रोता को अनुमिति पैदा नहीं हो

सकती। कहा भी है—“एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्” [परीक्षा० ३-३७]
 इसका अर्थ यह है कि प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान अर्थात्
 परार्थानुमान के अङ्ग (अवयव) हैं। यहाँ सूत्र में ‘वादे’ शब्द को और
 जोड़ लेना चाहिए। जिसका तात्पर्य यह है कि विजिगीषुकथा में
 परार्थानुमान के प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अङ्ग हैं। यहाँ सूत्र में 5
 अवधारणार्थक एवकार शब्द के प्रयोग द्वारा उदाहरणादिक का व्यव-
 च्छेद किया गया है। अर्थात् उदाहरण आदिक परार्थानुमान के अवयव
 नहीं हैं, यह प्रकट किया गया है। क्योंकि वाद (शास्त्रार्थ) का अधि-
 कार व्युत्पन्न को ही है और व्युत्पन्न केवल प्रतिज्ञा तथा हेतु के प्रयोग
 से ही जाने जानेवाले उदाहरण आदि के प्रतिपाद्य अर्थ को जानने में 10
 समर्थ है। उसको जानने के लिए उदाहरणादिक की आवश्यकता नहीं
 है। यदि गम्यमान (जाना जानेवाले) अर्थ का भी पुनः कथन किया
 जाये, तो पुनरुक्तता का प्रसङ्ग आता है। तात्पर्य यह कि प्रतिज्ञा और
 हेतु के द्वारा जान लेने पर भी उस अर्थ के कथन के लिए उदाहरणादिक
 का प्रयोग करना पुनरुक्त है। अतः उदाहरणादिक परार्थानुमान 15
 के अङ्ग नहीं हैं।

शङ्का—यदि ऐसा है तो प्रतिज्ञा के कहने में भी पुनरुक्तता आती
 है; क्योंकि प्रतिज्ञा द्वारा कहा जाने वाला पक्ष भी प्रकरण, व्याप्ति-
 प्रदर्शन आदि के द्वारा ज्ञात हो जाता है। इसलिए लिङ्गवचनरूप एक
 हेतु का ही विजिगीषुकथा में प्रयोग करना चाहिये। 20

समाधान—बौद्धों का यह कथन ठीक नहीं है। इस प्रकार
 कहकर वे अपनी जड़ता को प्रकट करते हैं; क्योंकि केवल हेतु के
 प्रयोग करने पर व्युत्पन्न को भी साध्य के सन्देह की निवृत्ति नहीं हो
 सकती है। इस कारण प्रतिज्ञा का प्रयोग अवश्य करना चाहिए।
 कहा भी है—“साध्य (साध्यधर्म के आधार) का सन्देह दूर करने के 25

लिए प्रकरण आदि के द्वारा जाना गया भी पक्ष बोलना चाहिए-१”
 इस प्रकार वाद की अपेक्षा से परार्थानुमान के प्रतिज्ञा और हेतुरूप
 दो ही अवयव हैं, न कम हैं और न अधिक, यह सिद्ध हुआ। इस तरह
 अवयवों का यह संक्षेप में विचार किया, विस्तार से पत्रपरीक्षा से
 5 जानना चाहिए।

वीतरागकथा में अधिक अवयवों के बोले जाने के औचित्य का
 समर्थन—

वीतरागकथा में तो शिष्यों के आशयानुसार प्रतिज्ञा और हेतु ये
 दो भी अवयव हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण ये तीन भी हैं। प्रतिज्ञा
 10 हेतु, उदाहरण और उपनय ये चार भी हैं तथा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण,
 उपनय और निगमन ये पांच भी हैं। इस तरह यथायोग रूप से
 प्रयोगों की यह व्यवस्था है। इसी बात को श्रीकुमारनन्दि भट्टारक ने
 कहा है कि प्रयोगों के बोलने की व्यवस्था प्रतिपाद्यों के अभिप्रायानुसार
 करनी चाहिये—जो जितने अवयवों से समझ सके उसे उतने अवयवों
 15 का प्रयोग करना चाहिये।”

इस प्रकार प्रतिज्ञा आदिरूप परोपदेश से उत्पन्न हुआ ज्ञान
 परार्थानुमान कहलाता है। कहा भी है—“जो दूसरे के प्रतिज्ञादिरूप
 उपदेश की अपेक्षा लेकर श्रोता को साधन से साध्य का ज्ञान होता है
 वह परार्थानुमान माना गया है।”

20 इस तरह अनुमान के स्वार्थ और परार्थ ये दो भेद हैं और ये
 दोनों ही अनुमान साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित है ऐसे
 हेतु से उत्पन्न होते हैं।

बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु का निराकरण—

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह प्रसिद्ध हो जाता है कि
 25 अन्यथानुपपत्ति विशिष्ट हेतु अनुमिति में कारण है। तथापि इस-

का विचार न करके दूसरे (बौद्धादिक) अन्य प्रकार भी हेतु का लक्षण कहते हैं । उनमें बौद्ध पक्षधर्मत्व आदिक तीन लक्षण-वाले हेतु से अनुमान की उत्पत्ति वर्णित करते हैं । वह इस प्रकार से है—पक्ष-धर्मत्व, सपक्ष-सत्त्व और विपक्ष-व्यावृत्ति ये तीन हेतु के रूप (लक्षण) हैं । उनमें साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मों को पक्ष कहते 5 हैं । जैसे अग्नि के अनुमान करने में पर्वत पक्ष होता है । उस पक्ष में व्याप्त होकर हेतुका रहना पक्षधर्मत्व है । अर्थात्—हेतु का पहला रूप यह है कि उसे पक्ष में रहना चाहिये । साध्य के समान धर्म-वाले धर्मों को सपक्ष कहते हैं । जैसे अग्नि के अनुमान करने में ही महानस (रसोई का घर) सपक्ष होता है । उस सपक्ष में सब 10 जगह अथवा एक जगह हेतु का रहना सपक्ष-सत्त्व है । यह हेतु का दूसरा रूप है । साध्य से विरोधी धर्म वाले धर्मों को विपक्ष कहते हैं । जैसे अग्नि के अनुमान करने में ही तालाव विपक्ष है । उन सभी विपक्षों से हेतु का व्यावृत्त होना अर्थात् उनमें नहीं रहना विपक्ष-व्यावृत्ति है । यह हेतु का तीसरा रूप है । ये तीनों रूप मिल कर 15 हेतु का लक्षण है । यदि इनमें से कोई एक भी न हो तो वह हेत्वाभास है—असम्यग् हेतु है ।

उनका यह वर्णन सङ्गत नहीं है; क्योंकि पक्ष-धर्मत्व के बिना भी कृत्तिकोदयादिक हेतु शकटोदयादि साध्य के ज्ञापक देखे जाते हैं । वह इस प्रकार से—‘शकट नक्षत्र का एक मुहूर्त के बाद उदय होगा, 20 क्योंकि इस समय कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है ।’ इस अनुमान में ‘शकट नक्षत्र’ धर्मों (पक्ष) है, ‘एक मुहूर्त के बाद उदय’ साध्य है और ‘कृत्तिका नक्षत्र का उदय’ हेतु है । किन्तु ‘कृत्तिका नक्षत्र का उदय’ रूप हेतु पक्षभूत ‘शकट’ नक्षत्र में नहीं रहता, इसलिए वह पक्षधर्म नहीं है । अर्थात्—‘कृत्तिका नक्षत्र का उदय’ रूप हेतु पक्षधर्म से 25

रहित है। फिर भी वह अन्यथानुपपत्ति के होने से (कृत्तिका के उदय हो जाने पर ही शकट का उदय होता है और कृत्तिका के उदय न होने पर शकट का उदय नहीं होता है) शकट के उदयरूप साध्य का ज्ञान कराता ही है। अतः बौद्धों के द्वारा माना गया हेतु का त्रैरूप्य 5 लक्षण अव्याप्ति दोष सहित है।

नैयायिकसम्मत पांचरूप्य हेतु का कथन और उसका निराकरण—

नैयायिक पांचरूपता को हेतु का लक्षण कहते हैं। वह इस तरह से है—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और 10 असत्प्रतिपक्षत्व ये पांच रूप हैं। उनमें प्रथम के तीन रूपों के लक्षण कहे जा चुके हैं। शेष दो के लक्षण यहाँ कहे जाते हैं। साध्य के अभाव को निश्चय कराने वाले बलिष्ठ प्रमाणों का न होना अबाधित-विषयत्व है और साध्य के अभाव को निश्चय कराने वाले समान बल के प्रमाणों का न होना असत्प्रतिपक्षत्व है। इन सबको उदाहरण द्वारा 15 इस प्रकार समझिये—यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला है, जो जो धूम वाला होता है वह वह अग्निवाला होता है, जैसे—रसोईघर, जो जो अग्निवाला नहीं होता, वह वह धूमवाला नहीं होता, जैसे—तालाब, चूँकि यह धूमवाला है, इसलिए अग्निवाला जरूर ही है। इस पांच अवयवरूप अनुमान प्रयोग में अग्निरूप जाध्यधर्म से युक्त 20 पर्वतरूप धर्मों पक्ष है, 'धूम' हेतु है। उसके पक्षधर्मता है, क्योंकि वह पक्षभूत पर्वत में रहता है। सपक्षसत्त्व भी है, क्योंकि सपक्षभूत रसोईघर में रहता है।

शङ्का—किन्हीं सपक्षों में धूम नहीं रहता है, क्योंकि अज्ञार-रूप अग्निवाले स्थानों में धुआँ नहीं होता। अतः सपक्षसत्त्व हेतु का 25 रूप नहीं है।

समाधान—नहीं; सपक्ष के एक देश में रहने वाला भी हेतु है ।
 क्योंकि पहले कह आये हैं कि 'सपक्ष में सब जगह अथवा एक
 जगह हेतु का रहना सपक्षसत्त्व है ।' इसलिए अङ्गाररूप अग्नि-
 वाले स्थानों में धूम के न रहने पर भी रसोई घर आदि सपक्षों में
 रहने से उसके सपक्षसत्त्व रहता ही है । विपक्षव्यावृत्ति भी उसके 5
 है, क्योंकि धूम तालाव आदि सभी विपक्षों से व्यावृत्त है—वह
 उनमें नहीं रहता है । अबाधितविषयत्व भी है, क्योंकि धूमहेतु का
 जो अग्निरूप साध्य विषय है वह प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से बाधित
 नहीं है । असत्प्रतिपक्षत्व भी है, क्योंकि अग्नि के अभाव का साधक
 तुल्य बल वाला कोई प्रमाण नहीं है । इस प्रकार पाँचों रूपों का 10
 सद्भाव ही धूम हेतु के अपने साध्य की सिद्धि करने में प्रयोजक
 (कारण) है । इसी तरह सभी सम्यक् हेतुओं में पाँचों रूपों का सद्भाव
 समझना चाहिए ।

इनमें से किसी एक रूप के न होने से ही असिद्ध, विरुद्ध, अन-
 कान्तिक, कालात्पयापदिष्ट और प्रकरणसम नाम के पाँच हेत्वाभास 15
 आपन्न होते हैं । इसका खुलासा इस प्रकार है—

१ पक्ष में जिसका रहना अनिश्चित हो वह असिद्ध हेत्वाभास
 है । जैसे—'शब्द अनित्य (नाशवान्) है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से
 जाना जाता है ।' यहाँ 'चक्षु इन्द्रिय से जाना जाना' हेतु पक्षभूत
 शब्द में नहीं रहता है । कारण, शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से जाना जाता है । 20
 इसलिए पक्षधर्मत्व के न होने से 'चक्षु इन्द्रिय से जाना जाना' हेतु
 असिद्ध हेत्वाभास है ।

२ साध्य से विपरीत—साध्याभाव के साथ जिस हेतु की व्याप्ति
 हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है । जैसे—'शब्द नित्य है, क्योंकि वह
 कृतक है—किया जाता है' यहाँ 'किया जाना' रूप हेतु अपने साध्यभूत 25

नित्यत्व से विपरीत अनित्यत्व के साथ रहता है और सपक्ष आकाशादि में नहीं रहता । अतः विरुद्ध हेत्वाभास है ।

३. जो हेतु व्यभिचार सहित (व्यभिचारी) हो—साध्य के अभाव में भी रहता हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है । जैसे—‘शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है’ यहाँ ‘प्रमेयत्व’—प्रमेयपना हेतु अपने साध्य—
5 अनित्यत्व का व्यभिचारी है । कारण, आकाशादिक विपक्ष में नित्यत्व के साथ भी वह रहता है । अतः विपक्ष से व्यावृत्ति न होने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

४ जिस हेतुका विषय—साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित हो वह
10 कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है । जैसे—‘अग्नि ठण्डी है, क्योंकि वह पदार्थ है’ यहाँ ‘पदार्थत्व’ हेतु अपने विषय ‘ठण्डापन’ में, जो कि अग्नि की गर्मी को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से बाधित है, प्रवृत्त है । अतः अबाधित विषयता न होने के कारण ‘पदार्थत्व’ हेतु कालात्ययापदिष्ट है ।

५. विरोधी साधन जिसका मौजूद हो वह हेतु प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है । जैसे—‘शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्यधर्मरहित है’ यहाँ ‘नित्यधर्मरहितत्व’ हेतु का प्रतिपक्षी साधन मौजूद है । वह प्रतिपक्षी साधन कौन है ? ‘शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्य के धर्मों से रहित है’ इस प्रकार नित्यता का साधन करना,
20 उसका प्रतिपक्षी साधन है । अतः असत्प्रतिपक्षता के न होने से ‘नित्य-धर्मरहितत्व’ हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास है ।

इस कारण पाँचरूपता हेतु का लक्षण है । उनमें से किसी एक के न होने पर हेतुके हेत्वाभास होने का प्रसङ्ग आयेगा, यह ठीक ही कहा गया है । क्योंकि जो ‘हेतु के लक्षण से रहित हो और हेतु के
25 समान प्रतीत होते हो वे हेत्वाभास हैं । पाँच रूपों में से किसी एक के

न होने से हेतुलक्षण से रहित है और कुछ रूपों के होने से हेतु के समान प्रतीत होते हैं ऐसा वचन है ।

नैयायिकों के द्वारा माना गया हेतु का यह पाँचरूपता लक्षण भी युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि पक्षधर्म से शून्य भी कृत्तिका का उदय शकट के उदयरूप साध्य का हेतु देखा जाता है । अतः पाँचरूपता 5
अव्याप्ति दोष से सहित है ।

दूसरी बात यह है, कि नैयायिकों ने ही केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन दोनों हेतुओं को पाँचरूपता के बिना भी गमक (ज्ञापक) स्वीकार किया है । वह इस प्रकार से है—उन्होंने हेतु के तीन भेद माने हैं—१ अन्वयव्यतिरेकी, २ केवलान्वयी और 10
३ केवलव्यतिरेकी ।

१. उनमें जो पाँच रूपों से सहित है वह अन्वयव्यतिरेकी है । जैसे—‘शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है—किया जाता है, जो जो किया जाता है वह वह अनित्य है, जैसे घड़ा, जो जो अनित्य नहीं होता वह वह किया नहीं जाता, जैसे—आकाश, और किया जाता है यह शब्द, 15
इसलिए अनित्य ही है ।’ यहाँ शब्द को पक्ष करके उसमें अनित्यता सिद्ध की जा रही है । अनित्यता के सिद्ध करने में ‘किया जाना’ हेतु है । वह पक्षभूत शब्द का धर्म है । अतः उसके पक्षधर्मत्व है । सपक्ष घटादिकों में रहने और विपक्ष आकाशादिक में न रहने से सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति भी है । हेतु का विषय साध्य (अनित्यत्व) 20
किसी प्रमाण से बाधित न होने से अबाधितविषयत्व और प्रतिपक्षी साधन न होने से असत्प्रतिपक्षत्व भी विद्यमान है । इस तरह ‘किया जाना’ हेतु पाँचों रूपों से विशिष्ट होने के कारण अन्वयव्यतिरेकी है ।

२. जो पक्ष और सपक्ष में रहता है तथा विपक्ष से रहित है वह 25

केवलान्वयी है। जैसे—‘श्रद्धा (पुण्य-पाप) आदिक किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं। जो जो अनुमान से जाने जाते हैं वे किसी के प्रत्यक्ष हैं, जैसे—अग्नि आदि।’ यहाँ ‘श्रद्धा आदिक’ पक्ष है, ‘किसी के प्रत्यक्ष’ साध्य है, ‘अनुमान से जाना’ हेतु है, ‘अग्नि आदि’ अन्वय दृष्टान्त है। ‘अनुमान से जाना’ हेतु पक्ष बनाये गये ‘श्रद्धा आदिक’ में रहता है और सपक्ष किये ‘अग्नि आदि’ में रहता है। अतः पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व है। तथा विपक्ष यहाँ कोई है नहीं, क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और सपक्ष के भीतर आ लिए हैं। इस कारण विपक्षव्यावृत्ति है ही नहीं। कारण, व्यावृत्ति अवधि (सीमा) को लेकर होती है और व्यावृत्ति की अवधि विपक्ष है, वह यहाँ है नहीं। बाकी कथन अन्वयव्यतिरेकी की तरह समझना चाहिए।

३ जो पक्ष में रहता है, विपक्ष में नहीं रहता और सपक्ष से रहित है वह हेतु केवलव्यतिरेकी है। जैसे—‘जिन्दा शरीर जीव-सहित होना चाहिए, क्योंकि वह प्राणादि वाला है। जो जीव सहित नहीं होता वह वह प्राणादि वाला नहीं होता, जैसे—लोष्ठ (मिट्टी का डेला)।’ यहाँ ‘जिन्दा शरीर’ पक्ष है, ‘जीवसहितत्व’ साध्य है, ‘प्राणादि’ हेतु है और ‘लोष्ठादिक’ व्यतिरेकदृष्टान्त है। ‘प्राणादि’ हेतु पक्षभूत ‘जिन्दा शरीर’ में रहता है और विपक्ष-लोष्ठादिकसे व्यावृत्त है—वहाँ वह नहीं रहता है। तथा सपक्ष यहाँ है नहीं, क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और विपक्षके अन्तर्गत हो गये। बाकी कथन पहले की तरह जानना चाहिये।

इस तरह इन तीनों हेतुओं में अन्वयव्यतिरेकी हेतु के ही पांचरूपता है। केवलान्वयी हेतु के विपक्षव्यावृत्ति नहीं है और केवलव्यतिरेकीके सपक्षसत्त्व नहीं है। अतः नैयायिकोंके मतानु-

सार ही पाँचरूप्य हेतुका लक्षण अव्याप्त है। पर अन्यथानुपपत्ति सभी (केवलान्वयी आदि) हेतुओं में व्याप्त है—रहती है। इसलिये उसे ही हेतुका लक्षण मानना ठीक है। कारण उसके बिना हेतु अपने साध्यका गमक (ज्ञापक) नहीं हो सकता है।

जो यह कहा गया था कि 'असिद्ध आदिक पाँच हेत्वाभासोंके 5 निवारण करनेके लिये पाँच रूप हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि अन्यथानुपपत्ति विशिष्टरूपसे निश्चितपना ही, जो हमने हेतुलक्षण माना है, उन असिद्धादिक हेत्वाभासोंका निराकरण करनेवाला सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि केवल एक अन्यथानुपपत्तिको ही हेतु का लक्षण मानने से असिद्धादिक सभी दोषों का वारण हो जाता है। 10 वह इस प्रकार से है :—

जो साध्य का अविनाभावी है—साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के बिना नहीं होता तथा निश्चयपथ को प्राप्त है अर्थात् जिसका ज्ञान हो चुका है वह हेतु है, क्योंकि "जिसका साध्यके साथ अविनाभाव निश्चित है वह हेतु है" ऐसा वचन 15 है और यह अविनाभाव असिद्धके नहीं है। शब्दकी अनित्यता सिद्ध करने के लिये जो 'चक्षु इन्द्रियका विषय' हेतु बोला जाता है वह शब्द का स्वरूप ही नहीं है। अर्थात् शब्दमें चक्षु इन्द्रिय की विषयता ही नहीं है तब उसमें अन्यथानुपपत्तिविशिष्टरूपसे निश्चयपथप्राप्ति अर्थात्—अविनाभावका निश्चय कैसे हो सकता है? 20 अर्थात्—नहीं हो सकता है। अतः साध्य के साथ अविनाभाव का निश्चय न होने से ही 'चक्षु इन्द्रिय का विषय' हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, न कि पक्षाघर्षता के अभाव होने से। कारण, पक्षाघर्षता के बिना भी कृत्तिकोदयादि हेतुओं को उक्त अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुलक्षण के रहने से ही सद्धेतु—सम्बन्ध हेतु कहा गया है। और 25

विरुद्धादिक हेत्वाभासो मे अन्यथानुपपत्ति का अभाव प्रकट ही है । क्योंकि स्पष्ट ही विरुद्ध, व्यभिचारी, बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष के अविनाभाव का निश्चय नहीं है । इसलिए जिस हेतु के अन्यथानुप-
पन्नत्व का योग्य देश मे निश्चय है वही सम्यक् हेतु है उससे भिन्न
5 हेत्वाभास है, यह सिद्ध हो गया ।

दूसरे, 'गर्भ में स्थित मंत्री का पुत्र श्याम (काला) होना चाहिए, क्योंकि वह मंत्री का पुत्र है, अन्य मौजूद मंत्री के पुत्रों की तरह ।' यहाँ हेत्वाभास के स्थान मे भी बौद्धों के त्रैरूप्य और नैया-
यिकों के पाञ्चरूप्य हेतुलक्षण की प्रतिव्याप्ति है, इसलिए त्रैरूप्य
10 और पाञ्चरूप्य हेतु का लक्षण नहीं है । इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है :—

मंत्री के मौजूद पाँच पुत्रों मे कालेपन को देखकर मंत्री के गर्भस्थ पुत्र को भी—जो कि विवादग्रस्त है, पक्ष करके उसमे कालेपन को सिद्ध करने के लिए जो 'मंत्री का पुत्रपना' हेतु प्रयुक्त किया जाता
15 है वह हेत्वाभास है—सम्यक् हेतु नहीं है, यह प्रसिद्ध ही है । क्योंकि उसमे गोरेपन की भी सम्भावना की जा सकती है । और वह सम्भावना 'कालेपन' के साथ 'मंत्री का पुत्रपना' की अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) न होने से होती है । अन्यथानुपपत्ति का अभाव इसलिए है कि कालेपन के साथ मंत्री के पुत्रपने का न तो सहभाव
20 नियम है और न क्रमभाव नियम ।

जिस वर्म का जिस धर्म के साथ सहभाव नियम—एक साथ होने का स्वभाव होता है वह उसका ज्ञापक होता है । अर्थात्—वह उसे जनाता है । जैसे शिशपात्व का वृक्षत्व के साथ सहभाव नियम है, इसलिए शिशपात्व हेतु वृक्षत्व को जनाता है । और जिसका
25 जिसके साथ क्रमभाव नियम—क्रम से होने का स्वभाव होता है वह

उसका ज्ञान कराता है। जैसे—घुएँ का अग्नि के बाद होने का नियम है, इसलिए घुआँ अग्नि का ज्ञान कराता है। प्रकृत में 'मंत्रो के पुत्रपने' हेतु का 'कालेपन' साध्य के साथ न तो सहभाव नियम है और न क्रमभाव नियम है जिससे कि 'मंत्रो का पुत्रपना' हेतु 'कालेपन' साध्य का ज्ञान कराये।

5

यद्यपि विद्यमान मंत्रो के पुत्रो में 'कालेपन' और 'मंत्रो का पुत्रपन' का सहभाव है—दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं, पर वह सहभाव नियत नहीं है—नियमरूप में नहीं है, क्योंकि कोई यदि यह कहे कि गर्भस्थ पुत्र में 'मंत्रो का पुत्रपन' तो हो, किन्तु 'कालापन' न हो, तो इस प्रकार विपक्ष (व्यभिचारशङ्का) में कोई बाधक नहीं है—उक्त व्यभिचार की शङ्का को दूर करने वाला अनुकूल तर्क नहीं है। अर्थात् यहाँ ऐसा तर्क नहीं है कि 'यदि कालापन न हो तो मंत्रो का पुत्रपन' भी नहीं हो सकता है' क्योंकि मंत्रोपुत्र में 'मंत्रो के पुत्रपन' के रहने पर भी 'कालापन' सन्दिग्ध है। और विपक्ष में बाधक प्रमाणो—व्यभिचारशङ्कानिवर्तक अनुकूल तर्कों के बल से ही हेतु और साध्य में व्याप्ति का निश्चय होता है। तथा व्याप्ति के निश्चय से सहभाव अथवा क्रमभाव का निर्णय होता है। क्योंकि "सहभाव और क्रमभाव नियम को अविनाभाव कहते हैं" ऐसा वचन है। विवाद में पड़ा हुआ पदार्थ वृक्ष होना चाहिए, क्योंकि वह शिशपा (शीशम) है, जो जो शिशपा होती है वह वह वृक्ष होता है। जैसे—ज्ञात शिशपा वृक्ष। यहाँ यदि कोई ऐसी व्यभिचारशङ्का करे कि हेतु (शिशपा) रहे साध्य (वृक्षत्व) न रहे तो सामान्य-विशेषभाव के नाश का प्रसङ्गरूप बाधक मौजूद है। अर्थात् उस व्यभिचारशङ्का को दूर करने वाला अनुकूल तर्क विद्यमान है। यदि वृक्षत्व न हो तो शिशपा नहीं हो सकती, क्योंकि वृक्षत्व

10

15

20

25

- सामान्य है और शिशुपा उसका विशेष है और विशेष सामान्य के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए यहाँ सामान्य-विशेषभाव के भङ्ग होने का प्रसङ्गरूप बाधक मौजूद है। किन्तु 'मंत्री का पुत्रपन हो कालापन न हो' ऐसा कहने में (व्यभिचारशङ्का प्रकट करने में) कोई बाधक नहीं है, अर्थात्—उस व्यभिचारशङ्का को दूर करने वाला कोई अनु-कूल तर्क—कि यदि कालापन न हो तो मंत्री का पुत्रपन नहीं हो सकता है—नहीं है, क्योंकि गोरेपन के साथ भी मंत्री के पुत्रपन का रहना सम्भव है। अतः 'मंत्री का पुत्रपन' हेतु हेत्वाभास ही है। अर्थात्—वह सन्दिग्धानैकान्तिक है। उसके पक्षधर्मता है, क्योंकि पक्ष-
- 10 भूत गर्भस्थ मंत्रीपुत्र में रहता है। सपक्ष किये गये मौजूद मंत्रीपुत्रों में रहने से सपक्ष-सत्त्व भी है। और विपक्ष गोरे चंद्र के पुत्रों से व्यावृत्त होने से विपक्षव्यावृत्ति भी है। कोई बाधा नहीं है, इसलिए अबाधितविषयता भी है, क्योंकि गर्भस्थ पुत्र का कालापन किसी प्रमाण से बाधित नहीं है। असत्प्रतिपक्षता भी है, क्योंकि
- 15 विरोधी समान बल वाला प्रमाण नहीं है। इस प्रकार 'मंत्री के पुत्रपन' में पाँचों रूप विद्यमान हैं। तीन रूप तो 'हजार में सौ' के न्याय से स्वयं सिद्ध हैं। अर्थात्—जिस प्रकार हजार में सौ आ ही जाते हैं उसी प्रकार मंत्री पुत्रपन में पाँच रूपों के दिखा देने पर तीन रूप भी प्रदर्शित हो जाते हैं।

20 अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु-लक्षण होने की सिद्धि—

- यहाँ यदि कहा जाय कि केवल पाँचरूपता हेतु का लक्षण नहीं है, किन्तु अन्यथानुपपत्ति से विशिष्ट ही पाँचरूपता हेतु का लक्षण है। तो उसी एक अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण मानिये; क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के अभाव में पाँचरूपता के रहने पर भी
- 25 'मंत्री का पुत्रपन' आदि हेतुओं में हेतुता नहीं है और उसके सद्भाव-

मे पाँचरूपता के न होने पर भी 'कृत्तिकोदय' आदि में हेतुता है ।
कहा भी है :—

“अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥” []

जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ तीन रूपों के मानने से क्या ? और 5
जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ तीन रूपों के सद्भाव से भी क्या ?
तात्पर्य यह कि त्रैरूप्य अन्यथानुपपत्ति के बिना अभिमत फल का
सम्पादक नहीं है—व्यर्थ है । यह त्रैरूप्य को मानने वाले बौद्धों
के लिए उत्तर है । और पाँच रूपों को मानने वाले नैयायिकों के
लिए तो निम्न उत्तर है :—

10

“अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ॥” [प्रमाणप० पृ० ७२]

जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ पाँच रूपों के मानने से क्या ? और
जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ पाँच रूपों के सद्भाव से भी क्या ?
मतलब यह कि अन्यथानुपपत्ति के बिना पाँच रूप सर्वथा अन्यथा- 15
सिद्ध हैं—निष्फल हैं—

हेतु के भेदों और उपभेदों का कथन—

यह अन्यथानुपपत्ति के निश्चयरूप एक लक्षण वाला हेतु
संक्षेप में दो तरह का है—१ विधिरूप और २ प्रतिषेधरूप ।
विधिरूप हेतु के भी दो भेद हैं—१ विधिसाधक और २ प्रतिषेध- 20

१ यह कारिका प्रमाण-परीक्षा में कुछ परिवर्तनके साथ निम्न प्रकार
उपलब्ध है —

अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् ॥

साधक । इनमे से पहले विधिसाधक के अनेक भेद हैं—(१) कोई कार्यरूप है, जैसे—‘यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला अन्यथा नहीं हो सकता’ यहां ‘धूम’ कार्यरूप हेतु है । कारण, धूम अग्नि का कार्य है और वह उसके बिना न होता हुआ अग्नि का ज्ञान कराता है । (२) कोई कारणरूप है, जैसे—‘वर्षा होगी, क्योंकि विशेष वादल अन्यथा हो नहीं सकते’ यहां ‘विशेष वादल’ कारण हेतु हैं । क्योंकि विशेष वादल वर्षा के कारण है और अपने कार्यभूत वर्षा का बोध कराते हैं ।

शङ्का—कार्य तो कारण का ज्ञापक हो सकता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता । किन्तु कारण कार्य के अभाव में भी सम्भव है, जैसे—धूम के बिना भी अग्नि देखी जाती है । अतएव अग्नि धूम की गमक नहीं होती । अतः कारणहेतु को मानना ठीक नहीं है ?

समाधान—नहीं; जिस कारण की शक्ति प्रकट है—अप्रतिहत है वह कारण कार्य का व्यभिचारो नहीं होता—नियम से कार्य का जनक होता है । अतः ऐसे कारण को कार्य का ज्ञापक हेतु मानने-में कोई विरोध नहीं है । (३) कोई विशेषरूप है, जैसे—‘यह वृक्ष है, क्योंकि शिशपा अन्यथा हो नहीं सकती ।’ यहां ‘शिशपा’ विशेष रूप हेतु है । क्योंकि शिशपा वृक्षविशेष है, वह अपने सामान्य-भूत वृक्ष का ज्ञापन कराती है । कारण वृक्षविशेष वृक्षसामान्य-के बिना नहीं हो सकता है । (४) कोई पूर्वचर है, जैसे—‘एक मुहूर्त के बाद शकट का उदय होगा; क्योंकि कृत्तिका का उदय अन्यथा हो नहीं सकता’ । ‘यहां कृत्तिका का उदय’ पूर्वचर हेतु है; क्योंकि कृत्तिका के उदय के बाद मुहूर्त के अन्त में नियम से शकट का उदय होता है । और इसलिए कृत्तिका का उदय पूर्वचर हेतु

होता हुआ शकट के उदय को जनाता है। (५) कोई उत्तरचर है, जैसे—एक मुहूर्त्त के पहले भरणिका उदय हो चुका; क्योंकि इस समय कृत्तिका का उदय अन्यथा हो नहीं सकता' यहाँ 'कृत्तिका का उदय उत्तरचर हेतु है। कारण, कृत्तिका का उदय भरणि के उदय के बाद होता है और इसलिए वह उसका उत्तरचर होता हुआ उसको 5 जनाता है। (६) कोई सहचर है, जैसे मातुलिङ्ग (बिजौरा नीबू) रूपवान् होना चाहिए, क्योंकि रसवान् अन्यथा हो नहीं सकता' यहाँ 'रस' सहचर हेतु है। कारण, रस नियम से रूप का सहचारी है—साथ में रहने वाला है और इसलिए वह उसके अभाव में नहीं होता हुआ उसका जापन कराता है। 10

इन उदाहरणों में सद्भाव रूप ही अग्न्यादिक साध्य को सिद्ध करने वाले धूमादिक साधन सद्भाव रूप ही हैं। इसलिए ये सब विधिसाधक विधिरूप हेतु हैं। इन्हीं को अविरुद्धोपलब्धि कहते हैं। इस प्रकार विधिरूप हेतु के पहले भेद विधिसाधक का उदाहरणों द्वारा निरूपण किया। 15

दूसरा भेद निषेधसाधक नामका है। विरुद्धोपलब्धि भी उसी का दूसरा नाम है। उसका उदाहरण इस प्रकार है—'इस जीव के मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि आस्तिकता अन्यथा हो नहीं सकती'। यहाँ 'आस्तिकता' निषेधसाधक हेतु है, क्योंकि आस्तिकता सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वार्थों के श्रद्धानुरूप है। 20 वह श्रद्धान मिथ्यात्व वाले (मिथ्यादृष्टि) जीव के नहीं हो सकता, इसलिए वह विवक्षित जीव में मिथ्यात्व के अभाव को सिद्ध करता है। अथवा, इस हेतु का दूसरा उदाहरण यह है—'वस्तु में सर्वथा एकान्त नहीं है, क्योंकि अनेकान्तात्मकता अन्यथा हो नहीं सकती' यहाँ 'अनेकान्तात्मकता' निषेधसाधक हेतु है। कारण, 25

अनेकान्तात्मकता वस्तु में अबाधितरूप से प्रतीत होती है और इसलिए वह बौद्धादिकल्पित सर्वथा एकान्त के अभाव को अवश्य सिद्ध करती है ।

शङ्का—यह अनेकान्तात्मकता क्या है, जिसके बल से वस्तु में 5 सर्वथा एकान्त के अभाव को सिद्ध किया जाता है ?

समाधान—सभी जीवादि वस्तुओं में जो भाव-अभावरूपता एक-अनेकरूपता और नित्य-अनित्यरूपता इत्यादि अनेक धर्म पाये जाते हैं उसी को अनेकान्तात्मकता अथवा अनेकान्तरूपता कहते हैं । इस तरह विधिरूप हेतु का दिग्दर्शन किया ।

10 प्रतिषेधरूप हेतु के भी दो भेद हैं— १ विधिसाधक और २ प्रतिषेधसाधक । उनमें विधिसाधक का उदाहरण इस प्रकार है— 'इस जीव में सम्यक्त्व है, क्योंकि मिथ्या अभिनिवेश नहीं है।' यहाँ 'मिथ्या अभिनिवेश नहीं है' यह प्रतिषेधरूप हेतु है और वह सम्यग्दर्शन के सङ्काव को साधता है, इसलिए वह प्रतिषेधरूप विधि- 15 साधक हेतु है ।

दूसरे प्रतिषेधरूप प्रतिषेधसाधक हेतु का उदाहरण यह है— 'यहाँ धुआँ नहीं है, क्योंकि अग्नि का अभाव है।' यहाँ 'अग्नि का अभाव' स्वयं प्रतिषेधरूप है और वह प्रतिषेधरूप ही धूम के अभाव को सिद्ध करता है, इसलिए 'अग्नि का अभाव' प्रतिषेध- 20 रूप प्रतिषेधसाधक हेतु है । इस तरह विधि और प्रतिषेधरूप से दो प्रकार के हेतु के कुछ प्रभेदों का उदाहरण द्वारा वर्णन किया । विस्तार से परीक्षामुख से जानना चाहिए । इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षण वाले ही हेतु साध्य के गमक हैं, अन्य नहीं । अर्थात्—जो 25 अन्ययानुपपत्ति लक्षण वाले नहीं हैं वे साध्य के गमक नहीं हैं, क्योंकि वे हेत्वाभास हैं ।

हेत्वाभास का लक्षण और उनके भेद—

हेत्वाभास किन्हें कहते हैं ? जो हेतु के लक्षण से रहित हैं, किन्तु हेतु जैसे प्रतीत होते हैं उन्हें हेत्वाभास कहते हैं । वे चार प्रकार के हैं—
१ असिद्ध, २ विरुद्ध, ३ अनैकान्तिक और ४ अकिञ्चित्कर ।

(१) असिद्ध—जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति अनिश्चित है 5
वह असिद्ध हेत्वाभास है । हेतु की यह अनिश्चितता हेतु के स्वरूप के अभाव का निश्चय होने से और स्वरूप में सशय होने से होती है । स्वरूपाभाव के निश्चय में स्वरूपासिद्ध है और स्वरूप के सन्देह में सन्दिग्धासिद्ध है । उनमें पहले का उदाहरण यह है—‘शब्द परिणमनशील है, क्योंकि यह चक्षु इन्द्रिय का विषय है ।’ यह 10
‘चक्षु इन्द्रिय का विषय’ हेतु स्वरूपासिद्ध है । क्योंकि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, चक्षु इन्द्रिय का नहीं । अतः शब्द में चक्षु इन्द्रिय की विषयता का अभाव निश्चित है इसलिए वह स्वरूपासिद्ध है । दूसरे का उदाहरण यह है—धूम अथवा भाप आदि के निश्चय किये बिना ही कोई यह कहे कि ‘यह प्रदेश अग्नि वाला है, क्योंकि वह 15
धूम वाला है ।’ यहाँ ‘धूम’ हेतु सन्दिग्धासिद्ध है । कारण, उसके स्वरूप में सन्देह है ।

(२) विरुद्ध—जिस हेतु की साध्य से विरुद्ध (साध्याभाव) के साथ व्याप्ति हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है । जैसे—‘शब्द अपरिणमनशील है, क्योंकि किया जाता है’ यहाँ ‘किया जाना’ हेतु की व्याप्ति 20
अपरिणमनशील से विरुद्ध परिणमनशीलता के साथ है । अतः वह विरुद्ध हेत्वाभास है ।

(३) अनैकान्तिक—जो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में रहता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है । वह दो प्रकारका है—१ निश्चित-विपक्षवृत्ति और २ शङ्कितविपक्षवृत्ति । उनमें पहले का उदाहरण 25

- यह है—‘यह प्रदेश धूमवाना है, क्योंकि यह अग्निवाना है।’ यहाँ ‘अग्नि’ हेतु पक्षभूत तन्दिग्ध धूमवाने सामने के प्रदेश में गता है और सपक्ष धूम वाले रसोईघर में रहता है नया विपक्ष धूमरहित रूप से निश्चित अज्ञारस्वरूप अग्नि वाले प्रदेश में भी गता है।
- 5 ऐसा निश्चय है। अतः यह निश्चितविपक्षवृत्ति अनैकान्तिक है। दूसरे शङ्कितविपक्षवृत्ति का उदाहरण यह है—‘गर्भम्भ मंत्री का पुत्र श्याम होना चाहिए, क्योंकि मंत्री का पुत्र है, मंत्री के दूसरे पुत्रों की तरह’ यहाँ ‘मंत्री का पुत्रपना’ हेतु पक्षभूत गर्भम्भ मंत्री के पुत्र में रहता है, सपक्ष दूसरे मंत्रीपुत्रों में रहता है, और विपक्ष
- 10 अश्याम—गोरे पुत्र में भी रहे इस शङ्का को निवृत्ति न होने में अर्थात् विपक्ष में भी उसके रहने की शङ्का बनी रहने में यह शङ्कितविपक्षवृत्ति है। शङ्कितविपक्षवृत्ति का दूसरा भी उदाहरण है—‘अरहन्त सर्वज्ञ नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे वश्या हैं, जैसे—‘रम्यापुरुष’। यहाँ ‘वचनापन’ हेतु जिस प्रकार पक्षभूत अरहन्त में और सपक्षभूत रम्यापुरुष
- 15 में रहता है उसी प्रकार सर्वज्ञ में भी उसके रहने की सम्भावना की जाय, क्योंकि वचनापन और ज्ञातापन का कोई विरोध नहीं है। जिसका जिसके साथ विरोध होना है वह उम वाले में नहीं रहता है और वचन तथा ज्ञान का लोक में विरोध नहीं है, वलिक ज्ञान वाले (ज्ञानी) के ही वचनो में चतुराई अथवा सुन्दरता
- 20 स्पष्ट देखने में आती है। अतः विशिष्ट ज्ञानवान् सर्वज्ञ में विशिष्ट वक्तापन के होने में क्या आपत्ति है ? इस तरह वक्तापन की विपक्षभूत सर्वज्ञ में भी सम्भावना होने से वह शङ्कितविपक्षवृत्ति नाम का अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

(४) अकिञ्चित्कर—जो हेतु साध्यकी सिद्धि करने में अप्रयोजक—

25 असमर्थ है उसे अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहते हैं। उसके दो

भेद हैं—१ सिद्धसाधन और २ बाधितविषय । उनमें पहले का उदाहरण यह है—‘शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होना चाहिए, क्योंकि वह शब्द है’ । यहाँ ‘श्रोत्रेन्द्रिय की विषयता’ रूपसाध्य शब्द में श्रावण-प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है । अतः उसको सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किया गया ‘शब्दपना’ हेतु सिद्धसाधन नाम का अकिञ्चित्कर 5 हेत्वाभास है । बाधितविषय नामका अकिञ्चित्कर हेत्वाभास अनेक प्रकार का है । कोई प्रत्यक्षबाधितविषय है । जैसे—‘अग्नि अनुष्ण—ठडी है, क्योंकि वह द्रव्य है’ । यहाँ ‘द्रव्यत्व’ हेतु प्रत्यक्ष-बाधितविषय है । कारण उसका जो ठडापन विषय है वह उष्णता-ग्राहक स्पर्शनेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष से बाधित है । अर्थात्—अग्नि को 10 छूने पर वह उष्ण प्रतीत होती है, ठडी नहीं । अतः ‘द्रव्यत्व’ हेतु कुछ भी साध्यसिद्धि करने में समर्थ न होने से अकिञ्चित्कर है । कोई अनुमानबाधितविषय है । जैसे—‘शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह किया जाता है’ यहाँ ‘किया जाना’ हेतु ‘शब्द परिणामी है, क्योंकि वह प्रमेय है’ इस अनुमान से बाधितविषय है । इस- 15 लिये वह अनुमानबाधितविषय नामका अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है । कोई आगमबाधितविषय है । जैसे—‘धर्म परलोक में दुःख का देने वाला है, क्योंकि वह पुरुष के आश्रय से होता है, जैसे—अधर्म’ यहाँ ‘धर्म सुख का देने वाला है’ ऐसा आगम है, इस आगम से उक्त हेतु बाधितविषय है । कोई स्ववचनबाधितविषय है । 20 जैसे—मेरी माता वन्ध्या है, क्योंकि पुरुष का सयोग होने पर भी गर्भ नहीं रहता है । जिसके पुरुष का सयोग होने पर भी गर्भ नहीं रहता है वह वन्ध्या कही जाती है, जैसे—प्रसिद्ध वन्ध्या स्त्री । यहाँ हेतु अपने वचन से बाधितविषय है, क्योंकि स्वयं मौजूद है और माता भी मान रहा है फिर भी यह कहता है कि 25 मेरी माता वन्ध्या है । अतः हेतु स्ववचनबाधितविषय नामका

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है। इसी प्रकार और भी अकिञ्चित्कर के भेद त्वय विचार लेना चाहिए। इस तरह हेतु के प्रसङ्ग से हेत्वाभासों का निरूपण किया।

उदाहरण का निरूपण—

- 5 यद्यपि व्युत्पन्न ज्ञाता के लिए प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अव-
यव पर्याप्त हैं तथापि अव्युत्पन्नो के ज्ञान के लिए उदाहरणादिक को
भी आचार्यों ने स्वीकृत किया है। यथार्थ दृष्टान्त के कहने को उदा-
हरण कहते हैं। यह दृष्टान्त क्या है ? जहाँ साध्य और साधन की
व्याप्ति दिखलाई (जानी) जाती है उसे दृष्टान्त कहते हैं। और
- 10 साध्य—अग्नि आदिक के होने पर ही साधन—धूमादिक होते हैं तथा
उनके नहीं होने पर नहीं होते हैं, इस प्रकार के साहचर्यरूप साध्य-
साधन के नियम को व्याप्ति कहते हैं। इस व्याप्ति को ही साध्य के
बिना साधन के न होने से अविनाभाव कहते हैं। वादी और प्रति-
वादी की बुद्धिसाम्यता को व्याप्ति की सम्प्रतिपत्ति कहते हैं और
- 15 यह सम्प्रतिपत्ति (बुद्धिसाम्यता) जहाँ सम्भव है वह सम्प्रतिपत्ति
प्रदेश कहलाता है, जैसे—रसोईशाला आदि, अथवा तालाब आदि।
क्योंकि वहीं 'धूमादिक के होने पर नियम से अग्न्यादिक पाये
जाते हैं और अग्न्यादिक के अभाव में नियम से धूमादिक नहीं पाये
जाते' इस प्रकारकी सम्प्रतिपत्ति—बुद्धिसाम्यता सम्भव है। उनमें
- 20 रसोईशाला आदि अन्वयदृष्टान्त हैं, क्योंकि वहाँ साध्य और
साधन के सद्भावरूप अन्वयबुद्धि होती है। और तालाब आदि
व्यतिरेकदृष्टान्त हैं, क्योंकि वहाँ साध्य और साधन के अभावरूप
व्यतिरेक का ज्ञान होता है। ये दोनों ही दृष्टान्त हैं, क्योंकि साध्य
और साधनरूप अन्त—अर्थात् धर्म जहाँ देखे जाते हैं वह दृष्टान्त
- 25 कहलाता है, ऐसा 'दृष्टान्त' शब्द का अर्थ उनमें पाया जाता है।

इस उपयुक्त दृष्टान्त का जो सम्यक् वचन है—प्रयोग है वह उदाहरण है। केवल 'वचन' का नाम उदाहरण नहीं है, किन्तु दृष्टान्तरूप से जो वचन-प्रयोग है वह उदाहरण है। जैसे—'जो जो धूम-वाला होता है वह वह अग्नि वाला होता है, जैसे—रसोई घर, और जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे—तालाब।' 5 इस प्रकार के वचन के साथ ही दृष्टान्त का दृष्टान्तरूप से प्रतिपादन होता है।

उदाहरण के प्रसङ्ग से उदाहरणाभास का कथन—

जो उदाहरण के लक्षण से रहित है किन्तु उदाहरण जैसा प्रतीत होता है वह उदाहरणाभास है। उदाहरण के लक्षण की रहितता 10 (अभाव) दो तरह से होती है—१ दृष्टान्त का सम्यक् वचन न होना और २ जो दृष्टान्त नहीं है उसका सम्यक् वचन होना। उनमें पहले का उदाहरण इस प्रकार है—'जो जो अग्नि वाला होता है वह वह धूम वाला होता है, जैसे—रसोईघर। जहाँ जहाँ धूम नहीं है वहाँ वहाँ अग्नि नहीं है, जैसे—तालाब।' इस तरह व्याप्य 1 और व्यापक का विपरीत (उल्टा) कथन करना दृष्टान्त का असम्यक्वचन है।

शङ्का—व्याप्य और व्यापक किसे कहते हैं ?

समाधान—साहचर्य नियमरूप व्याप्ति क्रिया का जो कर्म है उसे व्याप्य कहते हैं, क्योंकि 'वि' पूर्वक 'आप्' धातु से 'कर्म' 2 अर्थ से 'ण्यत्' प्रत्यय करने पर 'व्याप्य' शब्द निष्पन्न होता है। तात्पर्य यह कि 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है' इस प्रकारके साथ रहने के नियम को व्याप्ति कहते हैं, और इस व्याप्ति का जो कर्म है—विषय है वह व्याप्य कहलाता है। वह व्याप्य धूमादिक हैं, क्योंकि धूमादिक वह्न्यादि के द्वारा

व्याप्त (विषय) किये जाते हैं । तथा इसी व्याप्ति क्रियाका जो कर्ता है उसे व्यापक कहते हैं, क्योंकि 'वि' पूर्वक 'आप्' धातु से कर्ता अर्थ में 'ण्वुल' प्रत्यय करने पर 'व्यापक' शब्द सिद्ध होता है । वह व्यापक अग्न्यादिक हैं । इसीलिए अग्नि घूम को व्याप्त करती है, क्योंकि 'जहां जहां घूम होता है वहां वहां अग्नि नियम से होती है' इस तरह घूम वाले सब स्थानों में नियम से अग्नि पायी जाती है । किन्तु घूम अग्नि को वैसा व्याप्त नहीं करता, क्योंकि अंगारा-पन्न अग्नि घूम के बिना भी रहती है । कारण, जहां 'अग्नि है वहां नियम से घूम भी है' ऐसा सम्भव नहीं है

- 10 शङ्का—घूम गीले ईन्धन वाली अग्नि को व्याप्त करता ही है । अर्थात् वह उसका व्यापक होता है, तब आप कैसे कहते हैं कि घूम अग्नि का व्यापक नहीं होता ?

समाधान—गीले ईन्धनवाली अग्नि का घूम को व्यापक मानना हमें इष्ट है । क्योंकि जिस तरह 'जहां जहां अविच्छिन्नमूल घूम होता है वहां वहां अग्नि होती है' यह सम्भव है उसी तरह जहां जहां गीले ईन्धन वाली अग्नि होती है वहां वहां घूम होता है' यह भी सम्भव है । किन्तु अग्निसामान्य घूम-विशेष का व्यापक ही है—व्याप्य नहीं, कारण कि 'पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि वह घूम वाला है' इस अनुमान में अग्नि-सामान्य की ही अपेक्षा होती है

20 आर्द्रेन्धन वाली अग्नि या महानसीय, पर्वतीय, चत्तरीय और गोष्ठीय आदि विशेष अग्नि की नहीं । इसलिये घूम अग्नि का व्यापक नहीं है, अपितु अग्नि ही घूम की व्यापक है । अतः 'जो जो घूमवाला होता है वह अग्निवाला होता है, जैसे—रसोई का घर' इस प्रकार दृष्टान्त का सम्यक् वचन बोलना चाहिए । किन्तु

25 इससे विपरीत वचन बोलना दृष्टान्ताभास है । इस तरह यह

असम्यक् वचनरूप अन्वय दृष्टान्ताभास (अन्वय उदाहरणाभास) है।
 व्यतिरेकव्याप्ति में तो व्यापक—अग्न्यादिक का अभाव व्याप्य
 होता है और व्याप्य—बूमदिक का अभाव व्यापक होता है। अत-
 एव 'जहां जहां अग्नि का अभाव है वहां वहां बूम का अभाव है,
 जैसे—तालाब' इस प्रकार दृष्टान्त का सम्यक् वचन बोलना चाहिए। 5
 इससे विपरीत कथन करना असम्यक् वचनरूप व्यतिरेक उदा-
 हरणाभास है। 'अदृष्टान्तवचन' (जो दृष्टान्त नहीं है उसका
 सम्यक् वचन होना) नाम का दूसरा उदाहरणाभास इस प्रकार
 है—अन्वयव्याप्ति में व्यतिरेक दृष्टान्त कह देना और व्यतिरेक-
 व्याप्ति में अन्वय दृष्टान्त बोलना, उदाहरणाभास है। इन दोनों के 10
 उदाहरण स्पष्ट हैं।

शङ्का—'गर्भस्थ मंत्री का पुत्र श्याम होना चाहिये, क्योंकि वह
 मंत्री का पुत्र है, जो जो मंत्री का पुत्र है वह वह श्याम है, जैसे उसके
 दूसरे पुत्र' इत्यादि अनुमानप्रयोग में अन्वयदृष्टान्त स्वरूप पांच मंत्री-
 पुत्रों में 'जहां जहां मंत्री का पुत्रपना है वहां वहां श्यामता है' यह 15
 अन्वयव्याप्ति है और व्यतिरेक दृष्टान्तस्वरूप गौरवर्ण अमंत्रीपुत्रों में
 सब जगह 'जहां जहां श्यामता नहीं है वहां वहां मंत्री का पुत्रपना
 नहीं है' यह व्यतिरेकव्याप्ति सम्भव है। अतः गर्भस्थ मंत्रीपुत्र-
 रूप पक्ष में जहां कि साधन निश्चितरूप से है, साध्यभूत श्यामता का
 सन्देह गौण है और इसलिए यह अनुमान भी सम्यक् हो जावेगा— 20
 अर्थात् दृष्टान्त का उपयुक्त लक्षण मानने पर मंत्रीतनयत्वहेतुक
 श्यामत्वसाध्यक प्रस्तुत अनुमान भी समीचीन अनुमान कहा जावेगा,
 कारण कि उसके अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनों ही सम्यक्
 दृष्टान्तवचनरूप हैं ?

समाधान—नहीं; प्रकृत दृष्टान्त अन्य विचार से बाधित है। 25

- वह इस प्रकार से है—साध्यरूप से माना गया यह श्यामतारूप कार्य अपनी निष्पत्ति के लिए कारण की अपेक्षा करता है। वह कारण मंत्री का पुत्रपना तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसके बिना भी दूसरे पुरुषों में, जो मंत्री के पुत्र नहीं हैं, श्यामता देखी जाती है। अतः जिस प्रकार कुम्हार, चाक आदि कारणों के बिना ही उत्पन्न होने वाले वस्त्र के कुम्हार आदिक कारण नहीं हैं उसी प्रकार मंत्री का पुत्रपना श्यामता का कारण नहीं है, यह निश्चित है। अतएव जहां जहां मंत्री का पुत्रपना है वहां वहां श्यामता नहीं है, किन्तु जहां जहां श्यामता का कारण विशिष्ट नामकर्म से सहित शाकादि आहाररूप परिणाम है वहां वहां उसका कार्य श्यामता है। इस प्रकार सामग्री-रूप विशिष्ट नामकर्म से सहित शाकादि आहार परिणाम श्यामता का व्याप्य है—कारण है। लेकिन उसका गर्भस्थ मंत्रीपुत्ररूप पक्ष में निश्चय नहीं है, अतः वह सन्दिग्धामिद्ध है। और मंत्री का पुत्रपना तो श्यामता के प्रति कारण ही नहीं है, इसलिए वह श्यामतारूप कार्य का गमक नहीं है। अतः उपर्युक्त अनुमान सम्यक् अनुमान नहीं है।

- ‘जो उपाधि रहित सम्बन्ध है वह व्याप्ति है, और जो साधन-का अव्यापक तथा साध्य का व्यापक है वह उपाधि है’ ऐसा किन्हीं (नैयायिकों) का कहना है। पर वह ठीक नहीं है; क्योंकि व्याप्ति का उक्त लक्षण मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आता है। तात्पर्य यह कि उपाधि का लक्षण व्याप्तिघटित है और व्याप्ति का लक्षण उपाधिघटित है। अतः व्याप्ति जब सिद्ध हो जावे तब उपाधि सिद्ध हो और जब उपाधि सिद्ध हो जावे तब व्याप्ति सिद्ध हो, इस तरह उपाधि रहित सम्बन्ध को व्याप्ति का लक्षण मानने में अन्योन्याश्रय नामका दोष प्रसक्त होता है। इस उपाधि का निराकरण कारुण्यकलिका में

विस्तार से किया गया है। अतः विराम लेते हैं—उसका पुनः खण्डन यहाँ नहीं किया जाता है।

उपनय, निगमन और उपनयाभास तथा निगमनाभास के लक्षण—

साधनवान् रूप से पक्ष की दृष्टान्त के साथ साम्यता का कथन 5 करना उपनय है। जैसे—इसीलिए यह धूम वाला है। साधन को दोहराते हुए साध्य के निश्चयरूप वचन को निगमन कहते हैं। जैसे—धूम वाला होने से यह अग्नि वाला ही है। इन दोनों का अग्रथा-क्रम से—उपनय की जगह निगमन और निगमन की जगह उपनय का—कथन करना उपनयाभास और निगमनाभास हैं। अनुमान प्रमाण 10 समाप्त हुआ।

आगम प्रमाण का लक्षण—

आप्त के वचनो से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं। यहाँ 'आगम' यह लक्ष्य है और शेष उसका लक्षण है। 'अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' इतना ही यदि आगम का लक्षण कहा जाय 15 तो प्रत्यक्षादिक में अतिव्याप्ति है, क्योंकि प्रत्यक्षादिक भी अर्थ-ज्ञान हैं। इसलिए 'वचनो से होने वाले' यह पद—विशेषण दिया है। 'वचनो से होने वाले' अर्थज्ञान को आगम का लक्षण कहने में भी स्वेच्छापूर्वक (जिस किसी के) कहे हुए अमजनक वचनो से होने वाले अथवा सोये हुए पुरुष के और पागल आदि के वाक्यों से 20 होने वाले 'नदी के किनारे फल हैं' इत्यादि ज्ञानो में अतिव्याप्ति है, इसलिए 'आप्त' यह विशेषण दिया है। 'आप्त के वचनों से होने वाले ज्ञान को' आगम का लक्षण कहने में भी आप्त के वाक्यों को सुनकर जो श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति है, अतः 'अर्थ' यह पद दिया है। 'अर्थ' पद तात्पर्य में रुढ़ है। 25

- अर्थात्—प्रयोजनार्थक है, क्योंकि 'अर्थ ही—तात्पर्य ही वचनो मे है' ऐसा आचार्यवचन है। मतलब यह कि यहां 'अर्थ' पद का अर्थ तात्पर्य विवक्षित है, क्योंकि वचनो मे तात्पर्य ही होता है। इस तरह आप्त के वचनो से होने वाले अर्थ (तात्पर्य) ज्ञान को जो
- 5 आगम का लक्षण कहा गया है वह पूर्ण निर्दोष है। जैसे—
 "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [त० सू० १-१] 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता (सहभाव) मोक्ष का मार्ग है' इत्यादि वाक्यार्थज्ञान। सम्यग्दर्शनादिक सम्पूर्ण कर्मों के क्षयरूप मोक्ष का मार्ग अर्थात् उपाय है—न कि 'मार्ग हैं'।
- 10 अतएव भिन्न भिन्न लक्षण वाले सम्यग्दर्शनादि तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग हैं, एक एक नहीं, ऐसा अर्थ 'मार्ग' इस एक वचन के प्रयोग के तात्पर्य से सिद्ध होता है। यही उक्त वाक्य का अर्थ है। और इसी अर्थ मे प्रमाण से संशयादिक की निवृत्तिरूप प्रमिति होती है।
- 15 . आप्त का लक्षण—
- आप्त किसे कहते हैं? जो प्रत्यक्षज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) है और परमहितोपदेशी है वह आप्त है। 'समस्त पदार्थों का ज्ञाता' इत्यादि ही आप्त का लक्षण कहने पर श्रुतकेवलियों मे अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वे आगम से समस्त पदार्थों-
- 20 को जानते हैं। इसलिए 'प्रत्यक्षज्ञान से यह विशेषण दिया है। 'प्रत्यक्षज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता' इतना ही आप्त का लक्षण करने पर सिद्धो मे अतिव्याप्ति है, क्योंकि वे भी प्रत्यक्षज्ञान से ही सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता हैं, अतः 'परमहितोपदेशी' यह विशेषण कहा है। परम-हित निश्चेयस-मोक्ष हैं और उस मोक्ष के
- 25 उपदेश मे ही अरहन्त की मुख्यरूप से प्रवृत्ति होती है, अन्य

विषय मे तो प्रश्न के अनुसार गौणरूप से होती है । सिद्ध परमेष्ठी ऐसे नहीं हैं—वे निश्चयस का न तो मुख्यरूप से उपदेश देते हैं और न गौणरूप से, क्योंकि वे अनुपदेशक हैं । इसलिए 'परम-हितोपदेशी' विशेषण कहने से उनमे श्रुतिव्याप्ति नहीं होती । आप्त के सद्भाव मे प्रमाण पहले ही (द्वितीय प्रकाशमे) प्रस्तुत कर 5 आये हैं । नैयायिक आदि के द्वारा माने गये 'आप्त' सर्वज्ञ न होने से आप्ताभास हैं—सच्चे आप्त नहीं हैं । अतः उनका व्यवच्छेद (निराकरण) 'प्रत्यक्षज्ञान से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता' इस विशेषण से ही हो जाता है ।

शङ्का—नैयायिकों के द्वारा माना गया आप्त क्यों सर्वज्ञ 10 नहीं है ?

समाधान—नैयायिकों ने जिसे आप्त माना है वह अपने ज्ञान का ज्ञाता नहीं है, क्योंकि उनके यहाँ ज्ञान को अस्वसवेदी—ज्ञानान्तरवेद्य माना गया है । दूसरी बात यह है कि उसके एक ही ज्ञान है उसको जानने वाला ज्ञानान्तर भी नहीं है । अन्यथा उनके अभिमत आप्त मे 15 दो ज्ञानों के सद्भाव का प्रसङ्ग आयेगा और दो ज्ञान एक साथ हो नहीं सकते, क्योंकि सजातीय दो गुण एक साथ नहीं रहते ऐसा नियम है । अतः जब वह विशेषणभूत अपने ज्ञान को ही नहीं जानता है तो उस ज्ञानविशिष्ट आत्मा को (अपने को) कि 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा कैसे जान सकता है ? इस प्रकार जब वह अनात्मज्ञ है तब 20 असर्वज्ञ ही है—सर्वज्ञ नहीं है । और सुगतादिक सच्चे आप्त नहीं हैं, इसका विस्तृत निरूपण आप्तमीमांसाविवरण—अष्टशती मे श्री-अकलङ्कदेव ने तथा अष्टसहस्री मे श्रीविद्यानन्द स्वामी ने किया है । अतः यहाँ और अधिक विस्तार नहीं किया गया । वाक्य का

लक्षण^१ दूसरे शास्त्रों में^२ प्रसिद्ध है, इस कारण उसका भी यहाँ लक्षण नहीं किया जाता है ।

अर्थ का लक्षण और उसका विशेष कथन—

- अर्थ किसे कहते हैं ? अनेकान्त को अर्थ कहते हैं । अर्थात् जो
- 5 अनेकान्त स्वरूप है उसे अर्थ कहते हैं । यहाँ 'अर्थ' यह लक्ष्य का निर्देश है, उसी को अभिधेय अर्थात् कहा जाने वाला भी कहते हैं । 'अनेकान्त' यह लक्षण का कथन है । जिनके अथवा जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म—सामान्य, विशेष, पर्याय और गुण पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं । तात्पर्य यह कि सामान्यादि अनेक धर्म वाले
- 10 पदार्थ को अनेकान्त कहते हैं । 'घट घट' 'गौ गौ' इस प्रकार के अनुगत व्यवहार के विषयभूत सदृश परिणामात्मक 'घटत्व' 'गोत्व' आदि अनुगत स्वरूप को सामान्य कहते हैं । वह 'घटत्व' स्थूल कम्बुग्रीवादि स्वरूप तथा 'गोत्व' सास्ना आदि स्वरूप ही है । अतएव घटत्वादि सामान्य घटादि व्यक्तियों से न सर्वथा भिन्न है, न नित्य है
- 15 और न एक तथा अनेको में रहने वाला है । यदि वैसा माना जाय तो अनेकों दूषण आते हैं, जिन्हें दिग्नाग ने निम्न कारिका के द्वारा प्रदर्शित किया है :—

१ परस्पर में अपेक्षा रखने वाले पदों के निरपेक्ष समूह को वाक्य कहते हैं । जैसे—'गाय को लाओ' यहाँ 'गाय को' और 'लाओ' ये दोनों पद एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं तभी वे विवक्षित अर्थ का बोध कराने में समर्थ हैं तथा इस अर्थ के बोध में अन्य वाक्यान्तर की अपेक्षा नहीं होती इसलिए उक्त दोनों पदों का समूह निरपेक्ष भी है ।

२ प्रमेयकमलमार्तण्डादिक में ।

न याति^१ न च तत्रास्ते न पञ्चादस्ति नाशवत् ।

जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्तति^२ ॥

अर्थात्—वह गोत्वादि सामान्य शावलेयादि व्यक्तियों से यदि सर्वथा भिन्न, नित्य, एक और अनेकवृत्ति है तो जब एक गौ उत्पन्न हुई तब उसमे गोत्व कहाँ से आता है ? अन्यत्र से आ नहीं सकता, 5 क्योंकि उसे निष्क्रिय माना है । उत्पन्न होने के पहले गोत्व वहाँ रहता नहीं, क्योंकि गोत्व सामान्य गौ मे ही रहता है । अन्यथा, देश भी गोत्व के सम्बन्ध से गौ हो जायेगा । गोपिण्ड के साथ उत्पन्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसे नित्य माना है, अन्यथा उसके अनित्यता का प्रसङ्ग आयेगा । अंशवान् है नहीं, क्योंकि उसे निरश स्वीकार किया 10 है । नहीं तो साशत्व का प्रसङ्ग आवेगा । यदि वह पूर्व पिण्ड को छोड़ कर नूतन गौ मे आता है तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्व पिण्ड का त्याग नहीं माना है । अन्यथा पूर्व गोपिण्ड— गौ, अगौ—गोत्वशून्य हो जायेगा, फिर उसमे 'गौ' व्यवहार नहीं हो सकेगा । इस तरह गोत्वादि सामान्य को व्यक्ति से सर्वथा भिन्न, नित्य 15 और एक मानने मे अनेक विध दूषण प्रसक्त होते हैं । अतः स्थूल और कम्बुग्रीवा आदि आकार के तथा सास्ना आदि के देखने के बाद ही यह 'घट है' 'यह गौ है' इत्यादि अनुगत प्रत्यय होने से सदृश परिणामरूप ही घटत्व-गोत्वादि सामान्य है और वह कथञ्चित् भिन्न-अभिन्न, नित्य-अनित्य और एक-अनेक रूप है । इस प्रकार के 20

१ - 'नायाति' पाठान्तरम् ।

२ कारिका का शब्दार्थ यह है कि 'गोत्वादि सामान्य दूसरी गौ मे अन्यत्रसे जाता नही, न वहाँ रहता है, न पीछे पैदा होता है, न अशोवाला है, और न पहलेके अपने आश्रयको छोड़ता है फिर भी उसकी स्थिति है— वह सम्बद्ध हो जाता है, यह कैसी व्यसनसन्तति—कदाग्रहपरम्परा है ।'

सामान्य के मानने में उपर्युक्त कोई भी दूषण नहीं आता है। विशेष भी सामान्य की ही तरह 'यह स्थूल घट है' 'यह छोटा है' इत्यादि व्यावृत्त प्रतीति का विषयभूत घटादि व्यक्तिस्वरूप ही है। इसी बात को भगवान् माणिक्यनन्दि भट्टारक ने भी कहा है कि—
 5 सामान्य और विशेषरूप है।"

परिणमन को पर्याय कहते हैं। उसके दो भेद हैं—१ अर्थ-पर्याय और २ व्यञ्जनपर्याय। उनमें भूत और भविष्य के उल्लेख रहित केवल वर्तमानकालीन वस्तुस्वरूप को अर्थपर्याय कहते हैं अर्थात् वस्तुओं में प्रतिक्षण होने वाली पर्यायों को अर्थपर्याय कहते हैं।
 10 आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है। इसी के एक देश को मानने वाले क्षणिकवादी बौद्ध हैं। व्यक्ति का नाम व्यञ्जन है, और जो प्रवृत्ति-निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने आदिरूप अर्थक्रिया-कारिता है वह व्यक्ति है, उस व्यक्ति से युक्त पर्याय को व्यञ्जन-पर्याय कहते हैं। अर्थात् जो पदार्थों में प्रवृत्ति और निवृत्ति जनक
 15 जलानयन आदि अर्थक्रिया करने में समर्थ पर्याय है उसे व्यञ्जनपर्याय कहते हैं। जैसे— मिट्टी आदि का पिण्ड, स्थास कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्याय हैं।

जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं उन्हें गुण कहते हैं। और वे वस्तुत्व, रूप,
 20 गन्ध और स्पर्श आदि हैं। अर्थात् वे गुण दो प्रकारके हैं—१ सामान्य-गुण और २ विशेषगुण। जो सभी द्रव्यों में रहते हैं वे सामान्य गुण हैं और वे वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि हैं। तथा जो उसी एक द्रव्य में रहते हैं वे विशेषगुण कहलाते हैं। जैसे—रूप-रसादिक। मिट्टी के साथ सदैव रहने वाले वस्तुत्व व रूपादि तो पिण्डादि पर्यायों के साथ भी
 25 रहते हैं, किन्तु पिण्डादि स्थासादिक के साथ नहीं रहते हैं। इसी-

लिये पर्यायों का गुणों से भेद है। अर्थात् पर्याय और गुण में यही भेद है कि पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं और गुण सहभावी होते हैं तथा वे द्रव्य और पर्याय के साथ सदैव रहते हैं। यद्यपि सामान्य और विशेष भी पर्याय हैं और पर्यायों के कथन से उनका भी कथन हो जाता है—उनका पृथक् कथन करने की आवश्यकता 5 नहीं है, तथापि सङ्केतज्ञान में कारण होने और जुदा जुदा शब्द-व्यवहार होने से इस आगम प्रस्ताव में (आगम प्रमाण के निरूपण में) सामान्य और विशेष का पर्यायों से पृथक् निर्देश किया है। इन सामान्य और विशेषरूप गुण तथा पर्यायों का आश्रय द्रव्य है। क्योंकि “जो गुण और पर्याय वाला है वह द्रव्य है” ऐसा 10 आचार्य महाराज का आदेश (उपदेश) है। वह द्रव्य भी ‘सत्त्व’ अर्थात् सत् ही है; क्योंकि “जो सत्त्व है वह द्रव्य है” ऐसा अकलङ्कदेव का वचन है। द्रव्य भी सक्षेप में दो प्रकारका है—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। और ये दोनों ही द्रव्य उत्पत्ति, विनाश तथा स्थितिवान् हैं, क्योंकि “जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य 15 से सहित है वह सत् है” ऐसा निरूपण किया गया है। इसका खुलासा इस प्रकार है—जीव द्रव्य के स्वर्ग प्राप्त कराने वाले पुण्य कर्म (देवगति, देवायु आदि) का उदय होने पर मनुष्य स्वभाव का विनाश होता है, दिव्य स्वभाव का उत्पाद होता है और चैतन्य स्वभाव स्थिर रहता है। जीव द्रव्य यदि मनुष्यादि पर्यायों 20 से सर्वथा एकरूप (अभिन्न) हो तो पुण्य कर्म के उदय का कोई फल नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह सदैव एकसा ही बना रहेगा—मनुष्य स्वभाव का विनाश और देव पर्याय का उत्पाद ये भिन्न परिणाम उसमें नहीं हो सकेंगे। और यदि सर्वथा भिन्न हो तो पुण्यवान्—पुण्यकर्ता दूसरा होगा और फलवान्—फलभोक्ता दूसरा, 25 इस तरह पुण्य कर्म का उपार्जन करना भी व्यर्थ हो जायगा। परोप-

कार मे भी जो प्रवृत्ति होती है वह अपने पुण्य के लिए ही होती है । इस कारण जीव द्रव्य की अपेक्षा से अभेद है और मनुष्य तथा देव पर्याय की अपेक्षा से भेद है, इस प्रकार भिन्न भिन्न नयों की दृष्टि से भेद और अभेद के मानने मे कोई विरोध नहीं है, दोनों प्रामाणिक 5 हैं—प्रमाणयुक्त हैं ।

इसी तरह मिट्टीरूप अजीव द्रव्य के भी मिट्टी के पिण्डाकार का विनाश, कम्बुग्रीवा आदि आकार की उत्पत्ति और मिट्टीरूप की स्थिति होती है । अतः यह सिद्ध हुआ कि अजीव द्रव्य मे भी उत्पत्ति, विनाश और स्थिति ये तीनों होते हैं । स्वामी समन्तभद्र 10 के मत का अनुसरण करने वाले वामन ने भी कहा है कि समीचीन उपदेश से पहले के अज्ञान स्वभाव को नाश करने और आगे के तत्त्वज्ञान स्वभाव के प्राप्त करने मे जो समर्थ आत्मा है वही शास्त्र का अधिकारी है । जैसा कि उसके इस वाक्य से प्रकट है :—
“न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्” अर्थात्—शास्त्र असद् द्रव्यों मे (जो 15 जीव अज्ञान स्वभाव के दूर करने और तत्त्वज्ञान स्वभाव के प्राप्त करने मे समर्थ नहीं है उसमे) प्रयोजनवान् नहीं है—कार्यकारी नहीं है । इस प्रकार अनेकान्तस्वरूप वस्तु प्रमाणवाक्य का विषय है और इसलिए वह अर्थ सिद्ध होती है । अतएव इस प्रकार अनुमान करना चाहिए कि समस्त पदार्थ अनेकान्त स्वरूप हैं, क्योंकि वे सत् हैं, 20 जो अनेकान्तस्वरूप नहीं है वह सत् भी नहीं है, जैसे—आकाश का कमल ।

शङ्का—यद्यपि कमल आकाश मे नहीं है तथापि तालाब मे है । अतः उससे (कमल से) ‘सत्त्व’ हेतु की व्यावृत्ति नहीं हो सकती है ?

समाधान—यदि ऐसा कहो तो यह कमल अधिकरण विशेष- 25 की अपेक्षा से सत् और असत् दोनों रूप होने से अनेकान्तस्वरूप

सिद्ध हो गया और उसे अन्वयदृष्टान्त आपने ही स्वीकार कर लिया ।
इससे ही आपको सन्तोष कर लेना चाहिए । तात्पर्य यह कि इस कहने
में भी वस्तु अनेकान्तात्मक प्रसिद्ध हो जाती है ।

पहले जिस 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' वाक्य का
उदाहरण दिया गया है उस वाक्य के द्वारा भी 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान 5
और सम्यक्चारित्र इन तीनों में मोक्षकारणता ही है, संसारकार-
णता नहीं' इस प्रकार विषयविभागपूर्वक (अपेक्षाभेदसे) कारणता
और अकारणता का प्रतिपादन करने से वस्तु अनेकान्त स्वरूप
कही जाती है । यद्यपि उक्त वाक्य में अवधारण करने वाला कोई
एवकार जैसा शब्द नहीं है तथापि "मवं वाक्यमावधारणम्" अर्थात् 10
—'सभी वाक्य अवधारण सहित होते हैं' इस न्याय से उपर्युक्त
वाक्य के द्वारा भी सम्यग्दर्शनादि में मोक्षकारणता का विधान और
संसारकारणता का निषेध स्पष्ट सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार
प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रागम—से यह सिद्ध हुआ कि वस्तु
अनेकान्तस्वरूप है ।

15

नयका लक्षण, उसके भेद और सप्तभङ्गी का प्रतिपादन—

प्रमाण का विस्तार से वर्णन करके अब नयों का विश्लेषण-
पूर्वक कथन किया जाता है । नय किसे कहते हैं ? प्रमाण से
जाने हुये पदार्थ के एक देश (अंश) को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के
अभिप्रायविशेष को नय कहते हैं । क्योंकि "ज्ञाता का अभिप्राय नय 20
है" ऐसा कहा गया है । उस नय के संक्षेप में दो भेद हैं—१ द्रव्यार्थिक
और २ पर्यायार्थिक । उनमें द्रव्यार्थिक नय प्रमाण के विषयभूत
द्रव्य-पर्यायात्मक, एकानेकात्मक अनेकान्तरूप अर्थ का विभाग
करके पर्यायार्थिक नय के विषयभूत भेद को गौण करता हुआ
उसकी स्थिति मात्र को स्वीकार कर अपने विषय द्रव्य को अभेद- 25

- रूप व्यवहार कराता है, अन्य नय के विषय का निषेध नहीं करता ।
 इसीलिए “दूसरे नय के विषय की अपेक्षा रखने वाले नय को सत्
 नय—सम्यक् नय अथवा सामान्य नय” कहा है । जैसे—यह
 कहना कि ‘सोना लाओ’ । यहाँ द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से ‘सोना
 5 लाओ’ के कहने पर लाने वाला कड़ा, कुण्डल, केयूर इनमे से किसी
 को भी ले आने से कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि सोनेरूप से कड़ा
 आदि में कोई भेद नहीं है । पर जब पर्यायार्थिकनय की विवक्षा होती
 है तब द्रव्यार्थिक नय को गौण करके प्रवृत्त होने वाले पर्यायार्थिक-
 नय की अपेक्षा से ‘कुण्डल लाओ’ यह कहने पर लाने वाला कड़ा
 10 आदि के लाने में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि कड़ा आदि पर्याय से
 कुण्डल पर्याय भिन्न है । अतः द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय (विवक्षा)
 से सोना कथञ्चित् एकरूप ही है, पर्यायार्थिक नय के अभिप्राय से
 कथञ्चित् अनेकरूप ही है, और क्रम से दोनों नयों के अभिप्राय से
 कथञ्चित् एक और अनेकरूप है । एक साथ दोनों नयों के अभि-
 15 प्राय से कथञ्चित् अवक्तव्यस्वरूप है; क्योंकि एक साथ प्राप्त हुये दो
 नयों से विभिन्न स्वरूप वाले एकत्व और अनेकत्व का विचार अथवा
 कथन नहीं हो सकता है । जिस प्रकार कि एक साथ प्राप्त हुये दो
 शब्दों के द्वारा घट के प्रधानभूत भिन्न स्वरूप वाले रूप और रस इन दो
 धर्मों का प्रतिपादन नहीं हो सकता है । अतः एक साथ प्राप्त द्रव्यार्थिक
 20 और पर्यायार्थिक दोनों नयों के अभिप्राय से सोना कथञ्चित् अवक्तव्य-
 स्वरूप है । इस अवक्तव्यस्वरूप को द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक और
 द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक इन तीन नयों के अभिप्राय से क्रमशः प्राप्त
 हुए एकत्वादिके साथ मिला देने पर सोना कथञ्चित् एक और
 अवक्तव्य है, कथञ्चित् अनेक और अवक्तव्य है तथा कथञ्चित् एक,
 25 अनेक और अवक्तव्य है, इस तरह तीन न्याभिप्राय और हो जाते

हैं, जिनके द्वारा भी सोने का निरूपण किया जाता है। नयो के कथन करने की इस शैली (व्यवस्था) को ही सप्तभङ्गी कहते हैं। यहाँ 'भङ्ग' शब्द वस्तु के स्वरूपविशेष का प्रतिपादक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक वस्तु में नियत सात स्वरूप-विशेषों का प्रतिपादन करने वाला शब्द-समूह सप्तभङ्गी है।

5

शङ्का—एक वस्तु में सात भङ्गों (स्वरूप अथवा धर्मों) का सम्भव कैसे है ?

समाधान—जिस प्रकार एक ही घटादि में घट रूप वाला है, रस वाला है, गन्ध वाला है और स्पर्श वाला है, इन जुड़े-जुड़े व्यवहारों के कारणभूत रूपवत्त्व (रूप) आदि स्वरूपभेद सम्भव हैं उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में होने वाले एक, अनेक, एकानेक, अवक्तव्य आदि व्यवहारों के कारणभूत एकत्व, अनेकत्व आदि सात स्वरूपभेद भी सम्भव हैं।

10

इसी प्रकार परम द्रव्याधिक नयके अभिप्राय का विषय परम-द्रव्यसत्ता—महासामान्य है। उसकी अपेक्षा से "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यहाँ नाना-अनेक कुछ भी नहीं हैं" इस प्रकार का प्रतिपादन किया जाता है; क्योंकि सद्-रूप से चेतन और अचेतन पदार्थों में भेद नहीं है। यदि भेद माना जाय तो सद् से भिन्न होने के कारण वे सब असत् हो जाएंगे।

15

ऋजुसूत्रनय परमपर्यायिक नय है। वह भूत और भविष्य के स्पर्श से रहित शुद्ध—केवल वर्तमानकालीन वस्तुस्वरूप को विषय करता है। इस नय के अभिप्राय से ही बौद्धों के क्षणिकवाद की सिद्धि होती है। ये सब नयाभिप्राय सम्पूर्ण अपने विषयभूत अशेषात्मक अनेकान्त को, जो प्रमाण का विषय है, विभक्त करके लोकव्यवहार को कराते हैं कि वस्तु द्रव्यरूप से—सत्तासामान्य की अपेक्षा से

25

- कथञ्चित् एक ही है, अनेक नहीं है। तथा पर्यायरूप में—अवान्तर-सत्तासामान्यरूप विशेषों की अपेक्षा से वस्तु कथञ्चित् नाना (अनेक) ही है, एक नहीं है। तात्पर्य यह है कि तत्तत् न्यायिभिप्राय से ब्रह्म-वाद (सत्तावाद) और क्षणिकवाद का प्रतिपादन भी ठीक है। यही
- 5 आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भी निरूपण किया है कि “हे जिन ! आपके मत में अनेकान्त भी प्रमाण और नय से अनेकान्तरूप सिद्ध होता है, क्योंकि प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्तरूप है और अपित नयकी अपेक्षा एकान्तरूप है।

- अनियत अनेक धर्मविशिष्ट वस्तु को विषय करने वाला प्रमाण
- 10 है और नियत एक धर्मविशिष्ट वस्तु को विषय करने वाला नय है। यदि इस जैन-सरणि—जैनमत की नय-विवक्षा को न मानकर सर्वथा एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, अनेक कोई नहीं है, कथञ्चित्—किसी एक अपेक्षा से भी अनेक नहीं है, यह आप्रह किया जाय—सर्वथा एकान्त माना जाय तो यह अर्थाभास है—मिथ्या अर्थ है
- 15 और इस अर्थ का कथन करने वाला वचन भी आगमाभास है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष में और ‘सत्य भिन्न है तत्त्व भिन्न’ है इस आगम से बाधितविषय है। इसी प्रकार ‘सर्वथा भेद ही है, कथञ्चित् भी अभेद नहीं है’ ऐसा कथन भी वंसा ही समझना चाहिए। अर्थात् सर्वथा भेद (अनेक) का मानना भी अर्थाभास है और उसका
- 20 प्रतिपादक वचन भी आगमाभास है; क्योंकि सद् रूप से भी भेद मानने पर असत् का प्रसङ्ग आपेगा और उसमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती है।

- शङ्का—एक एक अभिप्राय के विषयरूप से भिन्न भिन्न सिद्ध होने वाले और परस्पर में साहचर्य की अपेक्षा न रखने पर मिथ्या-
- 25 भूत हुये एकत्व, अनेकत्व आवि धर्मों का साहचर्यरूप समूह, भी

जो कि अनेकान्त है, मिथ्या ही है। तात्पर्य यह कि परस्पर निरपेक्ष एकत्वादिक एकान्त जब मिथ्या हैं तब उनका समूहरूप अनेकान्त भी मिथ्या ही कहलायेगा, वह सम्यक् कैसे हो सकता है ?

समाधान—वह हमे इष्ट है। जिस प्रकार परस्पर के उपकार्य- 5
उपकारकभाव के बिना स्वतन्त्र होने से और एक दूसरे की अपेक्षा न करने पर वस्त्ररूप अवस्था से रहित तन्तुओं का समूह शीतनिवारण (ठण्ड को दूर करना) आदि कार्य नहीं कर सकता है उसी प्रकार एक दूसरे की अपेक्षा न करने पर एकत्वादिक धर्म भी यथार्थ ज्ञान कराने आदि अर्थक्रिया में समर्थ नहीं हैं, इसलिए उन पर- 10
स्पर निरपेक्ष एकत्वादि धर्मों में कथंचित् मिथ्यापन भी सम्भव है। आप्तमीमांसा में स्वामी समन्तभद्राचार्य ने भी कहा है कि ‘मिथ्याभूत एकान्तों का समूह यदि मिथ्या है तो वह मिथ्या एकान्तता—परस्पर निरपेक्षता हमारे (स्याद्वादियों के) यहाँ नहीं है; क्योंकि जो नय निरपेक्ष हैं वे मिथ्या हैं—सम्यक् नहीं हैं और 15
जो सापेक्ष हैं—एक दूसरे की अपेक्षा सहित हैं वे वस्तु हैं—सम्यक् नय हैं और वे ही अर्थक्रियाकारी हैं।’ तात्पर्य यह हुआ कि निरपेक्ष नयों के समूह को मिथ्या मानना तो हमे भी इष्ट है, पर स्याद्वादियों ने निरपेक्ष नयों के समूह को अनेकान्त नहीं माना किन्तु सापेक्ष नयों के समूह को अनेकान्त माना है, क्योंकि वस्तु प्रत्यक्षादि 20
प्रमाणों से अनेक धर्मात्मक ही प्रतीत होती है, एक धर्मात्मक नहीं।

अतः यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ कि ‘नय और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि होती है—पदार्थों का यथावत् निर्णय होता है।’ इस प्रकार आगम प्रमाण समाप्त हुआ।

ग्रन्थकार का श्रान्तिम निवेदन—

मेरे कृपालु गुरुवर्य श्रीमान् वर्द्धमान भट्टारक के श्रीचरणों के प्रसाद से यह न्याय-दीपिका पूर्ण हुई ।

- इस प्रकार श्रीमान् आचार्य वर्द्धमान भट्टारक गुरुकी कृपा-
 5 से सरस्वती के प्रकर्ष को प्राप्त श्रीश्रमिन्व धर्मभूषणा-
 चार्य-विरचित न्यायदीपिका में परोक्षप्रमाण का
 प्रकाश करने वाला तीसरा प्रकाश पूर्ण हुआ ।
 न्यायदीपिका समाप्त हुई ।



परिशिष्ट

—० * ०—

१. न्यायदोषिका मे आये हुए अवतरण-वाक्यो की सूची—

अवतरण वाक्य	पृष्ठ	अवतरण-वाक्य	पृष्ठ
अक्ष नाम चक्षुरादिक-	३७	गुणपर्ययवद्द्रव्यम्	१२२
अक्षेभ्य परावृत्त परोक्षम्	३६	ज्ञानोत्पादकहेत्वनतिरिक्त-	१५
अदृष्टादय कस्यचित्-	४४	तत्रात्मभूतमग्नेरौष्ण्य-	६
अनविगततथाभूतार्थ-	१८	तन्मे प्रमाण शिव	२०
अनुभूति प्रमाणम्	१६	तात्पर्यमेव वचसि	११२
अनेकार्थनिश्चिता-	३१	त्वन्मतामृतवाह्याना	४६
अनेकान्तोऽप्यनेकान्त	१२८	दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्	१४
अन्यथानुपपत्त्येक-	६६	द्विविध सम्यग्ज्ञानम्	१८
अन्यथानुपपत्त्येक-	७१	न याति न च तत्रास्ते	११६
अन्यथानुपपन्नत्व	६४	नयान्तरविषयसापेक्ष	१२६
अन्यथानुपपन्नत्व	६५	नयो ज्ञातुरभिप्राय	१२५
अविसर्वादिज्ञान प्रमाणम्	१८	न शास्त्रमसद्द्रव्येषु	१२४
असिद्धादिदोषपञ्चक-	६०	नार्थालोकौ कारणम्	२६
अ द्वे परोक्षम्	२४, ३८	निर्मलप्रतिभासत्वमेव	२४
इदमेव हि प्रमाणस्य	११	निराकार दर्शन साकार ज्ञानम्	१४
इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त	३४	निरुपाधिक सम्बन्धो व्याप्तिः	११०
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्	१२२	परस्परव्यतिकरे सति	६
एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्	८०	परोपदेशसापेक्ष	४२
करणाधारे चानट्	११	परोपदेशाभावेऽपि	७५
कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्षम्	२५	प्रपिज्ञाहेतूदाहरणो-	७७

अवतरण-वाक्य	पृष्ठ	अवतरण-वाक्य	पृष्ठ
प्रत्यक्षमन्यत्	३८	सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रणि	११३
प्रत्यक्षलक्षण प्राहुः.	२४	सर्वद्रव्यपययिषु केवलस्य	३६
प्रमाकरण प्रमाणम्	२०	सशयो हि निर्णयविरोधी	३२
प्रमाणनयैरधिगम	४	साधकतम करणम्	१३
प्रमाणादिष्टससिद्धि-	१७	साधनात्साध्यविज्ञान-	६७
प्रयोगपरिपाटी तु	८२	साधनाव्यापकत्वे सति	११०
प्रसिद्धो धर्मी	७३	साधनाश्रययोरन्यतरत्वे	२१
भावैकान्ते	५०	साध्यसन्देहोपनोदार्थ	८१
मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न	१३०	साध्यसाधनसम्बन्धा-	६२
यदा भावसाधन	१६	साध्य शक्यमभिप्रेत-	७०
लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्	६६	साध्याविनाभावित्वेन	६१
विकल्पसिद्धे तस्मिन्	७४	सामान्यविशेषात्मा तदर्थ. ५२, १२०	
विस्मरणसशय-	५४	सूक्ष्मान्तरितद्वारार्था	४१
स त्वमेवाऽसि निर्दोषो	४७	स्यात्कार. सत्यलाञ्छन	५०
सत्य भिदा तत्त्व भिदा	१२६	स्वावरणक्षयोपशम-	२७
सत्त्व द्रव्यम्	१२२	हेतुलक्षणरहिता.	८८

२. न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थों की सूची—

ग्रन्थनाम	पृष्ठ	ग्रन्थनाम	पृष्ठ
आप्त-मीमांसा	४१, ५०, १३०	तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकभाष्य	३५
आप्तमीमांसाविवरण	११५	तत्त्वार्थसूत्र	४
कारुण्यकलिका	१११	न्यायविन्दु	१८
जैनेन्द्र	१३	न्यायविनिश्चय	२४, ७०
तत्त्वार्थराजवार्त्तिकभाष्य	३५	पञ्च-परीक्षा	८१
तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक	६७	परोक्षा-मुख	२६, ३३ ६६

ग्रन्थनाम	पृष्ठ	ग्रन्थनाम	पृष्ठ
प्रमाण-निर्णय	११	महाभाष्य	४१
प्रमाण-परीक्षा	१७	राजवार्त्तिक	३१
प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड	३०, ५४	श्लोकवार्त्तिक	७१
भाष्य (तत्त्वार्थराजवार्त्तिक भाष्य)	६, ३२	श्लोकवार्त्तिकभाष्य	६२

३. न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थकारों की सूची—

ग्रन्थकारनाम	पृष्ठ	ग्रन्थकारनाम	पृष्ठ
अकलङ्क	१२२	शालिकानाथ	१६
अकलङ्कदेव	२४, ७०	श्रीमदाचार्यपाद	११५
उदयन	२१	समन्तभद्रस्वामि	१२८
कुमारनन्दिभट्टारक	६६, ८२	स्याद्वादविद्यापति	२४, ७०
दिग्नाग	११६	स्वामी	४१, ४७
माणिक्यनन्दिभट्टारक	१२०	स्वामिसमन्तभद्राचार्य	८०, १२४,
वार्त्तिककारपाद	६		१३०
वामन	१२४		

४ न्यायदीपिका में आये हुये न्यायवाक्य—

न्यायवाक्य	पृष्ठ	न्यायवाक्य	पृष्ठ
'उद्देशानुसारेण लक्षणकथनम्'	८	'सहस्रशतन्याय'	६४
'सर्वं वाक्य सावधारणम्'	१२५		

५ न्यायदीपिकागत विशेष नामो तथा शब्दो की सूची—

नाम शब्द	पृष्ठ	नाम शब्द	पृष्ठ
अभियुक्त	७३, ११३	प्रामाणिक	६८
अर्हन् ४०, ४१, ४४ ४५, ४६		प्रामाणिकपद्धति	६१
	५०, १०२	वालिश	२१
अर्हत्परमेष्ठी	४५	वाह्य	४४
आगम ४६, ११२, ११२, १२६, १३१		बुध	६८
आगमाभास	१२६	बौद्ध	१८, ६५, ८४,
आचार्य	१०३		६२, ६४, १२८
आचार्यानुगामन	१२२	भाट्ट	१६
आप्त ४६, ११२, ११३		महाशास्त्र	४
आर्हत २२, ८३		मीमांसक	१५
आर्हतमत	१३	मेरु	४१
औदीच्य ३२		योग १७, ३१, ६२, ६५	
कपिल ४०, ४६		योगाग्रसर	२१
तन्त्रान्तर ११५		राम	४१
तायागत २५, ८३		वर्द्धमान	१, १३२
दाक्षिणात्य ३२		शास्त्र	५, १२४
नैयायिक २०, ६६, ७७, ७६,		श्रुतकेवलि	११३
८४, ८८, ११४		सिद्ध, सिद्धपरमेष्ठी	११४
नैयायिकमत ६०		सिद्धान्त	१३१
परमहितोपदेशक ११३		सुगत	११५
प्रवचन १४		सौगत १८, २६, ३१	
प्राभाकर १६		सग्रहग्रन्थ	३१

६. न्यायदीपिका-गत दार्शनिक एवं लाक्षणिक शब्दों की सूची

शब्द नाम	पृष्ठ	शब्द नाम	पृष्ठ
अकिञ्चित्कर	१०२	अर्थपर्याय	१२०
अतिव्याप्त	७	अलक्ष्य	७
अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष	४०	अवग्रह	३१
अनव्यवसाय	६	अवाय	३२
अनभ्यस्त	१६	अवधिज्ञान	३४
अनात्मभूत	६	अविनाभाव	६२, १०४
अनिन्द्रिय	३३	अविशदप्रतिभासत्व	५१
अनिन्द्रियप्रत्यक्ष	३३	अवैशद्य	५१
अनुभव	५७	अव्याप्त	७
अनुमान	६५	असत्प्रतिपक्षत्व	८५
अनेकान्त	११७	असम्भवि	७
अनेकान्तात्मकत्व	६८	असिद्ध	८६, १००
अनैकान्तिक	८६, १०१	आगम	११२
अन्तरित	४१	आत्मभूत	६
अन्यथानुपपत्ति	६६	आप्त	११३
अन्वयदृष्टान्त	७८	इन्द्रिय	३३
अन्वयव्यतिरेकी	८६	इन्द्रियप्रत्यक्ष	३३
अवाधितविषयत्व	८५	ईहा	३२
अप्रसिद्ध	६६	उदाहरण	१०४
अभिप्रेत	६६	उदाहरणाभास	१०५
अभ्यस्त	१६	उद्देश	५
अमुख्य प्रत्यक्ष	३४	उपनय	७८, १११
अर्थ	११६	उपनयाभास	११२

७ 'असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्'

ननु असाधारणधर्मवचन लक्षण कथं न समीचीनमिति चेत्, उच्यते, तदेव हि सम्यक् लक्षणं यदव्याप्त्यादिदोषत्रयशून्यम् । न चात्र लक्षणेऽव्याप्त्यादिदोषत्रयाभावः । तथा हि—अशेषैरपि वादिभिर्दण्डी, कुण्डली, वासस्वी देवदत्त इत्यादौ दण्डादिक देवदत्तस्य लक्षणमुररीक्रियते । परं दण्डादेरसाधारणधर्मत्वं नास्ति, तस्य पृथग्भूतत्वेनापृथग्भूतत्वासम्भवात् । अपृथग्भूतस्य चासाधारणधर्मत्वमिति तवाभिप्रायः । तथा च लक्ष्यैकदेशेऽज्ञातमभूतलक्षणे दण्डादौ असाधारणधर्मत्वस्याभावादव्याप्तिरित्येव तात्पर्यमाश्रित्योक्तं ग्रन्थकृता “दण्डादेरतद्धर्मस्यापि लक्षणत्वादिति” ।

किञ्चाव्याप्ताभिधानस्य लक्षणाभासस्यापि शावलेयत्वादेरसाधारणधर्मत्वादितिव्याप्तिः । गोः शावलेयत्वम्, जीवस्य भव्यत्वम्, मतिज्ञानित्वम् वा न गवादीनां लक्षणमिति सुप्रतीतम्, शावलेयत्वस्य सर्वत्र गोष्ववृत्तेः । भव्यत्वस्य मतिज्ञानित्वस्य वा सर्वजीवेष्ववृत्तमानत्वादव्याप्तेः । परन्तु शावलेयत्वस्य भव्यत्वादेर्वाऽसाधारणधर्मत्वमस्ति । यतो हि तेषां गवादिभ्यो भिन्नेष्ववृत्तित्वात् । तदितरावृत्तित्वं ह्यसाधारणत्वमिति । ततः शावलेयत्वादावव्याप्ताभिधाने लक्षणाभासे असाधारणधर्मस्यातिव्याप्तिरिति बोध्यम् ।

अपि च लक्ष्यधर्मवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभावः प्रसङ्गात् । तथा हि—सामानाधिकरण्यं द्विविधम्—शाब्दमार्थं च । ययोर्द्वयोरेकत्र वृत्तिस्तयोराथं सामानाधिकरण्यम्, यथा रूप-रसयोः । ययोर्द्वयोः शब्दयोश्चैकं प्रतिपाद्योऽर्थस्तयोः शाब्दसामानाधिकरण्यम्, यथा घट-कलशशब्दयोः । सर्वत्र हि लक्ष्य-लक्षणभावस्थले लक्ष्यवचनलक्षणवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यं भवति, ताभ्यां प्रतिपाद्यस्यार्थस्यैकत्वात् । यथा उष्णोऽग्निः, ज्ञानी जीवः, सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्, इत्यादौ उष्णः, ज्ञानी, सम्यग्ज्ञानम्, एतानि लक्षणवचनानि । अग्निः, जीवः, प्रमाणम्, एतानि च लक्ष्यवचनानि । अत्र लक्षणवचनप्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्ष्यवचन-

प्रतिपाद्यो न भिन्नोऽर्थस्तत्प्रतिपाद्य । एव लक्ष्यवचनप्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्षणवचनप्रतिपाद्यो न भिन्नः, यतो हि उष्ण इत्युक्ते अग्निरित्युक्तं भवति, अग्निरित्युक्ते उष्ण इत्युक्तं भवति, इत्यादि बोध्यम् । ततश्चेदसिद्धं यत्र कुत्रापि लक्ष्यलक्षणभावः क्रियेत तत्र सर्वत्रापि लक्षणवचनलक्ष्यवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यम् । इत्थं च प्रकृते असाधारणधर्मस्य लक्षणत्वस्वीकारे लक्षणवचनधर्मवचनं लक्ष्यवचनं च धर्मिवचनं स्यात् । न च लक्षणवचनरूपधर्मवचन-लक्ष्यवचनरूपधर्मिवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यमस्ति, ताभ्यां प्रतिपाद्यार्थस्य भिन्नत्वात् । धर्मवचनप्रतिपाद्यो हि धर्मः, धर्मिवचनप्रतिपाद्यश्च धर्मी, तौ च परस्परं सर्वथा भिन्नी । तथा चासाधारणधर्मस्य लक्षणत्वे न कुत्रापि लक्ष्यलक्षणभावस्थले लक्ष्यवचन-लक्षणवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यं सम्भवति, ततश्च शाब्दसामानाधिकरण्याभावप्रयुक्तासम्भवदोषः समापतत्येव । तस्मान्न साधारणासाधारणधर्ममुखेन लक्षणकरणं यौक्तिकम्, अपि तु परस्परव्यतिकरे येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणमित्यकलङ्कम् ।

८ न्यायदीपिकायाः तुलनात्मकटिप्पणानि

पृ० ५ प० ५ 'उद्देश-लक्षणनिर्देश-परीक्षाद्वारेण' । तुलना—'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति । तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रास्याभिधानमुद्देशः । तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा'—न्यायभा० १-१-२ ।

'नामधेयेन पदार्थानामभिधानमुद्देशः । उद्दिष्टस्य स्वपरजातीय-व्यावर्तको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथालक्षणं विचारं परीक्षा'—कन्दली पृ० ३६ ।

'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षेति । नामधेयेन पदार्थाभिधानमुद्देशः, उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्, लक्षितस्य तल्लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारं परीक्षा'—न्यायमं० पृ० ११ ।

शब्द नाम	पृष्ठ	शब्द नाम	पृष्ठ
उभयसिद्धधर्मी	७४	न्याय	५
ऊह	६३	पक्ष	७२, ८३
ऋजुसूत्रनय	१२८	पक्षवर्मत्व	८३
एकत्वप्रत्यभिज्ञान	५६	पर्यायार्थिक	१२६
करण	१३	परत	१६
कालात्ययापदिष्ट	८७	परमपर्यायार्थिक	१२८
केवलज्ञान	३६	परार्थानुमान	७५
केवलव्यतिरेकी	६०	परीक्षा	८
केवलान्वयी	८६	परोक्ष	५१
क्रमभावनियम	६२	पारमार्थिक	३४
गुण	१२१	प्रकरणसम	८७
तर्क	६२	प्रतिज्ञा	७६, ७८
द्वारार्थ	४१	प्रत्यक्ष	२३
व्य	१२२	प्रत्यभिज्ञान	५६
द्रव्यार्थिक	१२५	प्रमाण	६
दृष्टान्त	१०४	प्रमाणसिद्धधर्मी	७३
धर्मी	७३	प्रमिति	१२
धारणा	३२	प्रामाण्य	१४
धारावाहिक	१३	मन पर्यज्ञान	३४
नय	१२५	मुख्यप्रत्यक्ष	३४
निगमन	७६, १११	युक्ति	४७
निगमनाभास	११२	योग्यता	२७
निर्दोषत्व	४५	लक्ष्य	७
निर्विकल्मष	१४, २५	वस्तु	५१
नैर्मल्य	२४	लक्षण	५

शब्द नाम	पृष्ठ	शब्द नाम	पृष्ठ
वाद	८०	सन्दिग्धासिद्ध	१००
विकल	३४	सन्निकर्ष	२६, ३०
विकल्पसिद्धधर्मी	७३	सपक्ष	८३
विपक्ष	८३	सपक्षसत्त्व	८३
विजिगीषुकथा	७६	सप्तभङ्गी	१२७
विपक्षव्यावृत्ति	८३	समारोप	५४
विपर्यय	६	सविकल्पक	२५
विरुद्ध	८, १०१	सहभावनियम	६२
विशदप्रतिभासत्व	२४	सशय	६
विशेष	१२०	सादृश्यप्रत्यभिज्ञान	५६
वीतरागकथा	७६	साधन	६६
वैशद्य	२४	साध्य	६६
वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान	५३	साध्याभास	८०
व्यञ्जनपर्याय	१२०	साव्यवहारिक	३१
व्यतिरेकदृष्टान्त	७८	सूक्ष्मार्थ	४१
व्यतिरेकव्याप्ति	७८	सामान्य	११७
व्यापक	१०६	स्पष्टत्व	२४
व्याप्ति	६२, ६३, १०४	स्मृति	५६
व्याप्तिसम्प्रतिपत्ति	१०४	स्वत	१६
व्याप्य	१०६	स्वरूपासिद्ध	१००
शक्य	६६	स्वार्थानुमान	७१
सकलप्रत्यक्ष	३६	हेतु	७६, ७८, ६०
सत्	१२२	हेत्वाभास	६६

‘त्रिधा हि शास्त्राणां प्रवृत्तिः—उद्देशः, लक्षणम्, परीक्षा चेति । तत्र नाममात्रेणार्थानामभिधानमुद्देशः । उद्दिष्टस्य स्वरूपव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम् । उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च ‘यथावल्लक्षणमुपपद्यते न वा’ इति प्रमाणतोऽर्थावधारण परीक्षा’—न्यायकुमुद० पृ० २१ ।

‘त्रयी हि शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा च । तत्र नाम-
वेयमात्रकीर्तनमुद्देशः ... । उद्दिष्टस्याप्तावारणधर्मवचनं लक्षणम् । ...
लक्षितस्य इदमित्य भवति नेत्य इति न्यायतः परीक्षणं परीक्षा’—प्रमाण-
मी० पृ० २ ।

‘तदेतद्व्युत्पाद्यद्वयं प्रति प्रमाणस्योद्देशलक्षणपरीक्षा प्रतिपाद्यन्ते,
शास्त्रप्रवृत्तेस्त्रिविधत्वात् । तत्रार्थस्य नाममात्रकथनमुद्देशः, उद्दिष्टस्या-
प्तावारणस्वरूपनिरूपणं लक्षणम् । प्रमाणवलात्तल्लक्षणविप्रतिपत्तिपक्ष-
निरासः परीक्षा’—लघीय० तात्पर्य० पृ० ६ ।

‘नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनमुद्देशः । यथा ‘द्रव्यम्’ ‘गुणाः’ इति ।
अनाधारणधर्मो लक्षणम् । यथा गन्धत्वं पृथिव्याः । लक्षितस्य लक्षणं
सम्भवति न चेति विचारः परीक्षा’—तर्कसंग्रहपदकृत्य पृ० ५ ।

पृ० ६ पं० १ ‘परस्परव्यतिकरे’ । तुलना—‘परस्परव्यतिकरे सति
येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम् । हेम-श्यामिकयोर्वर्णादिविशेषवत्’—
तत्त्वार्थश्लोक पृ० ३१८ ।

पृ० ६ पं० ४ ‘द्विविधं’ । तुलना—‘तद्द्विविधम्, आत्मभूतमनात्म-
भूतविकल्पात् । तत्रात्मभूतं लक्षणमग्नेरुष्णगुणवत् । अनात्मभूतं देवदत्तस्य
दण्डवत्’—तत्त्वार्थश्लोक पृ० ३१८ ।

पृ० ६ पं० २ ‘सम्यग्ज्ञानं’ । तुलना—‘सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वा-
न्यथानुपपत्ते’—प्रमाणपरीक्षा पृ० १, प्रमाणनि० पृ० १ ।

पृ० ६ पं० ६ ‘सशयः’ । तुलना—‘सशयस्तावत् प्रसिद्धानेकविशेषयो-
सादृश्यमात्रदर्शनादुभयविशेषानुस्मरणादधर्माच्च किंस्विदिति उभयाव-
लम्बी विमर्शः सशयः’—प्रशस्तपादभा० पृ० ८५, ८६ ।

‘नानार्थविमर्शः सशयः’—न्यायम० पृ० ७ । ‘अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शी प्रत्ययः सशयः । अनुभयस्वभावे वस्तुनि उभयान्तपरिमर्शनशील ज्ञान सर्वात्मना शेत् इवात्मा यस्मिन् सति स सशयः, यथा अन्वकारे दूरा-दूर्ध्वाकारवस्तूपलम्भात् साधक-बाधकप्रमाणाभावे सति ‘स्थाणुर्वा पुरुषो वा’ इति प्रत्ययः ।’ प्रमाणमी० पृ० ५ ।

पृ० ६ प० ७ ‘स्थाणुपुरुष’ । तुलना—स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वतामात्रसा-दृश्यदर्शनात् वक्रादिविशेषानुपलब्धत्वात् स्थाणुत्वादिसामान्यविशेषानभिव्य-क्तावुभयविशेषानुस्मरणादुभयत्राकृष्यमाणस्यात्मनः प्रत्ययो दोलायते ‘किं-नु खल्वयः स्थाणुः स्यात्पुरुषो वा इति’—प्रशस्तपा० भा० पृ० ८६, ८७ ।

पृ० ६ प० ९ ‘विपरीतैक’ । तुलना—‘अतस्मिस्तदेवेति विपर्ययः, यथा गव्येवाश्वः ।—प्रशस्तपा० भा० पृ० ८८ । ‘अतस्मिस्तदेवेति विपर्ययः । यत् ज्ञाने प्रतिभासते तद्रूपरहिते वस्तुनि ‘तदेव’ इति प्रत्ययो विपर्ययरूप-त्वाद्विपर्ययः, यथा वातुवैषम्यान्मधुरादिषु द्रव्येषु तिक्तादिप्रत्ययः, तिमिरा-दिदोषात् एकस्मिन्नपि चन्द्रे द्विचन्द्रादिप्रत्ययः । नौयानात् अगच्छत्स्वपि गच्छत्प्रत्ययः, आशुभ्रमणादलातादावचक्रेऽपि चक्रप्रत्ययः इति’—प्रमाणमी० पृ० ५ ।

पृ० ६ प० ११ ‘किमित्या’ । तुलना—‘किमित्यालोचनमात्रमनध्यव-सायः, प्रशस्तपा० भा० पृ० ९० । ‘विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः । दूरान्ध-कारादिवशादसाधारणधर्माविमर्शरहितः प्रत्ययः अनिश्चयात्मकत्वादनध्यव-सायः, यथा ‘किमेतत्’ इति—प्रमाणमी० पृ० ५ ।

पृ० ११ प० १० ‘नन्वेव’ । तुलना—‘ननु च तत्क्रियायामस्त्येवाचेत-नस्यापीन्द्रियलिङ्गादेः करणत्वम्, चक्षुषा प्रमीयते, घूमादिना प्रमीयते इति । तत्रापि प्रमितिक्रियाकरणत्वस्य प्रसिद्धेरिति’—प्रमाणनि० पृ० १ ‘लोकस्ता-वद्दीपेन मया दृष्टः चक्षुषाऽवगतः घूमेन प्रतिपन्नः शब्दान्निश्चितमिति व्यवहरति ।’—न्यायवि० वि० १-२, पृ० ५७ ।

पृ० १२ प० १३ 'पुनरुपचार' । तुलना—अचेतनस्य त्विन्द्रिय-
लिङ्गादेस्तत्र करणत्वं गवाक्षादेरिवोपचारादेव । उपचारश्च तद्व्यवच्छित्ती
नम्यग्नानन्येन्द्रियादिसहायतया प्रवृत्ते'—प्रमाणनि० पृ० २ ।

पृ० १६ पं० ७ 'अन्यस्ते' । तुलना—'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च'—
परीक्षामु० १-१३ । 'स्वयमभ्यस्तविषये प्रमाणस्य स्वतः प्रामाण्य-
सिद्धेः', सकलविप्रतिपत्तीनामपि प्रतिपत्तुरभावात्, अन्यथा तस्य प्रमेये
निस्त्यशयः प्रवृत्त्ययोगात् । तथाऽनभ्यस्तविषये परतः प्रमाणस्य प्रामाण्य-
निश्चयात् । तन्निश्चयनिमित्तस्य च प्रमाणान्तरस्याभ्यस्तविषये स्वतः प्रमा-
णत्वसिद्धेरनवस्थापरस्परश्रयणयोरनवकाशात् । 'प्रमाणप० पृ० ६३ ।

पृ० १६ प० १ 'प्रमाणत्वेनाभिमतेषु' । तुलना—'व्याप्रियमाणे हि
पूर्वविज्ञानकारणकलापे उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा
धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरेत इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमा-
णता ।' प्रकरणप० पृ० ४३, वृहती पृ० १०३ ।

पृ० १६ प० ३ 'उत्तरोत्तरक्षण' । तुलना—'न च तत्तत्कालकलावि-
शिष्टतया तत्राप्यनधिगतार्थत्वमुपपादनीयम्, क्षणोपाधीनामनाकलनात् । न
चाज्ञातेष्वपि विशेषणेषु तज्जनितविशिष्टता प्रकाशते इति कल्पनीयम्, स्व-
रूपेण तज्जननेऽनागतादिविशिष्टतानुभवविरोधात् ।'—न्यायकुसु० ४-१,
पृ २ । 'न च कालभेदेनानधिगतगोचरत्वं धारावाहिकज्ञानानामिति युक्तम् ।
परमसूक्ष्माणां कालकलादिभेदानां पिणितलोचनैरस्मादृशैरनोकलनात् ।'—
न्यायवार्तिकतात्पर्य० पृ० २१ । 'धारावाहिकेष्वपि उत्तरोत्तरेषां काला-
न्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम् । सन्नपि कालभेदोऽति-
सूक्ष्मत्वान्न परामर्श्यत इति'—शास्त्रदी० पृ० १२४ । (अत्र पूर्वपक्षेणो-
ल्लेखः) । 'धारावाहिकज्ञानानामुत्तरेषां पुरस्तात्तनप्रतीतिार्थविषयतया
प्रामाण्यापाकरणात् । न च कालभेदावसायितया प्रामाण्योपपत्तिः । सतोऽपि
कालभेदस्यातिसौक्ष्म्यादनवग्रहणात् ।'—प्रकरणप० पृ० ४० ।

पृ० २० प० ५ 'न तु करण' । तुलना — 'न तत् (ईश्वरज्ञान) प्रमा-
करणमिति त्विष्यत एव, प्रमया सम्बन्धाभावात् । तदाश्रयस्य तु प्रमा-
तृत्वमेतदेव यत् तत्प्रमवाय ।'—न्यायकुमु० ४-५, पृ २५ ।

पृ० २३ प० ३ 'विशदप्रतिभास' । तुलना—'प्रत्यक्ष विशद ज्ञान .'—
लघीय० का० ३, प्रमाणस० का० २, परीक्षामु० २-१, तत्त्वार्थश्लो०
पृ० १८१ । 'विशदज्ञानात्मक प्रत्यक्ष प्रत्यक्षत्वात्, यत्तु न विशदज्ञाना-
त्मक तन्न प्रत्यक्षम्, यथाऽनुमानादिज्ञानम्, प्रत्यक्ष च विवादाध्यासितम्,
तस्माद्विशदज्ञानात्मकम् ।'—प्रमाणप० पृ० ६७ । प्रमेयक० २-३ । 'तत्र
यत्स्पष्टावभास तत्प्रत्यक्षम् ।'—न्यायवि० वि० लि० प० ५३S । प्रमाण-
नि० पृ० १४ । 'विशद प्रत्यक्षम्'—प्रमाणमी० पृ० ६ ।

पृ० २४ प० ५ 'वैशद्य' । तुलना—'प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेष-
वत्तया वा प्रतिभासन वैशद्यम् ।'—परीक्षामु० २-४ । 'अनुमानाधिक्येन
विशेषप्रकाशन स्पष्टत्वम्'—प्रमाणनयत० २-३ । जैनतर्कभा० पृ० २ ।
प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्त्या प्रतिभासो वा वैशद्यम् ।'—प्रमाणमी० पृ० १० ।

पृ० २६ प० ४ 'अन्वयव्यतिरेक' । तुलना—'तदन्वयव्यतिरेकानु-
विधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च'—परीक्षामु० २-७ ।

पृ० २७ प० ३ 'घटाद्यजन्यस्यापि' । तुलना—अनज्जन्यमपि तत्प्र-
काशक प्रदीपवत्—परीक्षामु० २-८ । 'न खलु प्रकाशयो घटादि स्वप्रकाशक
प्रदीप जनयति, स्वकारणकलापादेवास्योत्पत्ते'—प्रमेयक० २-६ ।

पृ० २९ प० ६ 'चक्षुषो विषयप्राप्ति' । तुलना—'स्पर्शनेन्द्रियादि-
वच्चक्षुषोऽपि विषयप्राप्यकारित्व प्रमाणात्प्रसाध्यते । तथा हि—प्राप्तार्थ-
प्रकाशक चक्षु वाह्येन्द्रियत्वात्स्पर्शनेन्द्रियादिवत् ।'—प्रमेयक० २-४ ।
'अस्त्येव चक्षुषस्तद्विषयेण सन्निकर्ष, प्रत्यक्षस्य तत्रासत्त्वेऽपि अनुमानत-
स्तदवगमात् । तच्चेदमनुमानम्, चक्षु सन्निकृष्टमर्थं प्रकाशयति वाह्ये-
न्द्रियत्वात्त्वगादिवत्'—प्रमाणनि० पृ० १८ । न्यायकुमु० पृ० ७५ ।

पृ० ३० प० ३ 'चक्षुरित्यत्र' । तुलना—'चक्षुश्चात्र धर्मिरेनोपात्तं गोलकत्वभाव रश्मिस्त्व वा ? तत्राद्यविकल्पे प्रत्यक्षवाया, अर्थदंगपरिहारेण शरीरप्रदेशे एवास्योपलम्भात्, अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपदमद्रदेग-स्योपलम्भ स्यात् । अथ रश्मिस्त्व चक्षु, तर्हि धर्मिणोऽस्मिद्धि । न खलु रश्मयः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते, अर्थवत्तत्र तत्त्वस्वप्नाप्रतिभामनात् ।' प्रमेयक० २-४ । 'अत्र न तावद्गोलकमेव चक्षुस्तद्विषयग्निकर्षप्रतिज्ञा-नस्य प्रत्यक्षेण बाधनात्तेन तत्र तदभावस्यैव प्रतिपत्तेर्हेतोश्च तद्वाचितकर्म-निर्देशानन्तरं प्रयुक्ततया कालात्ययापदिष्टतोपनिपातान् ।...रश्मिपरि-करितमिति चेन्न, तस्याद्याप्यसिद्धत्वेन रूपादीनमित्यादिहेतोराश्रयासिद्ध-दोषात् ।'—प्रमाणनि० पृ० १८

पृ० ३१ प० ६ 'तत्प्रत्यक्षं द्विविधं' तुलना—'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसव्यवहारतः'—तद्योय० का० २ । 'तच्चोक्तप्रकारं प्रत्यक्षं मुख्यगा-व्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारेण द्विप्रकारम्'—प्रमेयक० पृ० २२६ । तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं सांव्यवहारिकं मुख्यं चेति'—प्रमाणनि० पृ० २३ ।

पृ० ३२ प० १ अवग्रह' । तुलना—'विषयविषयिसन्निपातानन्तर-माद्यग्रहणमवग्रह'—तद्योय० त्वो० का० ५ । 'तत्राव्यक्तं यथास्वमि-न्द्रियं विषयाणामालोचनावधारणमवग्रह'—तत्त्वार्थाधि० भा० १-१५ । 'विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रह । विषयविषयिसन्नि-पाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रह ।'—सर्वार्थसिद्धि १-१५ । तत्त्वार्थवा० १-१५ । धवला पु० १, पृ० ३५४ । प्रमाणप० पृ० ६८ । प्रमाणमी० पृ० १-१-२६ ।

पृ० ३२ प० ३ 'ईहा' । तुलना—विशेषाकाक्षा ईहा—तद्योय० का० ५ । 'अवग्रहीतेऽर्थे विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा ।'—तत्त्वार्थाधि० भा० १-१५ । अवग्रहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षण-मीहा'—सर्वार्थसि० १-१५ । तत्त्वार्थवा० १-१५ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२० । प्रमाणप० पृ० ६८ प्रमाणमी० १-१ २७ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।

पृ० ३२ प० ६ 'अवाय' । तुलना—'अवायो विनिश्चय'—लघीय० का० ५ । 'विशेषनिज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवाय ।'—सर्वार्थसि० १-१५ । तत्त्वार्थवा० १-१५ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२० । प्रमाणप० पृ० ६८ । प्रमाणमी० १-१-२८ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।

पृ० ३३ प० १ 'धारणा' । 'धारणा स्मृतिहेतु'—लघीय० का० ६ । धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्व मत्यवस्थानमवधारण च धारणाप्रतिपत्ति. अवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगम अवबोध इत्यनर्थान्तरम् ।'—तत्त्वार्थाधि० भा० १-१५ । 'अथैतस्य कालान्तरे विस्मरणकारण धारणा'—सर्वार्थसि० १-१५ । तत्त्वार्थवा० १-१५ प्रमाणप० पृ० ६८ । प्रमाणमी० १-१-२६ । जैनतर्कभा० पृ० ५ । 'महोदये च कालान्तरविस्मरणकारण हि धारणाभिधानं ज्ञानम्...' । अनन्तवीर्योऽपि तथानिर्णीतस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतु सस्कारो धारणा इति—स्या० रत्ना० पृ० ३४६ ।

पृ० ३८ प० ६ 'कथ पुनरेतेषा' । तुलना—'कथ पुनरनक्षाश्रितस्य ज्ञानस्याय प्रत्यक्षव्यपदेश इति चेन्न, अक्षाश्रितत्व प्रत्यक्षाभिधानस्य व्युत्पत्तिनिमित्त गतिक्रियेव गोशब्दस्य । प्रवृत्तिनिमित्त त्वेकार्थसमवायिनाऽक्षाश्रितत्वेनोपलक्षितमर्थसाक्षात्कारित्व गतिक्रियोपलक्षितगोत्ववत् गोशब्दस्य अन्यद्वि शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्त अन्यद्वाच्यम् । अन्यथा गच्छन्त्यव गौगौरित्युच्येत नान्या व्युत्पत्तिनिमित्ताभावात् । ...तथेहकेवलज्ञाने व्युत्पत्तिनिमित्तस्याक्षाश्रितत्वस्याभावेऽपि... प्रवृत्तिनिमित्तस्यार्थसाक्षात्कारित्वस्य भावात् प्रत्यक्षाभिधानप्रवृत्तिरविरुद्धा ।'—लघुसर्वज्ञ० पृ० ११६ । न्यायकु० पृ० २६ ।

पृ० ३९ प० १ 'अक्ष्णोति' तुलना—'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तमेव प्राप्तक्षयोपशम प्रक्षीणावरण वा प्रतिनियत प्रत्यक्षम् ।' सर्वार्थसि० १-१२ । तत्त्वार्थवा० १-१२ । तत्त्वार्थश्लो० १-१२ । प्रमाणप० पृ० ६८ । न्यायकु० पृ० २६ । 'न क्षीयते इत्यक्षो जीवस्त प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्'—प्रमाल० पृ० ४ ।

पृ० ३६ प० ३ 'विस्मरणशीलत्व' । तुलना—विस्मरणशीलो देवाना-
प्रिय प्रकरण न लक्षयति'—वादन्याय० पृ० ७६ ।

पृ० ३६ प० ५ 'अक्षेम्य. परावृत्त' । तुलना—व्यतीन्द्रियविषयव्यापार
परोक्षम्—सर्वार्थसि० १-१२ ।

पृ० ५१ प० ३ 'परोक्षम्' । तुलना—'ज परदो विष्णाण ततु परोक्ख
त्ति भणिदमत्थेसु'—प्रवचनसा० गा० ५६ । पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशो-
पदेशादि च बाह्यनिमित्त प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मनः
उत्पद्यमान मतिश्रुत परोक्षमित्याहंयायते ।—सर्वार्थसि० १-११ । 'उपात्ता-
नुपात्तपरप्राधान्यादवगम. परोक्षम्'—तत्त्वार्थवा० पृ० ३८ । 'इतरस्य परोक्षता
—लघी० स्त्रो० का० ३ । 'उपात्तानुपात्तप्राधान्यादवगम परोक्षम् । उपा-
त्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि, तत्प्राधान्यादवगम' परो-
क्षम् । यथागति गत्युपेतस्यापि स्वयं गन्तुमसमर्थस्य यष्ट्याद्यवलम्बनप्राधान्य
गमनम् तथा मतिश्रुतावरणक्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मन स्वयमर्थानुप-
लब्धुमसर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधान ज्ञान परायत्तत्वात् परोक्षम् ।—ध्वला पु
६, पृ १४३-४४ । 'पराणिन्द्रियाणि आलोकादिश्च, परेषामायत्त ज्ञान परो
क्षम्'—ध्वला पु १३, पृ. २१२ । 'अक्षाद् आत्मन. परावृत्त परोक्षम्, तत
परैरिन्द्रियादिभिरुच्यते सिञ्च्यते अभिवद्वर्धते इति परोक्षम्' ।—तत्त्वार्थ-
श्लो० पृ० १८२ । 'परोक्षमविशदज्ञानात्मकम्'—प्रमाणप० पृ० ६६ ।
'परोक्षमितरेण—परीक्षामु० ३-१ । परैरिन्द्रियलिङ्गगव्दैरुक्षा मन्वन्वो-
ऽस्येति परोक्षम् ।'—प्रमालक्ष० पृ० ५ । 'भवति परोक्ष सहायसापेक्षम् ।'
पञ्चाव्यायी श्लो० ६६६ । 'अविशद परोक्षम् ।'—प्रमाणमी० पृ० ३३ ।

पृ० ६५ प० १ प्रत्यक्षपृष्ठभावी' । तुलना—'यस्यानुमानमन्तरेण
सामान्यं न प्रतीयते भवतु तस्याय दोषोऽस्माकं तु प्रत्यक्षपृष्ठभाविनाऽपि
विकल्पेन प्रकृतिविभ्रमात् सामान्यं प्रतीयते ।'—हेतुवि० टी० लि० प०
२५ B । 'देशकालव्यक्तिव्याप्त्या च व्याप्तिरुच्यते । यत्र यत्र धूमस्तत्र
तत्र अग्निरिति । प्रत्यक्षपृष्ठश्च विकल्पो न प्रमाण प्रमाणव्यपारानुकारी

त्वंसौ इष्यते ।'—मनोरथन० पृ० ७ । 'प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि तद्विषयमात्राध्यवसायत्वात् सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकत्वाभाव ।' प्रमेय-
क० ३-१३ । 'अथ प्रत्यक्षपृष्ठभावविकल्पात् साकल्येन साध्यसाधनभाव-
प्रतिपत्तेर्न प्रमाणान्तर तदर्थं मृग्यमित्यपर ।'—प्रमेयर० पृ० ३७ । 'ननु
यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्षमविचारक तर्हि तत्पृष्ठभावी विकल्पो व्याप्ति गृही-
प्यतीति चेत्, नैतत्, निर्विकल्पेन व्याप्तेरग्रहणे विकल्पेन गृहीतुमशक्यत्वात्
निर्विकल्पकगृहीतार्थविषयत्वाद्विकल्पस्य ।'—प्रमाणमी० पृ० ३७ । 'प्रत्यक्ष-
पृष्ठभावविकल्परूपत्वान्ताय प्रमाणमिति वीद्वा ।'—जैनतर्कभा० पृ० ११ ।

पृ० ६५ प० २ 'स हि विकल्प' । तुलना—'तद्विकल्पज्ञान प्रमाण-
मन्यथा वेति ? प्रथमपक्षे प्रमाणान्तरमनुमन्तव्यम्, प्रमाणद्वयेऽनन्तर्भावात् ।
उत्तरपक्षे तु न ततोऽनुमानव्यवस्था । न हि व्याप्तिज्ञानम्याप्रामाण्ये तत्पू-
र्वकमनुमान प्रमाणमास्कन्दति सन्दिग्धादिलिङ्गादप्युत्पद्यमानस्य प्रामाण्य
प्रसङ्गात् ।'—प्रमेयर० पृ० ३८ । 'स तर्हि प्रमाणमप्रमाण वा ? प्रमा-
णत्वे प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त प्रमाणान्तर तितिक्षितव्यम् । अप्रामाण्ये तु
ततो व्याप्तिग्रहणश्रद्धा पण्डात्तनयदोहद ।'—प्रमाणमी० पृ० ३७ ।

पृ० १३० प० ५ स्वतन्त्रतया' । तुलना—'ते एते गुणप्रधानतया
परस्परतन्त्रा सम्यग्दर्शनहेतव पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात्तिन्त्वादय इव
यथोपाय विनिवेश्यमाना पटादिसज्ञा स्वतन्त्राश्चासमर्था ।' निरपेक्षेषु
तन्त्वादिषु पटादिकार्यं नास्तीति ।'—सर्वार्थसि० १-३३ । तत्त्वार्थवा० १-३३

'मिथोऽनपेक्षा पुरुषार्थहेतुर्नागा न चाशी पृथगस्ति तेभ्य ।

परस्परेक्षा पुरुषार्थहेतुर्दृष्टा नयास्तद्वदसि क्रियायाम् ।।'

—युक्त्यनुशा० का० ५१ ।

पृ० १३० प० ७ 'मिथ्यात्वस्यापि' । तुलना—एवमेते शब्दसमभिरू-
ढैवभूतनया सापेक्षा सम्यक् परस्परमनपेक्षास्तु मिथ्येति प्रतिपादयति—
इतोऽन्योन्यमपेक्षाया सन्त शब्दादयो नया ।

निरपेक्षा पुनस्ते स्युस्तदाभासाविरोधत ॥'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४ ।

मुद्रक .

रूप-वाणी प्रिंटिंग हाऊस

२३, दरियागज, दिल्ली.
